ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जनवरी १९५० [७] वीर नि० २४७६

उद्देश्य—व्यक्तिस्वातन्त्र्य-मूलक श्रमण संस्कृतिके संदेश द्वारा समता, स्वतन्त्रता और शान्ति का सार्वजनीन उद्बोधन।

*

संपादक—मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) • * एक प्रति ॥=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, जनवरी १९५० * अंक ७

विश्वशान्ति के आधार

दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में शान्ति निकेतन के प्रशान्त वातावरण में विश्वशान्तिवादियों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी की इच्छानुसार स्वतन्त्र भारत में तो हो सका पर शान्ति के युगदूत स्वयं उसमें सम्मिलित न हो सके। वे तो उस सम्प्रदायवाद और हिंसा की बलि चढ़ गए जिसकी सहस्रमुखी ज्वालाओं से विश्व आज झुलसा जा रहा है और त्राहि त्राहि कर रहा है। सम्मेलन ने एक प्रश्नावली अपने सदस्यों के पास भेजी थी। उस पर विचार करने से पहिले हमें अशान्ति और संघर्ष के उन मूल कारणों की खोज करनी होगी जिनसे मानव जाति भेद स्वार्थ दलबन्दी संघर्ष युद्ध और हिंसा की ओर जाती है। इसके साथ ही साथ हमें यह भी निश्चित करना होगा कि मनुष्य के मूल अधिकार क्या हैं? अशान्ति के कुछ मूल कारण ये हैं:—

(१) ईश्वरप्रदत्त जन्मसिद्ध उच्चत्व का अभिमान—विश्व का नियन्ता एक ईश्वर है। उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। वह सर्वतः उपरि है। उस अनन्त शक्तिशाली त्रिलोकीनाथ (महासम्राट्) के इशारे पर यह जड़ चेतनात्मक ब्रह्माण्ड परिचालित है। उसी ईश्वर के द्वारा संसार के मानवों का ऊंच नीच के रूप में निर्माण हुआ है। यूरोप-वासी गोरी जातिवालों का यह दावा है और वे यह प्रचारित भी करते हैं

कि ईश्वर ने गोरे रंगवालों को पृथिवी पर इसलिए भेजा है कि वे काले पीले रंग के मनुष्याकार जन्तुओं पर शासन करें। गोरे रंगवालों में भी जर्मन देशवासियों का यह दावा रहा कि वे ईश्वर के द्वारा पवित्र रक्त से बनाए गए हैं। इतना ही नहीं, इन गोरे रंगवालों का तो यह भी दावा है कि ईश्वर ने जिन्हें यूरोप या अमेरिका की जमीन पर उत्पन्न कर दिया उनका यह पैदाइशी हक है कि वे एशियाई देशके लोगो पर शासन करें, उन्हें सभ्यता सिखावें। मानों ईश्वर सदा उन्हें चेतावनी देता है कि— देखो, तुमलोग इनका शासन करते रहना, यदि तुम हटोगे तो ये असभ्य(?) आपस में लड़ मरेंगे और मेरी सृष्टि चौपट हो जायगी। इधर इन काले रंग वालों के ईश्वर ने इतनी तो कृपा या अकृपा की कि इनमें यह अभिमान उत्पन्न नहीं किया कि वे विश्व में इसलिए उत्पन्न हुए हैं कि गोरी जातियों पर शासन करें! शायद इसलिए कि वह गोरी जातियों को यह अधिकार दे चुका था (?) पर इनमें जन्म से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र उत्पन्न किए। इनमें ब्राह्मण सर्वोच्च सर्वाधिकारी हैं। क्षत्रिय आदि को उसका रक्षण पोषण और सेवा करनी चाहिए। और बिचारा शूद्र, उसे फटे कपड़े पहिनना चाहिए, जूंठन खानी चाहिए और चुपचाप तीनों वर्णों की सेवा करके अपना जन्म सफल करना चाहिए। इन ब्राह्मण प्रभुओ के हाथ में धर्मशास्त्र हैं, उसकी व्याख्याएं हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर को सृष्टि नियामक मानकर उसके नाम से वर्गविशेष ने जन्मसिद्ध उच्चता का संरक्षण लेकर अन्य वर्गों का शोषण और दलन कर जगत् में अशान्ति ईर्षा संघर्ष और हिंसा के बीज बोए हैं। ईश्वर के नाम पर ही शोषित और दलित प्रजा को अपनी हीन दशा में सन्तोष पूर्वक जीवन यापन करने को बाध्य किया गया और अपने उच्चत्व और आभिजात्य के अभिमान का पोषण किया। इसी जन्मसिद्ध ऊच नीच व्यवस्था के कारण उन उन वर्गों को विशेष अधिकार और संरक्षण मिले और उन्हें कायम रखने के लिए 'ईश्वरीय व्यवस्था' नामक महास्त्र का प्रयोग किया गया। शास्त्रों की अनेकों व्यवस्थाएँ इसी वर्णभेद का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत की जाती हैं।

(२) धर्मग्रन्थो और धर्म गुरुओ का फैलाव— जगत् में सैकड़ों धर्म प्रचलित हैं। उनके अपने अपने धर्मग्रन्थ हैं। वैदिक हिन्दू चाहते हैं कि शासन-विधान वेद और स्मृतियों के आधार से बने, मुसलमान कुरान के आधार पर और ईसाई बाइबिल के अनुसार। ऐसी दशा में इन परस्पर विरोधी शास्त्रों का एक भूमिका पर आना असंभव है। अशान्ति की जड़ में इनका पूरा पूरा हाथ है। विश्व की अशान्ति के

इतिहास में धर्मग्रन्थों का प्रधान स्थान रहा है। धर्मगुरु इनकी व्याख्याओं द्वारा सम्प्रदाय का उन्माद ही अधिक उत्पन्न करते हैं।

(३) कर्म का चक्कर—जिन लोगों ने ईश्वर को नियन्ता नहीं माना वे 'कर्म' के चक्कर में है। ईश्वर मानने वाले भी ईश्वर को कर्म के अनुसार ही फलदाता मानते है। जो वर्ग उच्च समझा जाता है वह अपनी उच्चता का अभिमान और दूसरों को नीची श्रेणी में बने रहने की मजबूरी 'कर्म' के नाम पर चलाना चाहता है। इस तरह एक का अनावश्यक संग्रह और दूसरों का अभाव कर्म के आवरण में पुष्टि पाते है। शान्ति और व्यवस्था की ऊपरी चद्दर भी दूसरों के असन्तोष को दबाकर तानी जाती है। पर भूख की ज्वालाएँ वस्त्र-संकट की चिनगारियाँ और अशिक्षा का दावानल उस शान्तिपट को भस्मात् कर रहा है। विज्ञान तथा दूसरे देशो के विकास ने मानव को उद्‌बुद्ध कर दिया है। वह सोचता है कि क्या कर्म और ईश्वर हमारे लिए ही है!

(४) आर्थिक व्यवस्था और समाज रचना का पूर्व कर्म से सम्बन्ध—आज कई देशों में व्यक्तिगत पूंजी का प्रचलन है, रूस में नहीं है। इस कर्मभूमि के पहिले भी व्यक्तिगत पूंजी की रिवाज नहीं था। इसी तरह समाज रचना भी समय समय पर बदलती रहती है। पर जब इसका सम्बन्ध कर्म से जोड़ कर इसे स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न होता है तो स्थिरस्वार्थी दल इसीके नाम पर दूसरो की उन्नति में बाधक बन जाता है। विवाह आदि के रीति रिवाज उस उस युगो की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है। परन्तु जब इनका सम्बन्ध सदा स्थायी धर्म से जुट गया तो ये ही मानव समाज में भेद डालने वाली दीवालें बन गई है। इनके आधार से ही गुटबन्दी होकर स्थिर स्वार्थी वर्ग खडे हुए है।

(५) धर्म से आजीविका का जुट जाना—एक भीषण अशान्ति का कारण है–कुछ लोगों की धर्म से आजीविका का जुट जाना है। प्रत्येक मत में कुछ ऐसे पादरी पुरोहित पंडित पंडे मौलवी मुल्ला आदि धर्म के ठेकेदार बन गए है जिसका धर्म के विकृत या रूढ़ रूप को कायम रखने में ही अस्तित्व है और जीविका चल सकती है। वे कभी भी दो सम्प्रदाय वालों को मानवता के नाम पर भी एक भूमिका पर नहीं बैठने देना चाहते। विश्व में इनकी एक बड़ी सेना है जो अपने अनुयायियों को 'धर्म-डूबा' 'संस्कृति नष्ट हुई' 'धर्म और संस्कृति की रक्षा करो' आदि नारे लगाकर बहकाया करती है। जहाँ कुछ भी सुधार या परिवर्तन की बात आई इन सम्प्रदाय और संस्कृति के ठेकेदारों का बल दूसरों से घृणा उत्पन्न

करने और अपनी उच्चता जताने तथा 'धर्म डूबा' का भय उत्पन्न करने का कार्य प्रारम्भ कर देता है।

(६) संकुचित राष्ट्रीयता का खोटा नारा—पुराने सम्प्रदायवाद की तरह आज के संकुचित राष्ट्रवाद का नारा भी उतना ही भयानक है। हिटलर अपने भाषण के पूर्व 'जर्मन राष्ट्र' 'जर्मन राष्ट्र' के नारे के द्वारा ही युवकों में अजर्मनों के प्रति द्वेष जगाता था और मानवों को दानव बना कर युद्ध में झोंकता था। यही हाल प्रत्येक देशवासी का है। जहाँ तक अपने देश को संघटित कर परतन्त्रता से त्राण पाना है वहाँ तक यह राष्ट्रीय संघटन उपादेय है, पर जब इसका उपयोग दूसरे देशों को पराधीन करने के लिए उनके प्रति घृणा द्वेष और प्रतिहिंसा के भाव जगाने के लिए किया जाता है तब यही मानवता का महान् संहारक हो जाता है।

(७) स्त्री समाज की दुर्दशा—आज विश्व का यह आधा मानव समाज घोर अशिक्षा अन्धविश्वास और रूढ़ियों का गुलाम बनकर मानव समाज की उन्नति में बाधक बना हुआ है। स्त्रियाँ केवल भोग की वस्तु समझी जाती है। उन्हें राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक स्वातन्त्र्य नहीं है। यही कारण कि आगे की सन्तति उत्तरोत्तर अविकसित होती जाती है। प्रत्येक कुटुम्ब की अशान्ति का कारण स्त्री की अशिक्षा है। मनुष्य ने अपनी भोग लिप्सा की पूर्ति के लिए स्त्रियों पर अनेक अनुचित विधान लादे हैं।

यही कुछ ऐसे मूल निदान हैं जिनसे अशान्ति और संघर्ष के बीज जाति धर्म और देश के नाम पर बोए जाते हैं। इनके हटाने का स्थिर प्रयत्न जब तक नहीं किया जायगा तब तक विश्व शान्ति का स्थिर आधार मिलना कठिन है।

संक्षेप में निम्नलिखित उपाय हैं जिनपर शान्तिवादी सम्मेलन को विचार करना चाहिए।

(१) मानवमात्र के ही नहीं प्राणिमात्र के समानाधिकार की घोषणा—विश्व का प्रत्येक प्राणी समान रूप से स्वतन्त्रता का अधिकारी है। अन्य प्राणियों की बात जानें दें पर मनुष्य मात्र तो चाहे वह गोरा हो या काला, यूरोपीय हो या एशियाई, ब्राह्मण हो या शूद्र, हिन्दू मुसलमान ईसाई बौद्ध या जैन आदि किसी भी धर्म का मानने वाला क्यों न हो, जन्म से समानाधिकार वाला है। उसे ईश्वर ने या कर्म ने कोई विशेष संरक्षण देकर नहीं भेजा है। ईश्वर को सृष्टिनियन्त्रण के भार से मुक्त करके इन मानवों को ही अपने भाग्य का विधाता मान कर इन्हें अपनी व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र कर देना चाहिए। धर्म, देश, रंग, जाति, पेशा आदि के कारण

झपटे हुए विशेष संरक्षण और अधिकारों का अन्त किए बिना समान भूमिका बन ही नहीं सकती। सब को समान रूप से सब क्षेत्रों में उन्नति करने का अवसर हो। सब की सब जगह समान नागरिकता हो। ईश्वर आराधना की वस्तु हो, जिसके वीतराग और अहिंसामय निर्विकारी स्वरूप से मानवजाति को आदर्श अहिंसा की प्रेरणा मिले। उसके नाम पर या उसके मुख आदि से उत्पन्न होने के कारण कोई वर्ग अपना जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त करने की कुचेष्टा न करे। इस तरह प्रत्येक मनुष्य का जन्मना समानाधिकार स्वीकार किए बिना शान्ति की बात करना निरर्थक है। मनुष्यों को ही क्यों, प्राणिमात्र को जीवित रहने और स्वतन्त्रता का उपभोग करने का नैसर्गिक अधिकार मानकर सर्वभूत मैत्री का आदर्श सामने रखना होगा। ईश्वर वीतरागी दयासागर है। वह किसी जाति या देशवासी को विशेष संरक्षण देकर विश्व में भेजता है यह उन स्थिर-स्वार्थियों के विकृत मस्तिष्क की उपज है जो ईश्वर के नाम पर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं।

(२) धर्मशास्त्रो और धर्मग्रन्थो की मर्यादा—धर्म शास्त्रों का कार्य है मनुष्यों में सद्भावना, प्रेम, सहयोग, मैत्री, प्रमोद आदि समाजसंघटक भावों को जाग्रत करें। प्रत्येक धर्मग्रन्थ में ऐसे सामान्य तत्त्व हैं भी। इनका कार्यक्षेत्र मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का संशोधन करके उसे मानव बनाए रखना है। आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक मामलों में धर्मग्रन्थों का आश्रय लेने से कोई तत्त्व नहीं निकल सकता। ये समस्याएँ अपने अपने युग की जुदी जुदी होती हैं। धर्मगुरुओ को अपने जीवन्त अहिंसक आचार द्वारा विश्व बन्धुत्व के तत्त्वों को ही सामने लाना चाहिए न कि घृणा द्वेष और हिंसा के कारणों को। अतः इनका क्षेत्र व्यक्तिगत आत्मशोधन तक ही सीमित हो। सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक मामले इनके प्रभाव से मुक्त हों और सहयोग प्रणाली से ही उनकी रूपरेखा निश्चित हो।

(३) कर्म के स्वरूप का ज्ञान—कर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है। उसका असर भी वैयक्तिक ही होता है। आज की क्रिया का असर व्यक्ति के उपादान पर पड़ता है, उससे उसकी अपनी योग्यताओं का हीनाधिक विकास होता है, पर कर्म का कार्यक्षेत्र जन्मगत ऊँचनीच भाव या चालू सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को मानना अनुचित है। जैसी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ होगीं व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उनमें विकास कर लेगा। लंदन का चमार भी प्रधानमन्त्री हो सकता है क्योंकि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था इसी प्रकार की है। रूस का पुण्य-पाप

दूसरे प्रकार का है। वहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति न होने से पुण्य का कार्य संपत्ति का बटोरना नहीं है। तात्पर्य यह कि कर्म और ईश्वर को चालू व्यवस्थाओं में नहीं उलझाना चाहिए।

(४) सहयोग के आधार से सामाजिक और आर्थिक पुन सघटन—सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ हमें सहयोग प्रणाली के आधार से बनानी होंगी। इसमें किसी वर्ग विशेष का संरक्षण ही ईर्षा का कारण होकर अशान्ति की बीज बोता है। जब मानव मात्र का समानाधिकार घोषित हो जाता है तब प्रत्येक को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे की स्वतन्त्रता की रक्षा करे। अहिंसा और अपरिग्रह के आधार से होने वाली समाज रचना में ही सब का उदय होगा। परिग्रह का संग्रह प्रत्येक व्यक्ति उतना ही करे जितना कि उसे अनिवार्य आवश्यक हो। जैन धर्म के अपरिग्रह का यही आशय है कि व्यक्ति स्वेच्छया अहिंसा की भावना से उतना ही परिग्रह रखे जितने के बिना उसका कार्य नहीं चलता, अधिक नहीं। सामाजिक और आर्थिक संघटन अहिंसा और अपरिग्रह के आधार से हुए बिना शान्ति नहीं हो सकती।

(६) गुण कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था—वर्णव्यवस्था व्यवहार के लिए पेशे के आधार से थी। किसी भी पेशे में किसी को रुकावट नहीं होनी चाहिए। सब के लिए सब द्वार उन्मुक्त होने चाहिए। यदि कथित शूद्र ने मल साफ करने का पेशा स्वीकार किया है तो उस पेशे से घृणा नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसमें वैज्ञानिक रीति से विकास करना चाहिए। कोई भी पेशा हीन नहीं समझा जाना चाहिए। वर्णव्यवस्था गुण और कर्म के अनुसार हो। इस जन्मगत वर्ण व्यवस्था ने ही भारतवर्ष को पराधीनता के गहरे गर्त में गिराया था। छुआछूत का भाव उत्पन्न करके मानव मानव में घृणा के बीज बोए गए हैं।

(७) नारी समानाधिकार—यह ठीक है कि स्त्री का शरीर संगठन और प्राकृतिक कार्य मातृत्व की ओर जाता है पर उनमें उच्च मातृत्व लाने के लिए भी उन्हें आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में समानता से विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। वे केवल भोग की सामग्री न हों किन्तु मानव समाज के अंग के रूप में उनका अस्तित्व और आदर हो।

(५) धर्म से आजीविका न हो—धर्म व्यक्तिगत आत्मशुद्धि के लिए है न कि अर्थोपार्जन के लिए। जब व्यक्ति का ऐहिक सीधा स्वार्थ धर्म से जुट जाता है तब वह स्वभावतः आत्मशोधन की भूमिका छोड़ कर कट्टरता पर

उत्तर आता है। अतः ऐसे वर्ग के लोगों को धीरे धीरे धर्म से आजीविका करने की जगह अन्य उपायों से आजीविका करने की ओर प्रेरित करना होगा।

(८) संकुचित राष्ट्रवाद की समाप्ति—प्रान्त देश भाषा और संस्कृति के संकुचित नारों का आधार समाप्त करके विश्वबन्धुत्व, विश्वदेश, विश्व-भाषा और मानव संस्कृति के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होगा। इस संकुचित प्रान्तीयता और देश के नाम पर यदि एक देश कोई अनुचित कार्य करता है तो सहज ही दूसरे देश में उससे बदला लेने की प्रवृत्ति होती है। हमें अपने औदार्य द्वारा इस प्रवृत्ति का अन्त करना होगा। और विश्वबन्धुत्व की भावना से अन्याय करनेवाले देश को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा रास्ते पर लाना होगा।

(९) निरस्त्रीकरण—ऐसी दशा में किसी भी देश को सेना की और शस्त्रों के विशाल संग्रह की आवश्यकता नहीं रहेगी। अन्तः सुव्यवस्था के लिए पुलिस की कदाचित् आवश्यकता हो भी परन्तु परचक्र से संरक्षण के लिए या विश्व विजय के लिए सेना और शस्त्रों की होड़ बन्द हो जायगी। विश्व एक परिवार की तरह होगा।

अब हम उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिन्हे शान्तिवादी सम्मेलन ने प्रस्तुत किए हैं:—

(१) प्रश्न—नित्य जीवन में शान्ति और अहिंसा का व्यवहार कैसे किया जाय?

उत्तर—मानव मात्र के समानाधिकार की भूमिका पर किसी वर्ग विशेष को अमुक संरक्षण दिए बिना सहयोग प्रणाली से समाज व्यवस्था की जाय और प्रत्येक मनुष्य को यह ज्ञान कराया जाय कि उसके स्वतन्त्रता के अधिकार की रक्षा पड़ोसी की स्वतन्त्रता की रक्षा पर निर्भर है, और इस तरह एक दूसरे की स्वातन्त्र्य रक्षा की समभूमिका पर नित्य प्रति के जीवन में अहिंसा और शान्ति का व्यवहार हो सकता है। किसी भी पेशे को हीन न समझा जाय। कुलीगिरी या मास्टरी सभी का समान महत्त्व स्वीकार किया जाय। सभी सार्वजनिक स्थान सब के लिए समान भाव से उन्मुक्त हों।

(२) प्रश्न—शान्ति के लिए शिक्षा कैसी हो?

उत्तर—साम्प्रदायिक शिक्षा का अन्त कर दिया जाय। ज्ञान विज्ञान के प्रायोगिक शिक्षण से मानव मस्तिष्क को उदार बनाया जाय और प्रारंभ से ही विश्वनागरिक की भूमिका उत्पन्न की जाय। व्यक्ति में भाषा, प्रान्त, जाति, वर्ण आदि के उन्माद को उत्पन्न करनेवाले इतिहास पुराण

कथाएँ आदि पाठ्यक्रम में न रहें। जातीय या प्रान्तीय छात्रालय न रहें। संयुक्त शिक्षण हो। जातीय और साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाएँ सरकार द्वारा पुष्टि न पावें।

(३) प्रश्न—नवीन और प्राचीन शान्तिवाद और साम्राज्यवाद–

उत्तर—साम्राज्यवाद के साथ स्वाभाविक शान्ति की आशा ही नहीं की जा सकती। आजतक के साम्राज्यों का इतिहास प्रतिहिंसा को उत्पन्न करने के काले पृष्ठों से परिपूर्ण है। अतः साम्राज्यवाद के साथ नहीं किन्तु मानव समानाधिकार की भूमिका पर ही शान्ति की अमृतबेल अंकुरित हो सकती है। हम अपनी व्यवस्था के लिए किसी को भी अपना नेता चुन सकते हैं पर यह चुने जानेवाले व्यक्ति का या उसकी सन्तान का हक नहीं हो सकता। जनतन्त्र प्रणाली ही मानव समानाधिकार का संरक्षण करके शान्ति का वातावरण उत्पन्न कर सकती है।

(४) प्रश्न—जाति और रंग सम्बन्धी समस्याएँ और उनका हल?

उत्तर—ईश्वर के नाम पर जाति और रंग की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और जन्म से ही उसीके कारण विशेषाधिकार संरक्षित किए गए हैं। हमें यह घोषणा करनी होगी कि "मनुष्यजातिरेकैव" अर्थात् दुनियां में एक ही जाति है और वह है मनुष्य जाति। रंग या जाति के कारण किसी का कोई स्वत्व संरक्षित नहीं होगा। ये समस्याएँ संयुक्त शिक्षा, सामान्य छात्रावास और पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों द्वारा हल हो सकती हैं।

(५) प्रश्न—शान्तिवादियों के विश्वसंघ की रूप-रेखा क्या हो?

उत्तर—प्रत्येक देश के ऐसे व्यक्तियों का संघटन हो जिनका मानव समानाधिकार, अहिंसक समाज रचना तथा सहयोग के आधार से आर्थिक संघटन में दृढ़ विश्वास हो। प्रत्येक देश में उनकी शाखाएँ हों। उनके अपने पत्र हों, प्रचारक हों, जो अपने देशों में इन सिद्धान्तों का प्रचार करें। इनकी अहिंसा का आधार वैज्ञानिक हो। इनकी दृष्टि प्राणिमात्र की सर्वोच्च मैत्री पर हो, भले ही कार्य क्षेत्र मानव समाज तक सीमित हो।

श्रमण संस्कृति (जैन धर्म और बौद्ध धर्म) ने सदा से इन्हीं व्यक्तिस्वातन्त्र्य-मूलक प्राणिमैत्री-विधायक अहिंसक तत्त्वो का प्रतिपादन किया है। हमारा विश्वास है कि विश्वशान्ति के मूल आधार यही तत्त्व हो सकते हैं।

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

—:००:—

शान्तिवादी सम्मेलन

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

संसार में शान्ति की कामना बहुत पुरानी है। शान्ति मानवजीवन के विकास की एक अनिवार्य शर्त है। बुद्ध, महावीर और ईसा ने शान्ति के लिए बहुत कुछ किया और अपने चरित्र तथा उपदेशों द्वारा शान्ति कायम करने का कुछ हदतक प्रयत्न भी किया। सीमित क्षेत्र में कुछ समय तक उनके प्रयत्नों को सफलता भी मिली। किन्तु आगे चल कर अपने को उन्हीं के मतानुयायी बताने वालों ने ही उनकी शिक्षाओं के सर्वथा विरुद्ध आचरण किया। इस युग में भी जगत् के विभिन्न देशों में शान्ति के लिए प्रयत्न करने वालों की कमी नहीं है। हजरत मुहम्मद की तरह के भी शान्तिवादी आज है कि जो आततायी के विरुद्ध हथियार भी उठाना अनुचित नहीं समझते; पर उन हथियारों को शान्ति के विरुद्ध इस्तेमाल नहीं करते; और ऐसे भी शान्तिवादी है कि जो किसी भी हालत में हथियार नहीं उठाते। प्रथम महायुद्ध का विरोध युद्धलिप्त देशो के अनेक मनीषियों ने किया था। प्रायः सभी देशो के कुछ न कुछ मनीषियो ने व्यक्तिगत रूप से, अपनी अपनी शक्ति और साधना के अनुसार शान्ति के पक्ष में और युद्ध के विरोध में प्रचार किया है। इस कार्य में उनको अनेकों कष्ट भी झेलने पड़े। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में युद्धलिप्त अनेकों देशों की सरकारों ने ऐसे शान्तिवादियों को इसलिए जेल में डाल दिया कि वे युद्ध के विरुद्ध और शान्ति के पक्ष में प्रचार करते थे। पर अनेकों कष्ट सह कर भी किसी किसी देश में इन शान्तिवादियों ने अपने से विचार वालों का ग्रूप भी बना लिया। किन्तु शान्ति के पक्ष में सभी देशो में इन कार्यों के बावजूद इन शान्तिवादियों का कोई सामाजिक और सामूहिक संगठन नहीं था। किसी संगठन में संघबद्ध होकर इन शान्तिवादियो ने सामूहिक रूप से युद्ध के विरुद्ध और शान्ति के पक्ष में जन-जीवन से मिल कर कहने लायक कुछ नहीं किया था।

हमारे देश के महात्मा गान्धी भी शान्तिवादी थे। किन्तु संसार के अन्य शान्तिवादियों से महात्मा गान्धी का शान्तिवाद कुछ भिन्न किस्म का भी था। जब कि अन्य शान्तिवादियों का शान्तिवाद निरीह शान्तिवाद था,

तब महात्मा गान्धी का शान्तिवाद आक्रमणमूलक था। महात्मा गान्धी सिर्फ अन्याय का निष्क्रिय विरोध नहीं करते थे; बल्कि वह ऐसी सामाजिक परिस्थिति भी बनाते रहते थे कि जिसके द्वारा अन्याय का प्रतिरोध किया जाय; और वह अन्याय के विरुद्ध राज्यशक्ति से सत्याग्रह के हथियार द्वारा लड़ते भी थे। इस तरह महात्मा गान्धी के शान्तिवाद ने एक सामूहिक जनान्दोलन और सामाजिक शक्ति का रूप भी ले लिया था। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी शान्तिवादी थे। उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता का विरोध करते हुए अपने साहित्य द्वारा विश्व में एकत्व की, प्रेम की, मानवता की और विश्वबन्धुत्व की अनुभूति को जागृत किया। यही कारण था कि संसार के सभी शान्तिवादी भारत की ओर न केवल सहानुभूति की ही दृष्टि से देखते थे, बल्कि उनको भारतीय जनान्दोलन से एक खास किस्म की दिलचस्पी हो गई थी। वह भारत से नेतृत्व की भी आशा रखते थे। और जैसा कि सभी शान्तिवादियों ने स्वीकार भी किया है कि यही कारण है जिससे भारतीय भूमि पर संसार के शान्तिवादियो को संगठित करने की जरूरत पड़ी। शान्तिनिकेतन में होनेवाला शान्तिवादी सम्मेलन इसी का परिणाम है।

इस शान्तिसम्मेलन में ३५ देशों के ६३ गैर भारतीय, २२ भारतीय, और ३ पाकिस्तानी शान्तिवादी शरीक हुए। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, वहाबी, यहूदी और थियासोफिस्ट इस सम्मेलन में शरीक हुए। इसमें धार्मिक नेता, समाज सेवक, शिक्षक, वैज्ञानिक, पत्रकार, प्रकाशक, हिसाबी तथा राजनीतिक शरीक थे। इसमें सिर्फ अमरीका के १३ और ब्रिटेन के ४ व्यक्ति शरीक थे। इस सम्मेलन में पधारने वाले व्यक्तियों को राजनीतिक दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि एंग्लो-अमरीकन ग्रूप के देशों और उनके मत को मानने वालों की इसमें अच्छी खासी संख्या थी। कुछ प्रत्यक्षतः तटस्थ कहे जाने वाले देशों के लोग थे। पर जिन देशों के विरुद्ध एंग्लो-अमरीकन ब्लाक का संगठन अपना सम्मान रखता है, उन देशों के लोग इस सम्मेलन में नहीं थे। इसके अलावा अनेक शान्तिवादियों से—जो बाहर से आए थे—बातें करने से यह मालूम हो गया कि इनमें से अधिकतर का अपने अपने देशों के जन-जीवन में जैसा चाहिए, वैसा स्थान नहीं है। कुछ ऐसे अवश्य थे, जो अपने यहां के शान्तिवादियों के प्रतिनिधि थे; पर अधिकतम ऐसे थे, जिनकी हैसियत व्यक्ति की थी। कुछ ऐसे थे जो कम्युनिज्म से घृणा करते थे; कुछ ऐसे थे जो कम्युनिज्म और कैपिटलिज्म दोनों से घृणा करते थे और कुछ ऐसे थे जो युद्ध से घृणा

करते थे। पर युद्ध के मूल कारणों और उनके निराकरण का वैज्ञानिक उपाय क्या हो सकता है, इस पर किसी के पास निश्चित मत नहीं था। श्री निर्मलाकुमार बोस इस दिशामें अपेक्षाकृत ज्यादा साफ मत रखते थे।

संक्षेप में इस शान्तिवादी सम्मेलन के आयोजकों का उद्देश्य यह था— संसार के ऐसे चुने हुए शान्तिवादी बुलाए जाँए, जिनका अहिंसा में दृढ़ विश्वास हो; जो गान्धी जी के रचनात्मक कार्यों में आस्था रखते हों। यदि ऐसे ५० भी व्यक्ति आ जायं, तो काफी है। ऐसे व्यक्ति गान्धी जी के निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर, सलाह-मशविरा करें, अपने अपने देशों का अनुभव बतावें; फिर भारतवर्ष के विभिन्न रचनात्मक आश्रमों और केन्द्रों में ग्रूप बनाकर घूमें; फिर सेवाग्राम में बैठ कर एक निश्चित कार्यक्रम बनावें। सम्मेलन के आयोजकों का मत है कि सम्मेलन कोई चमत्कार नहीं दिखा देगा। पर इससे कुछ व्यावहारिक परिणाम अवश्य निकलेगा। इसके जरिये एक विश्वसंघ बन सकता है जो सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के सुलझावे में अहिंसा का प्रयोग करेगा। २. इसके द्वारा मानव-विचारों को शान्ति की ओर ले जाने का नया रास्ता निकाला जा सकता है। ३. इसके द्वारा सहयोग के आधार पर संसार की सामाजिक व्यवस्था बनाई जा सकती है। ४. इसके द्वारा विश्व-बन्धुत्व, विश्व-सरकार और जातीय एकता को बढ़ाने में सहायता मिल सकती है। सम्मेलन के आयोजकों की राय में विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति के लिए निश्चय ही वे थोड़े से प्रयत्न हैं, जिनके लिए काम किया जा सकता है। यह यू० एन० ओ० अथवा अन्य किसी ऐसी संस्था से प्रतियोगिता करने वाली संस्था नहीं होगी। पर यह ऐसी संस्था होगी, जो किसी न किसी रूप में एक ही उद्देश्य को लेकर किन्तु भिन्न साधनों से अपना काम करेगी। सम्मेलन के आयोजको की ओर से एक प्रश्नसूची प्रकाशित की गई थी, जिस पर सम्मेलन को विचार करना होगा। इस प्रश्नसूची में मूल रूप से ये छः प्रश्न हैं :—१. नित्य के जीवन में शान्ति और अहिंसा का व्यवहार किस तरह किया जाय? २. शान्ति के लिए शिक्षा कैसी हो? ३. नवीन और प्राचीन शान्तिवाद और साम्राज्यवाद। ४. जाति और रंग सम्बन्धी समस्याएं तथा उनका हल। ५. विश्व सरकार की ओर शान्तिवादियों की गति कैसे हो? और ६. शान्तिवादियों के विश्वसंघ की रूप रेखा क्या हो?

शान्तिनिकेतन में करीब तीन बीघे में सिर्फ आम के ही वृक्ष हैं। इसी को आम्रकुञ्ज कहते हैं। साधारण दिनों में इस आम्रकुञ्ज में

चार स्थानों पर पढ़ाई होती है। पर शान्तिनिकेतन के मुख्य उत्सव भी प्रायः इसी आम्रकुञ्ज में होते हैं। यहां तक कि दीक्षान्त समारोह भी भी यहीं होता है। इसी आम्रकुञ्ज में शान्तिवादियों के प्रथम दिन के स्वागत का आयोजन हुआ था। यह आयोजन शान्ति-निकेतन की ओर से था। आमने सामने दो कला पूर्ण मण्डप बनाए गए थे। एक डा० कैलाश नाथ काटजू, अमृतकौर और होरेस अलेकजण्डर के बैठने के लिए, जिसके पास ही श्री रथीन्द्र नाथ टैगोर और आश्रम के पुरोहित श्री क्षितिमोहन सेन के बैठने का आसन था और उसके ठीक सामने ५० कदम पर एक मण्डप था, जिसके नीचे कल्पना युक्त चबूतरे पर मंगल घट रखा था और जिसके चारो ओर स्वागत और मंगल गान के लिए लड़कियां बैठी थीं। सभी शान्तिवादी अपने अपने आसन पर बैठे। ठीक समय पर डा० काटजू रथी बाबू के साथ पधारे। अमृतकौर भी आ गईं। और स्वागत कार्य प्रारम्भ हो गया। इसी समय के उपयुक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक सन्देश सभा में वितरित किया गया। सन्देश इस प्रकार था :—"सारी दुनिया एक हो गई है, सभी देशों की दूरी प्रतिदिन खत्म हो रही है। पहले जो प्रत्येक देश की सीमाएं थी, वे अब हट गई हैं। इसके कारण राजनीतिज्ञ दूसरे देशों को चूसने के लिए संघर्ष कर रहे हैं—व्यापारिक सम्बन्धों के द्वारा। मगर मेरा सन्देश (मिशन) संसार भर में बुद्धि, हृदय, सहानुभूति और एक दूसरे को समझने का व्यापार करने का सन्देश देता है। मैं व्यक्तिगत लाभ के बाजारों में सस्ते दामों इस व्यापार के करने का पक्ष-पाती नहीं हूं। क्योंकि ऐसा करने से पारस्परिक नाश की प्रतियोगिता जोर करेगी।" इस सन्देश में अशान्ति के मूल कारणों की ओर स्पष्ट संकेत है कि व्यक्तिगत लाभ और शोषण द्वारा ही संसार में यह घोर अशान्ति है। यह संघर्ष और हिंसा का मूल कारण है। इस अवसर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस सन्देश को उन्हीं के अक्षरों-लिखावटों में वितरित करके शान्ति-निकेतन के अधिकारियों ने बड़े महत्त्व का कार्य किया। पर पता नहीं रवीन्द्रनाथ के इस महान् सन्देश को कितने शान्तिवादियों ने सुना ?

लगातार आठ दिनों तक शान्तिनिकेतन के उत्तरायण में विश्व शान्ति-वादी सम्मेलन होता रहा। ऐसा पता लगा कि उक्त सम्मेलन में सभी ने अपने अपने सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह सम्बन्धी छोटे या बड़े दायरे में किए गए प्रयोगों के अनुभव बताए। प्रत्येक दिन किसी न किसी का भाषण आश्रमवालों के लिए भी होता रहा है। प्रत्येक दिन शान्तिवादियों

से मिलने का भी मौका मिलता रहा। पर ऐसा लगा कि विश्वशान्ति के लिए किसी तरह का ऐसा आर्थिक सिद्धान्त इन शान्तिवादियों के पास नहीं है कि जिससे अशान्ति के मूल कारणों को दूर किया जा सके। किन्तु सम्भवतः किसी आर्थिक कार्यक्रम की दिशा मे किसी कार्यक्रम की ओर ये सोच रहे है। किन्तु सोशलिज्म के नाम से ही अधिकांश प्रतिनिधि सशंक हो जाते थे। शान्तिवादियों से बातें करने पर मुझे लगा कि सोशलिज्म के अलावा वे किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज में हैं कि जिससे संसार में शान्ति कायम की जा सके। किन्तु ऐसे किसी सिद्धान्त की ओर किसीने सूत्रसंकेत भी नहीं किया। जो कुछ हो, शान्तिनिकेतन में होने वाला शान्तिवादी सम्मेलन का काम महज उस कार्य की भूमिका तैयार करना था, जिसे शान्तिवादी करना चाहते हैं। यहां आठ दिनों में सभी एक दूसरे के नजदीक आए और ऐसा वातावरण बना सके, जिसमें वह अपने सिद्धान्तों की खोज कर सके।

विश्व शान्तिवादी सम्मेलन से संसार में शान्ति कायम होगी अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। और वस्तुतः इसका जवाब समय ही देगा। पर इस सम्मेलन से भारतवर्ष का कुछ लाभ अवश्य होगा। इन शान्तिवादियों में कुछ बहुत ही योग्य और ईमानदार व्यक्ति भी हैं। वह हमारे देश में घूम कर, उसकी असली हालत को जानेंगे। वह जहां जहां जायेंगे, वहां मानवता और शान्ति का सन्देश भी देंगे। इससे हमारे देश में भी अन्ध राष्ट्रीयता का अवरोध और विश्वमानवता का विकास होगा। और जब वह अपने अपने देशो में जायंगे, तो भारत के प्रति मैत्री की भावना भी बढ़ाएंगे। वस्तुगत रूप में इससे भारत का कोई लाभ नहीं, पर भावगत रूप में निश्चय ही इससे भारतवर्ष का लाभ ही होगा।

इस समय इस बात की बहुत सख्त जरूरत है कि संसार में शान्ति की भावना का प्रचार हो। जितना ही शान्ति का प्रचार होगा, उतना ही शोषण, दलन और सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का अन्त होगा। जितना ही शान्ति का प्रचार और प्रसार बढ़ेगा, उतना सामाजिक शक्तियों को बल मिलेगा। और जिस क्रम से सामाजिक शक्तियां बलवती होंगी, उसी क्रम से मानवता का विकास होगा। शान्तिनिकेतन में हुए शान्तिवादी सम्मेलन ने अभी कोई फैसला नहीं किया है। अभी उसका कोई कार्यक्रम नहीं बना है। सेवाग्राम (वर्धा) में होने वाले सम्मेलन में वह अपना कार्यक्रम बनाएगा। इस लिए हमारी आंखें १९५० की जनवरी के प्रथम सप्ताह में होने वाले उसके फैसले पर लगी रहेंगी।

वीर शासन की उदारता

श्री जयभगवान् जी

ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत की संकीर्ण परिस्थिति में जीवन शक्ति को मिथ्या विश्वासों, रूढ़ियों और क्रियाकाण्डों से मुक्त कराने और धर्म पथ को जातीय संकीर्णता के गड्ढे से निकाल पुनः सर्व प्रवाही बनाने के लिए जिन दो महान आत्माओं का जन्म हुआ था उनमें एक भगवान वीर थे।

भगवान वीर ने जीवन संस्कृति से शताब्दियों के सञ्चित विकृतिपटलों को उखाड़ कर जिस जीव तत्त्व और जीवन मार्ग का पुनरुद्घाटन किया था, उसके उद्योत से पीड़ित संत्रस्त और आहृत हृदयों में नव आशा और दिव्य ज्योति का प्रभात हुआ था।

वह जहां जाते उनका बड़ी भक्ति भाव से स्वागत होता—उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए जनसागर उमड़ पड़ता। राजघराने से लेकर चाण्डाल पर्यन्त तक सब ही वर्ण, जाति और व्यवसायो के नर और नारी, उच्च नीच के भेदभावरहित हो उनके चरणों में बैठ कर अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते और उनके वचनामृत से अपनी जिज्ञासा शान्त करते। इतना ही नहीं बल्कि वनवासी पशु और पक्षी तक उनके सम्पर्क से अपनी नैसर्गिक क्रूरता और वैरभाव त्याग कर सद्वृत्ति हो गये। इसीलिए उनकी परिषद समोशरण के नाम से विख्यात है। वहां प्राणिमात्र को समान रूप से धर्म की शरण मिलती थी।

उनकी शिक्षा ही सर्वव्यापी नहीं थी, उनकी दीक्षा भी सर्वव्यापी थी। वे मानव समाज में व्यवहृत समस्त भेद भावो को छोड़ कर सब ही प्रकार के मनुष्यों को अपने श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका चतुर्विध संघ में दीक्षित करते थे। ईस्वी पूर्व की तीसरी सदी में भारत में आने वाले यूनानी दूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में बिना जाति और वर्णभेद के सब ही प्रकार के व्यक्तियों को साधुसंघ में दीक्षित होने की इजाजत है। इसी बात को दृष्टि में रखकर बुद्ध मज्झिम निकाय में वीर शासन के सम्बन्ध में कहते है "ऐसा ही होने से तो आवुस निगंठो जो लोक में रुद्र खून रंगे हाथ वाले, क्रूर कर्मा, मनुष्यों में नीच जाति वाले हैं वह निगंठों में साधु बनते है।"

उनका सिद्धान्त था कि आत्मस्वभाव ही धर्म है, इस स्वभाव की अपेक्षा सब ही प्राणियों की आत्मा समान है। सब ही वस्तुतः दर्शन ज्ञान स्वरूप है, सच्चिदानन्द हैं। अनन्त बलधारी हैं। अजर अमर है, परम मंगल है। भेद केवल स्वभाव की अभिव्यक्ति में है। किसी में आत्मधर्म अधिक व्यक्त है, किसी में कम। परन्तु पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त करने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में स्वतः सिद्ध है । वह आत्मा का निज अधिकार है उसकी अपनी अन्तरंग सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति द्रव्य से खरीदी और बेची नहीं जा सकती। यह शक्ति शरीर के श्याम और गौर वर्ण से श्याम और गौर वर्णवाली नहीं होती। यह शूद्र के घर जन्म पाने से शूद्र और ब्राह्मण घराने में जन्म पाने से ब्राह्मण नहीं हो पाती । यह सब देशवासियों सब ही जातिवालों म विद्यमान है। धनवानों में भी और निर्धनों में भी है। प्रतिष्ठित में भी और पतित में भी है। पुण्यात्माओं में भी है और पापिष्ठ में भी है। मनुष्यों में भी है और तिर्यंचों में भी है। स्वर्ग में भी है और नरक म भी है।

इस तरह यह आध्यात्मिक शक्ति जो आत्मा का उत्कर्ष कर पूर्णता का लाभ कराती है वर्ण, गोत्र, जाति आदि उपाधियों से सर्वथा निरपेक्ष है, जो आत्मधर्म में रमता है वही धर्मात्मा है, शुद्ध है, महान है।

आत्मा स्वयं साध्य है और स्वयं साधन मार्ग है। आत्मा का उद्धार और पतन स्वयं उसके भावों की निर्मलता और मलिनता पर निर्भर है। नीचे से नीचा प्राणी भी अपनी शुद्ध वृत्ति द्वारा अपने को उच्च और महान बना सकता है और तो क्या शुद्ध निरंजन बुद्ध ब्रह्म हो सकता है और ऊँचे से ऊँचा व्यक्ति भी अपनी अशुभ वृत्ति द्वारा अपने को रसातल को पहुँचा सकता है। इस तरह प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का विधाता है।

इस सिद्धान्त के आधार पर ही वीर प्रभु ने प्रचलित देवतावाद और तत्सम्बन्धी याज्ञिक क्रियाकाण्ड की निस्सारता बतलाई थी, इसी के आधार पर दीन विहीन पददलित और पापपङ्क में फँसे हुए व्यसनी आत्माओं को उनके उद्धार की आशा दिला उनको मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए प्रोत्साहन दिया था।

जीवन का उत्थान पतन जातीयता पर निर्भर रही है। लोक प्रतिष्ठित घरानों में नीचात्माओं की उत्पत्ति के सैकड़ों उदाहरण संसार में विख्यात हैं। द्वीपायन व्यास जो अखिल हिन्दू संसार के तिलक स्वरूप महान आत्मा है, व्यभिचार की उपज थे। और मारीचि ऋषि जिसने जैन श्रुति के अनुसार अनेक पाखण्डों का प्रसार किया था, स्वयं आदि ब्रह्मा के पौत्र थे।

भारत के आदि धर्म प्रवर्तक इक्ष्वाकु वंशी ऋषभदेव ने व्यक्तिगत गुण कर्म के आधार पर जिस वर्ण व्यवस्था का विधान किया था वह केवल सामाजिक संगठन, उसकी आर्थिक व्यवस्था और राष्ट्र एकता के लिये किया गया था। मानव समाज में सामूहिक सहयोग और लौकिक जीवन की स्थिरता के लिए बनाया गया था। परन्तु वह पारलौकिक जीवन के लिए जो व्यक्तिगत आचार विचार पर निर्भर है-तनिक भी बाधक नहीं था।

कालदोष से ज्यों-ज्यों धर्म तत्त्व ने बाह्य, स्थूल, चिह्नात्मक रूप धारण किया और महान पुरुषों के प्रति भक्ति क्रियाकांड में प्रवृत्त हुई, त्यों-त्यों इस धर्म मार्ग की जटिलता बढ़ने लगी और 'जरूरत ईजाद की मां है" इस लोकोक्ति के अनुसार उसके योग्य विधिविधान करने, उसके संरक्षण और निरीक्षण के लिए मानव समाज में एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण होना शुरू हुआ--जो बाद में ब्राह्मण वर्ण कहलाया। धर्म मार्ग के विधाता बन जाने के कारण उनका लोकप्रतिष्ठित होना स्वाभाविक ही था। लोभ वश इस वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को अपनी उदरपूर्त्ति का साधन बना लिया। अपनी इस प्रतिष्ठा को और आजीविका के साधनो को सुरक्षित करने के लिए उन्होने जन्माश्रित जिन जातीय बन्धनो का आविष्कार किया उसके फलस्वरूप भारत की वह वर्ण व्यवस्था हुई जिसका महावीर और बुद्ध दोनों ने बहुत मार्मिक शब्दों में विरोध किया। और उनके पीछे होने वाले सब ही नेता विरोध करते चले आये।

ब्राह्मण लोग कहते थे कि 'वह शुक्ल वर्ण हैं' वह 'ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं शेष वर्ण श्याम हैं, जो ब्रह्मा के बाहु, उदर और पाद से उत्पन्न हुए हैं। शूद्रो को धर्म सेवन करने का कोई अधिकार नहीं हैं, इत्यादि इसी जातीय गर्व के कारण अनेक बार ब्राह्मण क्षत्रिय संग्राम हुए।

महावीर काल में भी वर्णव्यवस्था की इस विकृत दशा से यहां का बृहत जन समूह अत्यन्त पीड़ित था--वह न केवल ऐहिक और सामाजिक क्षेत्र से ही बहिष्कृत था, बल्कि धार्मिक अधिकारों से भी वंचित था। भारतीय लोगो की इस बुद्धिविपरीतता, धर्म विडम्बना और अन्याय को देखकर ही वीर और बुद्ध ने इस प्रकार की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उन्होंने उपदेश दिया कि "सब ही मनुष्य एक समान गर्भ में रहते हैं, बढ़ते हैं और उत्पन्न होते है। जैसे वृक्ष, पशु, पक्षियों में विभिन्न जातीयता के लिंग मिलते हैं, वैसे लिंग विभिन्नता मनुष्यो में नहीं मिलती। दो भिन्न वर्णों के समागम से मनुष्य ही उत्पन्न होता है। अतः मनुष्यों में जन्म की अपेक्षा विभिन्न जातीयता की कल्पना नहीं जा सकती। जन्म से ब्राह्मण क्षत्री, शिल्पी, चोर, आदि नहीं होते, वह गुण से ही ऐसे ऐसे होते हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठता और नीचता भी अपने आचार-विचार पर ही निर्भर है।

अभिनिष्क्रमण से पूर्व

[भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होनेवाले 'महाश्रमण वर्धमान' काव्य का वह अंश जिसमें वर्धमान के गृहत्याग से पहिले की विचारधारा का वर्णन है]

पग अपना काम कर रहे थे
चित्त की चर्खी चल रही थी .
कि आए दो परिचर नजदीक
दास था, दासी भी थी साथ
किंतु दोनो ही थे अति वृद्ध
कांति साँवल, आकार मझोल
आँख थी छोटी, चेहरा गोल
हाथ में थे चाँदी के कडे
कमर में मामूली परिधान
पैर थे खाली, तन था रिक्त
प्यार से फिर भी दृग थे सिक्त
सामने आकर होकर नम्र
किया दोनो ने उन्हें प्रणाम
आ गई चिन्तनक्रम में मोड
थाम कर चित्त, चारिका छोड
पलँग पर गये वीर तब बैठ
रहे थे लटक चरण-अरविन्द
रत्ननख चक्रांकित अविनिन्द
स्नेह मे आ-नख आ-शिख देख
घोलकर वाणी में वात्सल्य
कहा बूढे ने·
जय हो कुँवर!
हो चुकी है अब आधी रात
और, तुम जाग रहे हो तात!
आ गई है क्या ऐसी बात
कि अपलक ही कर दोगे प्रात ?

और, आकर बिलकुल नजदीक
गये दोनों ही किंकर बैठ
ताकने लगे वीर की ओर
कि शशि को ज्यो अतिमुग्ध चकोर
हेरने लगते हैं अनिमेष

वीर भी तो गहरे दृग डाल
देखने लगे उन्हें तत्काल
कि होकर कोई ज्यों तल्लीन
कहीं डाले गभीर निगाह...
तनिक रुककर होकर सुप्रीत
पकड़ दोनों ने उनके पैर
लिए अपने कंधों पर डाल
चापने हौले हौले लगे
वीर अपना सोचने लगे
चित्त की चर्खी चलने लगी .

रहोगे तुम क्या सदा गुलाम ?
हमेशा खाओगे उच्छिष्ट ?
बेंचते रहेंगे पशु की भांति
अरे, कब तक तुमको ये लोग ?
हाय पाकर भी मानव देह
तुम्हारा यों बदतर है हाल
तनिक भी 'चीं-चूं' किया कि नहीं
खींच लेते हैं जिन्दा खाल
श्रेष्ठ है तुमसे श्वान-बिडाल
सुखी हैं तुमसे कीट-पतङ्ग
राख की कीमत तुमसे अधिक
तुम्हारे लिए देव भी वधिक. ..

बीच में सहसा छूकर कान
और, दाप् से कुछ जीभ निकाल
वृद्ध बोला :
छोटे सरकार !
क्षमा हो चाकर का अपराध
टोकने का कुछ है अधिकार ?
क्यों नहीं—कहा वीर ने तुरत
गड़ाकर बेचारे पर आँख :
क्या नहीं है, तुमको अधिकार
मनुज तुम भी, मैं भी हूँ मनुज
महल्लक, कहो नहीं 'सरकार'
तुम्ही सा मैं भी हूँ सामान्य
मुझे मत समझो देव-कुमार
इतर साधारण मैं हूँ मनुज
नन्दिवर्धन लिच्छवि का अनुज .....

इस तरह कहते कहते कुँवर
खींच कर चट् से दोनों पैर

पलँग पर बैठे पल्थी मार
सुभग सुन्दर कनकोज्ज्वल देह
देखते रह गये दासी-दास
कि ज्यों शशि के प्रति मुग्ध चकोर
ताकते रह जाते अ-निमेष...
उन्नमित भ्रू का पा संकेत
दास बोला :

करना जी माफ,
समझ में अपनी आती नहीं
हमें उल्टे होता आश्चर्य
पहेली सी लगती यह बात
शाम से ही मैं हूँ हैरान
खिन्न हो तुम क्यों हे श्रीमान्
मुझे तो होता है आश्चर्य
तात ! तुमको कैसा परिताप ?
जलन कैसी, कैसा यह शोक ?
भुवन भर में अतिशय स्पृहणीय
राजकुल में पाया है जन्म
हाय, होकर भी गण-सन्तान
घटाते हो अपना दिन-मान !
सुदुर्लभ भोग, अकटक सौख्य
विलक्षण तनु चम्पक अवदात
और पाकर यह वयस नवीन
देव, तुमको कैसा परिताप ?
जलन कैसी, कैसा अभिखेद ?

—नागार्जुन

ऋग्वेद में नदी-स्तुति सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या

डॉ० राजबली पाण्डेय

ऋग्वेद में नदी-स्तुति नाम का एक सूक्त (१०।७५) है इसमें प्रायः (जलों-नदियों) और विशेष कर सिन्धु नदी की स्तुति है। उसका ऋषि प्रैयमेध सिन्धुक्षित् है। इसका नदी देवता है। सूक्त के जिन मन्त्रों में नदियों के नाम आये हैं उनको नीचे उद्धृत किया जाता है :—

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ५ ॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिंधो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥ ६ ॥
ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिंधुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥ ७ ॥
स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥ ८ ॥

ऊपर के मंत्रों में आये हुये नदियों के नामों की सूची क्रमशः इस प्रकार दी जा सकती है—

(१) गङ्गा (प्रसिद्ध)
(२) यमुना (प्रसिद्ध)
(३) सरस्वती (सरसुती)
(४) शुतुद्रि (सतलज)
(५) परुष्णी (रावी)
(६) असिक्नी (चन्द्रभागा—चेनाब)
(७) वितस्ता (झेलम)
(८) मरुद्वृधा (६ और ७ की मिली हुई धारा)
(९) आर्जिकीया (संभवतः सिन्धु का ऊपरी भाग)
(१०) सुषोमा (सुवान)
(११) तृष्टामा (अनिश्चित)
(१२) सुसर्तु (सिन्धु की एक सहायक नदी)
(१३) रसा (अनिश्चित)
(१४) श्वेत्या ,,
(१५) सिन्धु (प्रसिद्ध)
(१६) कुभा (काबुल)
(१७) गोमती (गोमल)
(१८) क्रुमु (कुर्रम)
(१९) मेहत्नु (अनिश्चित)

प्रायः विद्वानों ने नदियों के नामों से यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय ऋग्वेद की रचना हुई थी उस समय आर्य लोग उत्तर भारत में

पूर्व में गङ्गा से लेकर पश्चिम में काबुल तक के प्रदेश से परिचित थे; क्योंकि ऋग्वेद में सरस्वती और उसके पश्चिम की नदियों के नाम अधिक आये हैं और गङ्गा और यमुना के बहुत कम (गङ्गा का केवल एक बार), इससे अनुमान होता है कि आर्य लोग अधिकांश सरस्वती के पश्चिम में ही बसते थे और यमुना और गङ्गा के बारे में उन्होंने केवल सुन रखा था। जो लोग यह जानते हैं कि आर्य विदेशी थे और उन्होंने पश्चिमोत्तर दर्रों से भारत में प्रवेश किया उनका यह भी कहना है कि इस सूक्त में नदियों की सूची से विदेशी आर्यों के आक्रमण और विस्तार का क्रम मालूम होता है (?) जो लोग सप्तसैन्धव प्रदेश (पंजाब, काश्मीर और सीमान्त प्रदेश) को आर्यों की आदि-भूमि मानते हैं उनकी धारणा है कि सरस्वती के पश्चिम काबुल तक का प्रदेश आर्यों का मूल निवासस्थान था और पूर्व में यमुना और गङ्गा की ओर वे बढ़ने का प्रयास कर रहे थे।

ऊपर के निष्कर्षों में सबसे बड़ा दोष यह है कि इनके समर्थक नदियों के क्रम पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते; सूक्त में नदियों का क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर है; गङ्गा सब से पूर्व की नदी और कुभा (काबुल) सबसे पश्चिम की। यदि नदियों के क्रम का किसी जाति के विस्तार क्रम से कोई सम्बन्ध है तो इससे यही अनुमान निकल सकता है कि जिस जाति का इन नदियों से सींची हुई भूमि पर आवास था उसका विस्तार पूर्व से पश्चिम की ओर हुआ। यह स्वाभाविक है कि जब किन्ही वस्तुओं की गणना की जाती है तो पहले निकट और परिचित वस्तु से प्रारम्भ कर गिनती दूर और कम परिचित पर समाप्त की जाती है। इस सूक्त में दिये हुये नदियों के क्रम से तो यही मालूम होता है कि इस सूक्त का ऋषि यद्यपि सिन्धु के किनारे पहुंच चुका था तथापि वह पूर्व की नदियों (गङ्गा-यमुना) से अधिक परिचित था। इसलिये नदियों की गणना गङ्गा से शुरू करता है। यदि आर्य इस देश में बाहर से पश्चिमोत्तर दर्रों के रास्ते से आये अथवा वे मूलतः सप्तसैन्धव के निवासी थे तो बड़े आश्चर्य की बात है कि वे नदियों की गिनती कुभा (काबुल) या परुष्णी (रावी) से प्रारम्भ न कर गङ्गा से शुरू करते हैं। आर्यों को विदेशी या सप्तसैन्धवी मानने वाले विद्वानों के द्वारा नदी-स्तुति सूक्त की जो व्याख्या की गई है वह निस्संदेह सदोष और भ्रान्त है। प्रस्तुत लेखक के मत में नदी-स्तुति सूक्त की ठीक व्याख्या करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(१) पहले तो मन से यह पूर्व धारणा निकालनी होगी कि आर्य विदेशी या सप्तसैन्धवी थे। (२) दूसरे जिस देश में नदी-स्तुति सूक्त लिखा गया है उस

वेद की वैदिक व्याख्या की पद्धति का सहारा लेना होगा । वास्तव में वेद जिसमें नदी-स्तुति सूक्त पाया जाता है, कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है उसका विषय काव्य, धर्म और दर्शन है; इसलिये उसमें जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वह बहुत ही थोड़ी और आनुषंगिक है। वेद की ऐतिहासिक व्याख्या की कुञ्जी वेद में नहीं, किन्तु भारतीय साहित्य की दूसरी धारा इतिहास पुराण में है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण के सहारे करना चाहिये:

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥" पद्म० ५।२।५०२ ।

[वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण की सहायता से करना चाहिये; वेद अल्पश्रुत (कम पढ़े लिखे–इतिहास–पुराण जैसा प्रसिद्ध साहित्य न पढ़े हुये) से डरता है कि वह मेरे ऊपर प्रहार करेगा (–मेरा अशुद्ध अर्थ करेगा)]।

अब देखना है कि भारतीय इतिहास-पुराण से नदी-स्तुति सूक्त पर क्या प्रकाश पड़ता है। सूक्त का ऋषि प्रैयमेध सिन्धुक्षित् है। वेद में केवल नाम के अतिरिक्त और कोई परिचय इस ऋषि का नहीं है; पञ्चविंश ब्राह्मण (१२।१२।६) में कहा गया है कि सिन्धुक्षित् एक राजन्यर्षि (राजर्षि) था जो बहुत दिनों तक अपने राज्य से निर्वासित था किन्तु अन्त में उसका पुनरावर्तन हुआ। परन्तु ब्राह्मण-ग्रंथ में भी इस बात का पता नहीं लगता कि सिन्धुक्षित् कहाँ का राजा था। सिन्धुक्षित् के स्थान और समय का पता पुराण से लगता है । भागवतपुराण के अनुसार भरतवंशी पाञ्चाल (गङ्गा-यमुना के दोआब) के राजा अजामीढ़ के वंशज प्रियमेध आदि द्विजाति थे—

"अजामीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ।" ९।२१।२१ ।

वैदिक ऋषि प्रैयमेध सिन्धुक्षित् अजामीढ़ का ही वंशज था। भारतीय इतिहास में राजकुमारों के निर्वासन और उनके द्वारा दूसरे प्रदेशों में विजय तथा राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाये जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि पाञ्चालनिवासी प्रैयमेध सिन्धुक्षित् गङ्गा के किनारे से चल कर पश्चिमी संयुक्त प्रान्त और पंजाब की नदियों को पार करता हुआ सिन्धु के किनारे पहुँचा हो और उसके पश्चिमी तट पर उतर कर उसमें पश्चिम से मिलने वाली सहायक नदियों से भी परिचित हो गया हो। सिन्धु नदी की समृद्धि, अश्व, रथ, अन्न और युद्ध का जो वर्णन वह करता है उससे मालूम होता है कि वह सिन्धु के किनारे विजेता के रूप में वर्तमान था।

"सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विन तेन वाज सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिन ॥"
—ऋग्वेद १०।७५।९।

सिन्धु नदी के विस्तार, शक्ति और समृद्धि देख कर सिन्धुक्षित् प्रभावित हुआ था, परन्तु जब नदियों की स्तुति उसने प्रारम्भ की तो उनकी गणना अपनी अधिकतम परिचित और मूलस्थान की निकटतम नदी गङ्गा से शुरू किया। इस प्रकार नदी-स्तुति सूक्त प्रैयमेध सिन्धुक्षित् की पश्चिमाभिमुख यात्रा का द्योतक है।

प्रैयमेध सिन्धुक्षित् जिस क्रम से नदी-स्तुति सूक्त की नदियों से परिचित हुआ था उसी क्रम से उससे पहले और पीछे भी मूलतः मध्यदेश की आर्यजातियां और राजवंश सरयू, गङ्गा और यमुना के किनारों से पश्चिम की ओर चल कर उनसे परिचित हुये थे। आर्य-जाति के इस पश्चिमाभिमुख विस्तार का इतिहास भी पुराणों में सुरक्षित है[1]। प्रश्न हो सकता है कि जब आर्य मूलतः मध्यदेश के निवासी थे और न केवल पश्चिम में परन्तु भारत के और भागों में भी उनका प्रसार हुआ था तो ऋग्वेद में भारत की और नदियों के नाम क्यों नहीं आते। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद का भौगोलिक और ऐतिहासिक सम्बन्ध अपने समय के सम्पूर्ण भारत से नहीं था। ऋग्वेद की रचना आर्य जाति की उन शाखाओं ने की थी जो प्रायः गङ्गा-यमुना से चल कर पश्चिम की ओर फैली थीं और जिनकी राजनीति और संस्कृति का केन्द्र सरस्वती नदी हो गयी थी। इसलिये स्वाभाविक था कि ऋग्वेद में गङ्गा के पश्चिमी प्रदेशों की नदियों के नामों का उल्लेख होता। आश्चर्य तो यह है, किस प्रकार विद्वानों ने नदी-स्तुति सूक्त से यह निष्कर्ष निकाला कि इस सूक्त में वर्णित नदियों का क्रम आर्यों के भारत के ऊपर आक्रमण और उनके पश्चिम से पूर्व की ओर विस्तार का द्योतक है! निष्कर्ष तो ठीक इसका उलटा निकलता है। यदि इस सूक्त का कोई सरल और भारतीय परम्परा से समर्थित ऐतिहासिक अर्थ हो सकता है तो यह कि आर्य-जाति की कुछ शाखाओं का विस्तार गङ्गा यमुना के किनारों से पश्चिमोत्तर की ओर कुभा (काबुल) तक हुआ था।

---

१ देखिये मेरा लेख—पुरानिक डेटा ऑन दि ओरिजिनल होम ऑफ़ नदि इण्डो-आर्यन्स; दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द २५ सं० २ जू १९४ ।

जीवनी कला

प्रो० महेशचन्द्र राय

[१]

बहुत दिन पहले एक अंग्रेज कहानीकार ने सुप्रसिद्ध हास्यरसिक चार्ली चैपलिन के बारे में एक निबन्ध लिखते हुए उन्हें (Tragic comedian) दुःखी हास्यरसिक का नाम दिया था और यह दिखलाया था कि रंगमंच पर पैर रखते ही जिन्हें देखकर दर्शक लोग हँसने लगते हैं यथार्थ में वह अपने जीवन में बहुत ही दुःखी हैं। आइरिश कवि येटस ने भी एक पुस्तक में मानव चरित्र के इस द्वन्द्वात्मक रूप का (Double Sidedness) का उल्लेख किया है। अत्यन्त कोमल भाव के परिपूर्ण चित्रण में जिसका समकक्ष कोई भी नहीं है वास्तव जीवन में वही व्यक्ति अत्यन्त हृदयहीन सिद्ध होता है। हमारे ही देश में बंगाल के एक प्रसिद्ध साहित्यिक के सम्बन्ध में ऐसा सुना जाता है कि अपने अधीन व्यक्तिओं के घर जला देने में भी उनको जरा संकोच नहीं होता था यद्यपि उनके लेखों में सहानुभूति और करुणा की बातें बहुत पायी जाती हैं। आधुनिक मनस्तत्त्व के आलोचकों ने भी इस सम्बन्ध में आलोचना की है। अस्तु, उस विषय में आलोचना करना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इस उपलक्ष्य में एक प्रश्न का उदय होता है कि व्यक्ति का यथार्थ परिचय कौन-सा है? किसी एक साहित्यिक के जीवन ही को लीजिए। उनने अपनी कृतियों में जिस रूप में अपने को व्यक्त किया है वही उनका यथार्थ व्यक्तित्व है अथवा वास्तव जीवन में लोगो के संस्पर्श में आकर उन्होंने अपने कर्म और व्यवहारों में जिस रूप में अपने को व्यक्त किया है वही उनका यथार्थ व्यक्तित्त्व है?

[२]

इसके पहले 'यथार्थ जीवनी' में मैंने यही बतलाने की कोशिश की है कि इन दोनों में से किसी को भी हम छोड़ नहीं सकते। सामंजस्य के खातिर से, सम्बद्धता को कायम रखने के लिहाज से यदि एक को छोड़ कर दूसरे को ही केवल दिखलाया जाय तो उससे ऐक्य की रक्षा हो सकती है पर सत्य की रक्षा नहीं हो सकती। मानव जीवन में परस्पर विरुद्ध विषयों का जो समावेश होता है जीवन के यथार्थ वैचित्र्य को दिखलाने में हमें उसे भूलना नहीं चाहिए।

हमें स्मरण रखना होगा कि एक ही मनुष्य के अन्दर परस्पर विरुद्ध भाव और कर्मों का जो आविर्भाव देखा जाता है उसके मूल में एक ही विचित्र मानव प्रकृति की लीला है। मानव प्रकृति के इस रहस्यमय केन्द्र को अगर हम मालूम कर सकें तो सभी विरोधी व्यापारों का एक व्यापक समन्वय करना संभव होता है। युक्तिप्रधान बुद्धि की सहायता से इस विचित्रता को पूरा समझना कहाँ तक संभव है हम कह नहीं सकते। इसीलिए संभवतः हमारे देश के लीलावादियों ने अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व की स्थापना की है। सार यह है कि जीवन पूरा पूरा बुद्धितत्त्व (Rationality) नहीं है। जीवन का कुछ अंश तो बुद्धि के अधीन है, परन्तु उसका एक विशाल अंश बुद्धि से परे है; आधुनिक मनस्तत्त्व ने भी इसे मान लिया है।

इसी लिए जीवन को पूर्ण रूप से समझना केवल युक्ति के द्वारा संभव नहीं है। उसे समझने के लिए अनुभूति की तीव्रता और गंभीरता भी चाहिए। यही कारण है सभी लोग सब मनुष्यों को समझ नहीं सकते। जिनमें प्रकृतिगत सादृश्य है (Temperamental affinity) है। वही लोग परस्पर को आसानी से समझ सकते हैं। किसी किसी मनुष्य में प्रकृतिगत विचित्रता बहुत ही अधिक होती है, उसमें भिन्न भिन्न प्रकृतियों के उपादानों का समावेश होता है और इसीसे वे विचित्र प्रकार के मनुष्यों को समझ सकते हैं और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति लाखों में एकाध होते हैं। साधारणतः हम लोग तरह तरह के लोगों को समझ नहीं सकते। यों तो प्रतिदिन कितने प्रकार के मनुष्यों से हम परिचित होते रहते है परन्तु कितने व्यक्तियों के साथ हमारा अन्तरंग और और घनिष्ठ परिचय होता है? लेकिन जिसके चरित्र के साथ हमारा सादृश्य रहता है हम कितनी आसानी से उसके चालचलन और स्वभाव को समझ जाते है।

इस गहरे परिचय से मामूली परिचय में जमीन आसमान का फर्क है। परन्तु परिचय बहुत गहरा होने पर भी उसे व्यक्त करना सब के लिए संभव नहीं है। रूप-कर्म अथवा रूपायन (Expression) की शक्ति एक विशेष शक्ति होती है। उसे हम लोग कलाकार की प्रतिभा भी कहते हैं।

[३]

जो अपने ज्ञान और अनुभव को रूपान्वित कर और दस व्यक्तियों की सहानुभूति को आकृष्ट कर सकते हैं उन्हें हम कलाकार कहते हैं। प्रकृतिगत विचित्रता के अनुपात से कलाकार का क्षेत्र संकीर्ण अथवा विस्तीर्ण हो

सकता है किन्तु रूपायन की शक्ति रहने पर कलाकार अपने अनुभव के विषय को रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं।

अगर किसी व्यक्ति के जीवन को चाहे वह वास्तव हो अथवा काल्पनिक—रूपायित करना है तो उसके लिए यथार्थ कलाकार होने की भी आवश्यकता है।

जीवनी-रचना के क्षेत्र में जब किसी कलाकार लेखक का आविर्भाव होता है तो हम जीवनी में एक समग्ररूप में प्राप्त होते हैं। किसी व्यक्ति के जीवन के प्रति जब कोई कलाकार आकृष्ट होता है तो सब से पहले वह उस जीवन के रहस्य-केन्द्र को निकालने की कोशिश करता है। कलाकार अपनी अन्तर्दृष्टि से उस जीवन की सारी घटनाओं में जो ऐक्य और समग्रता है उसे वह देख सकते हैं। इस दृष्टि से कलाकार-रचित जीवनी, यथार्थ हो चाहे न हो, एक नवीन सृष्टि होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सृष्टि की वस्तुगत सत्ता (Objective reality) और ऐतिहासिक सत्ता रहे अथवा न रहे, सृष्टि प्राथमिक रूप से स्रष्टा के ही दृष्टिकोण का परिचय है और संभवतः स्रष्टा के अन्तर्जगत् का भी परिचायक है। पहले ही कहा गया है कि (Temperamental affinity) अर्थात् प्रकृतिगत सादृश्य परस्पर को समझने में सहायक होता है। इसीलिए जब कलाकार अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रकृतिवाले किसी व्यक्ति की जीवनी को ग्रहण करते हैं तो उसके यथार्थ होने की बहुत कुछ संभावना रहती है।

हाल में जीवनी रचना के क्षेत्र में यथार्थ कलाकारों का आविर्भाव हो रहा है। आजकल जीवनी केवल किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का विशद और धारावाहिक वर्णन मात्र ही नहीं है; वरन घटना बाहुल्य को यथासंभव वर्जन कर व्यक्ति को प्राणपूर्ण रूप में व्यक्त करना ही आधुनिक जीवन-शिल्पी का आदर्श है। कलाकार के लिए व्यक्ति केवल कुछ मानसिक दोषगुणों की समष्टि नहीं है। उनके लिए व्यक्ति का एक इन्द्रियग्राह्य रूप है, उसके बोलने चालने का ढंग, उसके कंठस्वर की विशेषता भी उसे खींचती है। इसीलिए कलाकार जब किसी व्यक्ति को हमारे सामने उपस्थित करते हैं, उस समय उस व्यक्ति को मानो हम अपनी आँखों से देखते हैं और उसकी बातचीत को अपने कानों से सुनते हैं। सचमुच, किसी व्यक्ति को जानते समय यदि उसकी इन्द्रियग्राह्य विशेषताओं को हम छोड़ दें तो उस व्यक्ति का बहुत कुछ छूट जायगा। एक व्यक्ति के साथ किसी दूसरे व्यक्ति का कलह हो रहा है, इसका वर्णन करते समय कलाकार को केवल उन दोनों की बातचीत का विवरण देने से ही नहीं चलेगा,

उन दोनों की अन्य चेष्टाओं को भी चित्रित करना पड़ेगा। शरत् बाबू के पल्ली-समाज में कलह का यथार्थ वर्णन मिलता है। उस वर्णन में वहाँ के लोगों का चित्र कैसा स्पष्ट हो उठता है!

किसी व्यक्ति की जरा सी मुसकराहट, जरा सा होठों का हिलाना, हाथ का जरा हिलाना, कुछ कहते समय गले की आवाज में थोड़ा सा कम्पन इन सब चेष्टाओं से उसकी बातचीत कितनी विशिष्ट, और विचित्र रूपान्तर को प्राप्त होती है। कलाकार व्यक्ति के इन्द्रियग्राह्य रूप की जो विचित्रता है उसका आस्वादन करते हैं और दूसरों को उसका आस्वादन कराते भी हैं।

[४]

कलाकार का झुकाव रूपायन की ओर होता है और इसी लिए उनकी लिखी जीवनी कुछ उपन्यास जैसी हो जाती है। उपन्यास में हम काल्पनिक मनुष्यों को साक्षात् प्राप्त होते हैं, परन्तु वह मनुष्य यदि 'रूपवान' न हो (चाहे वह सुन्दर हो अथवा कदाकार हो), जीवित-सा न प्रतीत हो तो वह उपन्यास यथार्थ में उपन्यास कहलाने योग्य ही नहीं होता। कलाकार की लिखी हुई जीवनी में भी हम इसी तरह एक विशेष व्यक्ति के और उसी के साथ और भी बहुतसे मनुष्यों के जीवित रूप को प्राप्त करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास एक विशेष श्रेणी की पुस्तक है। उसके साथ इस जीवनी का जिसे हम जीवनी-कला कहेंगे क्या सम्बन्ध है इसे अगर संक्षेप में बताया जाय तो कहा जा सकता है कि जीवनी औपन्यासिक इतिहास है। ऐतिहासिक उपन्यास मूलतः उपन्यास ही है, सुतराम् उसमें काल्पनिक चरित्रों का समावेश करने का पर्याप्त अवकाश मिल सकता है परन्तु औपन्यासिक इतिहास अर्थात् जीवनी मूलतः वास्तव मनुष्य की यथार्थ जीवनी है; उसमें कल्पना का अवकाश तो है लेकिन उसमें काल्पनिक घटना अथवा चरित्र का कोई स्थान नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यास को इतिहास की घटना और उस युग की विशेष प्रकृति को स्वीकार तो करना पड़ता ही है परन्तु तथापि उसके साथ यदि औपन्यासिक अपनी इच्छानुसार कुछ काल्पनिक चरित्रों को भी जोड़ दें तो उसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। 'यह तो उपन्यास है' यह कहने पर ही उन्हें हम रिहा कर देते हैं। बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र, आदि लेखकों के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसके काफी प्रमाण मिलेंगे।

परन्तु औपन्यासिक जीवनी के लेखकों को मूलतः ऐतिहासिक ही होना पड़ेगा अर्थात् घटना और तथ्यों की अवहेलना कर वह एक कदम भी

आगे नहीं बढ़ सकते। बिलकुल मनगढ़न्त कोई भी बयान जीवनी के चरित्र से नहीं दिलाया जा सकता। उसके प्रत्येक वार्तालाप अथवा उक्ति के पीछे पक्की गवाही चाहिए; चिट्ठीपत्री, आत्मकथा अथवा दूसरों के दिये हुए विवरणों से उस व्यक्ति के बातचीत, चालचलन, पहनाव, हंसी-मजाक और बोलचाल करने के ढंग का प्रमाण देना होगा। कवि की तरह निरंकुश (निरंकुशाः कवयः) होने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।

इससे ऐसा मालूम हो सकता है कि जीवनीकार का रास्ता बहुत ही संकीर्ण है और उनकी गति कभी स्वच्छन्द और अनायास नहीं हो सकती। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। काव्य के छन्दों के जो नियम जिस प्रकार लोगों को कठिन शृंखला-से मालूम होते हैं, यह भी वैसा ही। यथार्थ कवि छन्दों के कठोर बन्धनों को स्वीकार कर ही अपनी सृष्टि के अनुपम सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं, इसी तरह औपन्यासिक जीवनीकार भी घटना-मूलक तथ्यों के बन्धन को मान कर ही व्यक्तिचरित्र का निर्माण करते हैं।

[५]

सृष्टि के माने ही नवीन सृष्टि है। जिसमें अभिनवत्व नहीं है हम अनुकरण कह कर उसकी निन्दा करते हैं। जीवनीकार जो जीवनी लिखते हैं वह भी एक सृष्टि है। इसी लिए तथ्य का आधार एक होने पर भी दो भिन्न भिन्न कलाकार जब एक ही व्यक्ति की जीवनी को लिखते हैं तो उनमें भिन्नता आ जाती है। अंग्रेज लेखक फिलिप गुएडाल्ला ने कहा है जीवनी एक प्रकार की चित्रकला है, 'पोर्ट्रेट पेन्टिंग' (Portrait Painting) है *। हमारी भाषा में 'पोर्ट्रेट पेन्टिंग' की क्या परिभाषा है, मुझे मालूम नहीं। हमारे कलाकारों ने अभी तक इसका स्वदेशी नामकरण नहीं किया है। लेकिन जो लोग इस कला के बारे में कुछ जानते हैं उन्हें यह मालूम है कि पोर्ट्रेट अर्थात् व्यक्ति विशेष का चित्र खींचना फोटोग्राफी का ही एक कठिन नामान्तर मात्र नहीं है। किसी व्यक्ति का जो रूप दृष्टिगोचर होता है उसकी हूबहू नकल करने से ही कोई कलाकार सार्थक नहीं हो सकता। कलाकार के उस चित्र में उस व्यक्ति की जो चारित्रिक विशेषता है उसे परिस्फुट करना होता है। मुझे यहां पर एक सुन्दर दृष्टान्त याद आ रहा है। बहुत दिन हुए मैंने स्वर्गीय आशुतोष मुकर्जी की एक तसवीर देखी थी

---

* Philip Guedalla says - "Biography is the painting of portraits . . . . . it is impossible to paint them without a touch of art."—Twentieth Century Literature p. 200.

जो कि लकड़ी के कोयले से खींची गई थी और उसके नीचे Bengal Tiger (बंगाल का शेर) लि । हुआ था। आशुबाबू के फोटो तो न जाने कितने हैं, परन्तु वह चित्र और सब चित्रों से बिलकुल स्वतंत्र था । कलाकार के जादू ने इस चित्र में एक ऐसी विशेषता ला दी थी कि सचमुच में उसे देख कर वे बंगाल के शेर ही मालूम होते थे । अकस्मात् देखने से संभवतः फोटो से पोर्ट्रेट की भिन्नता समझ में नहीं भी आती, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से दोनों में जो अन्तर है वह भी मालूम हो सकता है।

मैंने कलाकार की जादू की बात कही है, इसे जरा अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। पोर्ट्रेट अथवा व्यक्तिचित्रकला की प्राथमिक दशा में कलाकार केवल बाहरी रूप के अनुकरण से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं परन्तु इस कला में कुछ अग्रसर होने पर कलकार को यह समझना पड़ता है कि केवल अनुकरण से चित्र कला नहीं होता; अनुकरण के अलावा कलाकार को 'और भी कुछ' करना पड़ता है। इसीलिए फोटोग्राफी की इतनी उन्नति होने पर भी पोर्ट्रेट-कला का खात्मा नहीं हुआ।

इस 'और भी कुछ' को मैंने कलाकार का जादू कहा है। इसी से चित्र में पोर्ट्रेट की विशेषता और मर्यादा आती है। यह जादू क्या चीज है ?

कोई व्यक्ति जब हमारी दृष्टि को आकर्षित करता है तो हम उसको पूरा पूरा देखते हैं, यह अत्यन्त गर्व की बात है और संभवतः असंभव भी है। पर संभवतः यह कहना असत्य न होगा कि जभी कोई व्यक्ति हमारी दृष्टि को खींचता है तो वह व्यक्ति हमारे लिए विशिष्ट हो उठता है; उस व्यक्ति की कोई न कोई विशेषता उसके व्यक्तित्व को, उसके चरित्र को अपूर्व कर देती है और उसी अपूर्वता की दीप्ति से वह उज्ज्वल हो उठता है। प्रत्येक कलाकार व्यक्ति की जो चारित्रिक विशिष्टता है उसे अपनी सृष्टि में व्यक्त करने की कोशिश करता है। परन्तु एक व्यक्ति के अन्दर दो कलाकार एक ही विशेषता को देखेंगे ऐसी बात नहीं है; वरन यही अधिक संभव है कि दो भिन्न भिन्न कलाकार एक ही मनुष्य के अन्दर भिन्न भिन्न प्रकार की चारित्रिक विशेषताओं को देखेंगे और इसीलिए उनके चित्र भी स्वतंत्र होंगे। इस चारित्रिक विशेषता को जो व्यक्ति जितना स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकेगा वह उतना ही बड़ा कलाकार माना जायगा।

पोर्ट्रेट-कला की मौलिक बात यही character interpretation अथवा चारित्रिक विशेषता का प्रदर्शन है। परन्तु इस विशेषता को दिखलाने के लिए व्यक्ति का जो वास्तव बाहरी रूप है उसे बदलने अथवा विकृत करने का अधिकार पोर्ट्रेट- कलाकार का नहीं है। (चित्र-

कला में वह अधिकार केवल Cartoonist कार्टून अथवा हास्यरसिक चित्रकार को है और साहित्य में हास्यरसिक को होता है।) व्यक्ति का जो वास्तव रूप है उसी की एक विशेष स्थिति के द्वारा कलाकार को उसके चारित्रिक वैशिष्ट्य को व्यक्त करना पड़ता है और इसी के द्वारा प्रत्येक पोर्ट्रेट कलाकार अपनी दृष्टि की विशेषता और कला के जादू को दिखलाता है।

[६]

आधुनिक युग की जीवनी कला को हम इस दृष्टि से पोर्ट्रेट-कला का साहित्यिक सहोदर कह सकते हैं। किसी काल्पनिक व्यक्ति और वास्तव मनुष्य के चित्रों में जो प्रभेद है, उपन्यास और औपन्यासिक जीवनी में भी वही प्रभेद है। कला की दृष्टि से दोनों को बराबर कह सकते हैं, पर नीतिवादी की दृष्टि में दोनों में बहुत अन्तर है। काल्पनिक चरित्रों का प्रभाव नीतिवादी अधिक स्वीकार करना चाहते हैं; इसीसे वास्तव चरित्र का मूल्य उनकी दृष्टि में बहुत अधिक है। वास्तव चरित्र को आदर्श बनाना ही नीतिवादी का लक्ष्य है। 'आदर्श जीवनी' लिखने की प्रेरणा मूलतः उसी नीतिवादी की प्रेरणा है। लेकिन औपन्यासिक जीवनी से नीतिवादी को विशेष सहायता मिलने की आशा नहीं है। नीतिवादी आदर्श मनुष्य की, बिलकुल निर्दोष मनुष्य की सृष्टि करना चाहते हैं। वह जिस मनुष्य के चित्र को हमारे सामने रखना चाहते हैं जिसमें भले बुरे का, आलोक और अन्धकार का सम्मिश्रण बिलकुल नहीं है जो कि एक स्वाभाविक मनुष्य में अवश्यम्भावी है। इस नीतिवादी का काल्पनिक 'आदर्श चरित्र' एक गौरव और महिमा है जो अयथार्थ है।

औपन्यासिक जीवनीकार इस प्रकार के विशुद्ध और आदर्श चरित्र की सृष्टि नहीं करते; उनके लिए जीवन चाहे और जो कुछ हो, वह दोष-त्रुटि से कभी भी वर्जित नहीं है। किसी महान् चरित्र को दिखलाते समय भी वह उसकी मानसिक क्षुद्रता और दोष त्रुटिओं को अन्धकार में कभी छिपा कर नहीं रखते। नीतिवादी इससे क्षुण्ण हो सकते हैं पर हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इससे नीतिवादी का जो उद्देश्य है वह और भी अधिक सफल हो सकता है।

नीतिवादी के लिए जीवनी का स्थान उपन्यास के ऊपर इस लिए है कि काल्पनिक चरित्र को कितना भी वास्तव के रूप में क्यों न खींचा जाय वह अन्त तक पाठक के लिए काल्पनिक ही रह जाता है। परन्तु वास्तव चरित्र के सम्बन्ध में हमारे मन में यह दृढ़ विश्वास रहता है कि मनुष्यों में ऐसे

बात संभव हुई है और इसीलिए फिर भी संभव हो सकती है। उपन्यास से औपन्यासिक जीवनी को इसी लिए श्रेष्ठ कहा जा सकता है। 'आदर्श जीवनी' पर यदि विश्वास किया भी जाय—(हमलोगों में से कोई भी आदर्श जीवनी की विशुद्धता पर विश्वास करते हैं कि नहीं इस में बहुत ही सन्देह है)—तो भी आदर्श जीवन से हम लोगों के जीवन का इतना अधिक अन्तर रहता है कि उस कारण आदर्श जीवनी से हमें अधिक उत्साह और आशा नहीं मिलती है। एक दृष्टान्त लीजिए; स्वामी विवेकानन्द की जीवनी को कभी कभी आदर्श जीवनी के रूप में उपस्थित करने की चेष्टा हुई है। इससे हम देखते हैं कि जन्म से ही वह किसी देवता के अवतार रूप में आविर्भूत है, शुरू से ही वह एक अतिमानव है, उनका जीवन साधारण मनुष्य का जीवन जैसा संग्रामपूर्ण नहीं है, उनका जीवन मानो एक देवता की लीला मात्र है। इससे नीतिवादी का जो उद्देश्य है—साधारण मनुष्य को उन्नत जीवन के प्रति आकृष्ट करना-वह व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि जो देवता की लीला है उसका अनुकरण करना साधारण मनुष्य के लिए कैसे संभव हो सकता है? 'आदर्श जीवनी' लिखने की व्यर्थता इसीमें है।

इससे औपन्यासिक जीवनी हम लोगों को बहुत ज्यादा आनन्द और उद्दीपना दे सकती है। क्योंकि इस जीवनी का प्रधान उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है। एक मनुष्य का जीवन उसकी भलाई और बुराइयों के अपूर्व सम्मिश्रण से किस प्रकार उसके चरित्र को विकास की ओर ले चला है, यह दिखलाना ही उस जीवनी का उद्देश्य है। हम साधारण मनुष्य हैं; हमारे ही तरह दोष गुणों से भरा हुआ (केवल गुणों से नहीं) एक मनुष्य किस प्रकार महत्त्व को प्राप्त हो रहा है जब हम इसे देखते हैं तो आनन्द के साथ ही साथ हमें और एक लाभ होता है, हमें जीवन संग्राम में उद्दीपना मिलती है। कला का मुख्य उद्देश्य नैतिक नहीं है, रूपायन की प्रेरणा से ही कलाकार सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं। किसी मनुष्य का जीवन जब एक समग्ररूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है उस समय उस समग्रता को देख कर एक सौन्दर्य की उपलब्धि होती है और हमको आनन्द होता है। किन्तु गौण रूप से यह जीवन हमें केवल कला का आनन्द ही नहीं देता है, हमको संग्राम की ओर प्रेरित करता है और अपने जीवन को भी उज्ज्वल बनाने के लिए उत्साहित करता है।

वे पागल थे ?

ज्ञानचन्द्र भारिल्ल

बरस रही थी आग गगन से,
भूतल झुलसा सा जाता था
कैसे, जैसे—
दावानल से लता कुंज,
या कुसुम-देह प्रज्वलित चिता से।
सूखी नदियों की चंचलता
नीरवता में समा गई थी,
निर्झर का स्वच्छन्द हास भी
लुटा चुका था अपना सब कुछ,
मानो—लूट न ले ग्रीष्मातप
कहीं सजलता सब भूतल की
इसीलिए भोली वसुधा ने
नद, निर्झर, वापी, तालों को
निज आंचल में छिपा लिया था।

*

किसी विजन में कोई मृग-दम्पति
रहते थे, बेसुध, खोए से
परस्पर आकर्षण में,
प्रभात की पहली किरण को
दोनों साथ चूमते थे.
स्नेह—मदिरा में डूबी उनकी आँखें
निशा आगमन पर
स्वप्न का आवाहन
साथ ही साथ करती थीं,
सारांश—
कि वे दो तन एक प्राण थे।
किन्तु जब आग बरसने लगी,
जल सूख गया. और पृथ्वी जलने लगी,
प्यास से व्याकुल उनके प्राण
उनकी बड़ी, भोली आँखों में आकर
एक दूसरे को झाँकने लगे,
चुल्लूभर पानी उन्होंने कहाँ नहीं खोजा ?
देह क्षीण हो चली

अपने नही—दूसरे के प्राण-रक्षण के लिए
वे लालायित थे।
आखिर एक छोटे से गढ्ढे में
कुछ जल देख आशा जगी,
अधिक नही बस रहा होगा
उसमें दो घूँट पानी
जिसे पीकर जीवित रह सकता था
बस एक प्राणी—
कि मृगी बोल उठी
'प्रिय! तुम्हारे प्राण अमूल्य हैं
तुम इसे पी लो, पी लो'
किन्तु मृग सिहर उठा
प्रियतमा से हीन उसके प्राण
आह! समझा कर बोला—
'प्रिये! तुम्हारे अस्तित्व में सृष्टि है
तुम्हें जीवित रहना होगा
दो घूंट जल है—तुम इसे पी लो'।
और इसी स्नेह-मनुहार में समय बीत चला,
सूखी बालू में जल सूख चला
और शेष वहाँ बच रहे
चमकते हुए सिकता कण।
कि भोले पशुओ के कोमल प्राण
भूख प्यास से लडते तो कब तक?
एक लम्बी उसांस, और
मृगी तडप उठी,
कि कुछ क्षण मौन वेदना के आंसू की
अँजलि दे, प्रेमी मृग की निर्जीव देह
प्रिया की शान्त गोद में
ढुलक पडी।
कि बात पुरानी हो चुकी
किन्तु अब भी जब किन्ही मूक घडियो में
कवि अन्तर से पूछता है
कि वे क्या थे?
तो जाने कौन धीमे से कह देता है—
वे प्रेमी थे—पागल थे।

महत्ता का स्रोत

श्री ऋषभदास राँका

प्रत्येक व्यक्ति ऊँचा उठना चाहता है—महान् होना चाहता है। उसकी हार्दिक महत्त्वाकांक्षा होती है कि उसे सन्मान मिले, उसकी प्रतिष्ठा हो। यह स्वाभाविक ही है। आत्मा को अनन्त शक्तिसंपन्न तथा ऊर्ध्वगामी माना गया है। और यह आत्मा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहती है। आत्मा का स्वभाव है, अनन्त ज्ञान और सुखमय रहना और इसी की प्राप्ति के लिए जगत् का प्राणी प्रयत्नशील रहता है। लेकिन इच्छा और प्रवृत्ति की प्रबलता तथा प्रयत्न की सचेष्टता के बावजूद भी बहुत कम आत्माएँ अपना विकास कर पाती हैं। बहुत कम आदमी महत्ता के सिरे पर पहुँच पाते हैं। हम विचार करें कि ऐसा क्यों होता है।

स्वयं-स्फूर्ति या निजी-प्रेरणा से विकास-पथ पर अग्रसर होने वाली आत्मा युगों में एकाध होती है। सर्वसाधारण का जीवन अपने चारों ओर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से आकर्षित और अनुप्राणित होता है। जगत् तो लेन-देन का बाजार है। इसीके सहयोग पर सम्पूर्ण व्यवहार होता है। युग, वातावरण या परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने वाले बहुत कम होते हैं। जो ऐसे हैं वे कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपनी सार्थकता सिद्ध कर जाते हैं। कालान्तर में यही आत्माएँ तीर्थंकर, तथागत, अवतार अथवा देव कहलाती हैं। जगत् का सामान्य प्राणी इन आत्माओं से ही प्रेरणा लेता है और आगे बढ़ता है। जिसे अपनी उन्नति की चाह नहीं है उसे प्रेरणा लेने की जरूरत नहीं होती, और न ऐसों को प्रेरणा दी ही जा सकती है। हम मान लेते हैं कि हमें जीवन का सर्वोच्च और शाश्वत आनन्द प्राप्त करना है, क्योंकि हम चाहते हैं कि महत्ता की प्राप्ति इसी प्रकार हो सकती है। लेकिन प्रश्न यह है कि किसे महान् माना जाय जिससे प्रेरणा ली जा सके? क्यों कि यह एक ऐसी दुनिया है जिसमें व्यक्ति का अहं और उसकी माया अपना ऐन्द्रजालिक वैभव लेकर बाजार में खड़ी रहती है। अधिकांशतः होता यह है कि बेचारा उन्नति का इच्छुक भोला प्राणी उसकी चकाचौंध में फंस जाता है। इसलिए अपने मार्ग पर प्रकाश पाने के लिए, सहारा पाने के लिए, शक्ति पाने के लिए किन

महान् व्यक्तियों के जीवन से प्रेरणा ली जाय, इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

महापुरुष देश और काल की सीमा से परे होते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में जन-हित और आत्मकल्याण की दृष्टि रहती है। उनकी महत्ता सार्वदेशिक और सार्वकालिक होती है। यों दुष्टता और क्रूरता भी सीमा-पर पहुंच कर बड़ी हो जाती है लेकिन ये व्यक्ति को कलंकित रूप में ही जीवित रख सकती है; इसलिए इन्हें क्षुद्रता ही कहा जा सकता है। राम से लोहा लेनेवाला रावण कोई कम महान् नहीं था, उसकी भी स्मृति उतनी ही प्रबल है जितनी राम की। राम को जानने वाला रावण को भूल नहीं सकता। लेकिन, रावण की महत्ता (?) इतनी ही है कि वह अहंता से ऊपर नहीं उठ पाता। अतएव महान् व्यक्ति या महापुरुष हम उसे ही कह सकते हैं जिसकी प्रेरणा निरन्तर नवीन रूप में विकासोन्मुख प्राणी को उत्साहित और आनन्दित करती रहे। महान् वह है जिसका जीवन प्राणि-कल्याण में निरन्तर व्यस्त रहा हो, जिसने स्वयं को भी जागतिक आशा-प्रत्याशाओं से ऊंचे उठा लिया है। वह अपने को जगत् से विलग कर लेता है, लेकिन जनता उसे अपने में समेट लेती है।

लेकिन सामान्य और अल्प शक्तिमान् प्राणी की कुछ सीमाएं होती हैं। अपनी सीमा में ही वह अपने लिए प्रकाश और पथ पा सकता है। क्षेत्रगत और कालगत उसकी दृष्टि सीमित होती है। हम भारतवासियों के लिए इसी देश के महापुरुष का जीवन प्रेरणाप्रद और लाभप्रद हो सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि महापुरुष भी अपने क्षेत्र और काल की विशेषताओं से ही अपने लिए साधन जुटाते हैं। अपने पास-पड़ोस के क्षेत्र और परिस्थितियों से जैसा हवा-पानी उन्हें मिलता है, उसीका ग्रहण भावी पीढ़ी कर सकती है।

भारतवर्ष में अनेकों महापुरुष सहस्रों वर्षों में हुए हैं। प्रत्येक के जीवन की भिन्न भिन्न विशेषताएँ हमें देखने को मिल सकती हैं। पौराणिक काल, ऐतिहासिक काल और वर्तमान काल में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का सांगोपांग अध्ययन कर जो अनुभव हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं, वे आज भी प्रेरणादायी हो सकते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात है कि हमारे पूर्वजों ने उनके जीवन को अनुकरण के स्थान पर केवल पूजा के योग्य बना दिया है। ज्ञात नहीं, किस भक्त के हृदय में यह विचार सर्व प्रथम उद्भूत हुआ कि महापुरुष के जीवन को मानवता से ऊंचे उठा कर अतिमानवता या अतिशयों की रंगीनी से अलं-

कुंठित कर दिया जाय। भले ही उन भक्तों की दृष्टि यह रही हो कि इससे उनकी महत्ता और भी वृद्धिगत हो सकेगी, लेकिन जहाँ यह चित्र भक्तों को आकर्षित कर सकता है, वहाँ उससे उन्नति के पथिक को मार्ग नहीं मिल सकता। हमने अपने जन-नेताओं को इतना ऊंचा बिठा दिया कि वहाँ तक हमारी पहुंच ही नहीं हो सकती। चमत्कारों और अतिशयों की बहुलता में हमारे मार्ग में इतना अधिक प्रकाश फैल गया कि देखना भी कठिन हो गया। वास्तविकता यानी जन-हृदय से वे दूर हो गए। राम और कृष्ण हमारे देश के बहुत बड़े जनसेवक थे। लेकिन वे इतने अलौकिक बना दिए गए कि बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों को इस दृष्टिका विरोध करना पड़ा। उन्होंने कहा था कि मानवता की स्वाभाविक सीमासे परे कोई भी महापुरुष नहीं होता। लेकिन यह भी कम अचरज की बात नहीं है कि बुद्ध और महावीर पर इस अलौकिकता का आवरण कुछ गहरा ही डाला गया है। महात्मा गांधीजी इस युग के महापुरुष थे। लेकिन विद्वान् की यह शंका, दो-एक शताब्दियों में मूर्तिमती हुए बिना नहीं रहेगी कि लोग शायद ही सोचेंगे कि ऐसा पुरुष दो हाथ-पैर वाला होकर जमीन पर चल-फिर भी सकता है। मतलब, गांधीजी को भी अलौकिकता के आवरण में कैद कर दिया जायगा।

कहाँ तो ऐसे महापुरुष हमें सन्मार्ग पर चलाने आते हैं, हमें अपनी भूल सुझाते हैं और जीवन-निर्माण की अर्थात् आत्म-शक्ति को प्रकट करते हैं; और कहाँ उनके भक्त हैं जो उनमें लोकोत्तरता स्थापित कर अस्वाभाविक रूप में ईश्वरत्व की कल्पना कर लेते हैं। इन्हें भगवान् कह कर हम याचक बन जाते हैं। अपनी लौकिक सिद्धियों के लिए उनसे याचना करते हैं, उनकी मनौतियाँ मनाते हैं। सचमुच यह उन जैसे महापुरुषों का अवर्णवाद है, उनका यह अपमान है। हमारी समझ और संस्कारों की यह भूल है। वे तो अपना कल्याण कर चले गए और रास्ता बना गए। अपने सिद्धान्त के वे स्वयं उदाहरण बने थे। अब उनसे मांगना तो परावलम्बन है, पाप है। इसे कोई भक्ति भले ही कहे, यह है वास्तव में स्वार्थ। भला विचार करने की बात है कि जिन महापुरुषों का हृदय प्राणी-मात्र के प्रति दया, समता और प्रमुदता से भरा था, उनसे हम याचना करते हैं कि यदि हमारे शत्रु का नाश हो जायगा तो इतना रुपया, मिठाई आपके चरणों पर भेंट चढ़ाई जाएगी। अगर यह भक्ति है तो इसे एक क्षण-मात्र में जल भुन कर खाक हो जाना चाहिए।

इसलिए अपने महापुरुषों के जीवनपर आवेष्टित चमत्कार-पूर्ण जाल को

दूर कर उनके कर्ममय जीवन को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारी श्रद्धा उनके चमत्कारों पर नहीं, उनके जीवनव्यापी कार्यों पर होनी चाहिए, और केवल श्रद्धा ही नहीं, उन कार्यों के भीतर उनकी जो-जो भावनाएँ रही हों, उनमें अपने को समरस करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। वन-शोभा से परिपूर्ण चित्र के आगे मनौतियाँ मनाने या उसका अवलोकन करने मात्र से जिस प्रकार पर्यटन का लाभ और फलों का आस्वाद नहीं मिल सकता, उसी प्रकार स्वयं के जीवन को कर्म-मय बनाए बिना भगवान् की मनौतियों के लिए रिश्वत में अटूट धन चढ़ाने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता। जो ऐसा करते हैं वे बड़ी भूल में हैं या फिर निपट आलसी और स्वार्थी हैं।

भगवान् महावीर और बुद्ध दोनों राजपुत्र थे। उन्हें समस्त प्रकार का सांसारिक सुख और उसके साधन समुपलब्ध थे। लेकिन उन्हें इससे सन्तोष नहीं हुआ। गृहत्याग करके उन्होंने दुखों से मुक्त होने का मार्ग ढूंढ़ा। वर्षों की कठोर साधना के उपरान्त उन्हें चिरन्तन सुख का मार्ग मिला। जबतक वे सुख के मार्ग को खोज नहीं पाए, बिलकुल मौन रहे और जो भी संकट आए उन्हें समता और धीरता से सहा। लेकिन उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ कि वे अपने कल्याण का मार्ग पा गए। उनका हृदय तो जन-जन के दुखों से करुण था। यही उनकी विशेषता थी। रामके जीवनको शुद्ध आंखो से पढ़ने पर प्रतीत होता है कि गरीब और दुखी जनता को अपने समान बनाने और उन्हें अपनाने में उन्होंने जो कुछ किया वही उनकी महत्ता थी। कृष्ण ने अपने जीवन से कर्मयोग का पाठ सिखाया। तुच्छ से तुच्छ और महान् से महान् कार्यों के लिए कृष्ण तैयार रहते थे। लेकिन कर्म में अनासक्ति कृष्ण की विशेषता थी। इस तरह यदि महापुरुषों के जीवन से शिक्षा ली जाय तो उनकी पूजा सार्थक हो सकती है।

अपने आपको लोक-नेता और लोक-सेवक बता कर महत्ता की कोटि में अपने को खड़ा करने का प्रयत्न करने वालो से इतिहास भरा पड़ा है। लेकिन यथार्थ में महान् वे ही होते हैं जो दुखी जनता को सुख का सच्चा रास्ता बताते हैं। महापुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे जनता को उसकी ही वस्तु बतला देते हैं, जिसे वह भूली होती है। वे सच्चे लोक-शिक्षक होते हैं। जनता के दुख-दर्द को समझने के लिए दूर-दूर तक भ्रमण करते हैं, कष्ट सहन करते हैं, जनता से संपर्क स्थापित करते हैं, और इस तरह जब वे वास्तविक स्थिति समझ लेते हैं, तब उपदेश करते हैं। उनकी शिक्षा इतनी सरल और सहज होती है कि श्रोता

अपनी ही परिस्थिति और वातावरण में से अपनी उन्नति के साधन सुगमतासे जुटा सकता है। भ० महावीर की वाणी पशु तक समझ लेते थे, इसका अर्थ यही तो है कि पशु-पक्षी तक से उन्हें प्यार था। वे उन्हें इस तरह पुचकारते और प्यार करते थे कि पशु-पक्षी उन्हें अपना हितैषी समझने लगते। तत्कालीन यज्ञ-यागादि की भीषणता का वातावरण इस वात्सल्य की कल्पना दे सकता है।

इस युग के महापुरुष बापू को ही लें। उन्होंने जो कुछ किया वह आत्मकल्याण के लिए ही किया था। लेकिन वह जो कुछ करते वह जनता को ऐसा लगता था मानो उसका स्वयं का वह कार्य हो। जनता की की आकांक्षा को समझ कर बापू राजनीति में कूद पड़े। अनेकों संकट सहे। जिनके वैयक्तिक स्वार्थों पर कुठाराघात होता था, वे उनका विरोध भी करते रहे। यही हाल महावीर और बुद्ध का भी था। लेकिन विशाल जन-हृदय का प्रतिनिधि होता है महापुरुष। वह ऐसे संकटों को खुशी से सहता है। क्यों कि वह जानता है कि स्वार्थों का विरोध स्थायी और सच्चा नहीं होता। जन-हितैषी को जनता अपने आप अपना लेती है। इसी कारण हम बुद्ध और महावीर को नहीं भूल सके और बापू को भी करोड़ों जनों का सहयोग मिला, जनता उनकी अनुयायिनी बन कर रही।

इसलिए जिन्हें महान् बनना हो, लोक-नायक बनना हो, उन्हें आत्मकल्याण का प्रयत्न निस्पृह बन कर करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे जनता की सुप्त-शक्ति को इस प्रकार जाग्रत करें कि उसे ज्ञात भी न होने पाए कि उपदेष्टा की कोई अपेक्षा इसमें काम कर रही है। इसके लिए लोकमानस के गहरे अध्ययन और साधना की आवश्यकता है। आने वाले संकटों में परम धीर बन कर और मिलने वाले सुखों में नितांत निस्पृह रह कर जो जनसेवा करेगा, लोक-नायकता या महत्ता का गौरव उसे ही मिलेगा। यही एक ऐसा स्रोत है जो हमें महत्ता तक पहुंचा सकता है।

—:oo:—

विदेशों में अहिंसातत्त्व की मान्यता

श्री कामताप्रसाद जैन

'अहिंसातत्त्व का विकास भारत में हुआ'—यदि यह कहा जावे तो अनुचित नहीं है। जब अनेक देश अज्ञान-तम में भटक रहे थे, तब भारत में ज्ञान-सूर्य चमक रहा था। भारतीय ज्ञान-परम्परा गंगा और सिन्धु की तरह द्वैत रूप में यहाँ धारावाहिक बहती आई है। वह चाहे ब्राह्मण-परम्परा रही हो और चाहे श्रमण-परम्परा; दोनों ही परम्पराएँ अहिंसा को आगे रख कर ही चली हैं। वास्तव में वेद अलंकृत भाषा में रचे हुये आर्य-विद्वज्जनों की अनूठी साहित्यिक कृतियाँ हैं। उनके अलंकारों को समझने का प्रयास जैसा चाहिये वैसा नहीं हुआ। यही कारण है कि लोग वेदों के मत्थे हिंसा विधान भी मढ़ते हैं। उधर ब्राह्मण और श्रमण-दोनों ही परम्पराएँ यह बात एक स्वर से घोषित करती हैं कि मूलतः वैदिक क्रिया-कांड में पशु बलि के लिये स्थान नहीं था—वैदिक ऋषिगण धान्य से ही यज्ञ-याग रचते थे। उपरान्त काल में ही वेदों में हिंसा-विधान प्रक्षिप्त किया गया था। 'महाभारत' में यही लिखा है[1] और श्रमण-परम्परा के जैन[2] और बौद्ध[3] शास्त्र भी यही बताते हैं। तो यह मानना उचित है कि प्राचीन भारत में प्रत्येक मत ने अहिंसा-तत्त्व को मान्य और विवेचित किया था। भारत से ही यह तत्त्व विदेशों में पहुंचा प्रतीत होता है। उपलब्ध भारतीय साहित्य में 'छान्दोग्य उपनिषद्' और जैन 'आचाराङ्ग सूत्र' में अहिंसा का उल्लेख हुआ मिलता है। निस्सन्देह श्रमण-परम्परा में जैन तीर्थंकरों द्वारा ही अहिंसा-तत्त्व को व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया गया था—अब तक जैनसंघ में एक भी ऐसा दृष्टान्त अहिंसा के व्यावहारिक व्यतिरेक का पोषक नहीं मिलता, जिससे कोई कह सके कि जैन हिंसक रहे। गौतम बुद्ध अपनी दयालु-हृदयता के लिये प्रसिद्ध थे; किन्तु उनके शिष्यों को मृत-मांस ग्रहण करने में संकोच न रहा! जैनों ही को यह श्रेय है कि उन्होंने अहिंसा-तत्त्व का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रतिपालन अक्षुण्ण रूप में किया है!

---

१ शान्तिपर्व २७१।११-१३ ।

२ हरिवंशपुराण में नारद-पर्वत-संवाद ।

३. सुत्तनिपात—सप्तम ब्राह्मणधम्मसुत्त S. B. E. X. II. 47-52 ।

विदेशों में चीन और यूनान ही ऐसे देश हैं जो भारत के निकट सम्पर्क में भ० महावीर और बुद्ध के समय में ही आ गये थे। यूं तो तब ईरान वाले भी भारत से सम्बन्धित थे, ईरान तब भारत से सटा हुआ देश था; क्यों कि उस समय भारत अफगानिस्तान तक विस्तृत था। ईरान में पहले जरथस्त के समय से पशुओं की बलि चढ़ाने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु भ० महावीर के उपदेश का ही यह प्रभाव हो सकता है कि जरथस्त द्वितीय ने अहिंसक बलिदानों का विधान किया[1]। किन्तु चीन में हम देखते हैं कि म० ताओ और म० कनफ्यूशस अहिंसा का का उपदेश देते हैं। चीनी विद्वान् 'जेन' (मैत्री) शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते थे। उपरान्त मनकी (Mencius) आदि चीनी सन्तों ने भी अहिंसा का उपदेश दिया था। उन्होंने राजनीति में भी उसका प्रवेश कराया था। वह राजाओं को उपदेश देते थे कि वे हिंसक युद्ध न लड़ें। एक महात्मा ने जब यह सुना कि दो राजाओं में युद्ध होगा, तो वह २० दिन पैदल चल कर उस राजा के पास पहुंचे जो आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था और उसे अहिंसा का महत्त्व बताकर युद्ध करने से रोका[2]। जैन परम्परा में भरत और बाहुबलि का उदाहरण जैन विद्वानों की व्यावहारिक अहिंसा नीति की हमें याद दिलाता है। जैन-मंत्रियों ने निरर्थक रक्तपात को रोककर अहिंसा का प्रयोग राजनीति में भी महत्त्वशाली है, यह सिद्ध कर दिया था। चीन के महात्माओ ने भी यही किया था। उन्होंने भारत से सांस्कृतिक ज्ञान जो प्राप्त किया था[3]। चीन की ही तरह यूनान के तत्त्ववेत्ता भी भारत के निकट सम्पर्क में एक प्राचीनकाल से आये हुये थे। सिकन्दर महान् के आक्रमण के बहुत पहले से ही यूनान का सांस्कृतिक सम्बन्ध भारत से था। यूनानी तत्त्ववेत्ता भारत आते जाते रहते थे और भारतीय विचारधारा से प्रभावित होते थे। पियागोर (Pythagoras) के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने श्रमण-सूफियों से तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। किन्हीं विद्वानों का अनुमान है कि २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शिष्यपरंपरा में जिन पिहिताश्रव मुनि का उल्लेख है वह पियागोर से अभिन्न है[4]। जो हो, इन यूनानी तत्त्ववेत्ता ने अहिंसा-धर्म का प्रचार अपने

---

१ जैन ऐंटीक्वेरी, भा० ११ पृ० १४–१९।

२ भ० महावीर स्मृति ग्रंथ (आगरा) में प्रो० तान युन-शान का अंग्रेजी लेख देखो।

३. The Ancient Accounts of India & China, *Renaudot*, p.p. 35-37

४ ब्र० शीतलप्रसाद कृत 'विद्यार्थी जैनधर्म शिक्षा' देखो।

देश में किया था और स्वयं शाकाहारी रह कर लोगों के हृदयों पर शाकाहार की महत्ता अंकित कर दी थी। उनके शिष्य प्लूटार्क (Plutarch) ने भी अहिंसा का उपदेश दिया था। उनके अनुयायी लोगों में अहिंसा की मान्यता बहुत दिनों तक रही थी। इसके कुछ समय पश्चात् दूसरे तत्त्ववेत्ता पिर्हो (Pyrrho) भी भारत आये थे और उन्होंने जैन श्रमणों से शिक्षा ग्रहण की थी। अपने देश को लौट जाने पर उन्होंने इलिस नामक स्थान में रह कर अहिंसा धर्म का प्रचार किया था[1]। इस प्रचार की प्रतिक्रिया रोमन साम्राज्य पर हुई। रोम के लोग वासना में फंस कर मांस-मद्य और कामिनी के भोग में अंधे हो गये थे। नैतिक पतन के साथ राष्ट्र का स्वास्थ्य भी बिगड़ गया था। इस विषम परिस्थिति में कुछ सूझबूझ के रोमन लोगों ने अहिंसा को अपनाया और शाकाहारी जीवन बिता कर पुनः शक्ति प्राप्त करने का उद्योग किया। इस प्रकार जीवन शक्ति प्राप्त करने के कारण वे 'वेजीटेरियन' (Vegetarian) कहलाये। लैटिन (Latin) भाषा में 'वेजीटेयर' (Vegetare) शब्द का अर्थ पुनर्जीवन-शक्ति प्राप्त (enliven) करना होता है। किन्तु आज 'वेजीटेरियन' शब्द केवल शाकाहारी मानव को व्यक्त करता है। इससे एक बात स्पष्ट है कि प्राचीन रोमन लोग शाकाहार को जीवन शक्ति प्रदायक भोजन मानते थे। बात भी बिल्कुल ठीक है। जैन धर्मानुयायी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जैन कट्टर निरामिषभोजी रहे हैं। उस पर भी उनमें महान् तत्त्ववेत्ता और विचारक ही नहीं, महान् सेनापति, योद्धा और राजमंत्री भी हुये हैं। अलबत्ता जैन कभी क्रूर नहीं हुये उन्होंने अपने शत्रुओं के प्रति भी प्रतिहिंसा नहीं, प्रेम का व्यवहार किया। रोमन लोगों ने अहिंसाकी इस अमोघ शक्ति को पहिचान कर उस को अपने जीवनोत्थान का साधन बनाया था। स्वतंत्र भारत भी आज अहिंसातत्त्व को समक्ष कर और उसे व्यवहार में ला कर ही उन्नत हो सकता है।

तत्त्ववेत्ता प्लेटो (Plato) ने तो अहिंसा का मार्मिक विवेचन किया था। उन्होंने युद्ध की जड़ मांसभक्षण बताया था। आज का संसार प्लेटो की विचारसरणी का अनुसरण करे तो युद्ध का अन्त कर सकता है। भारत के राष्ट्रपिता ने अहिंसा की इस अमोघ शक्ति को व्यावहारिक जीवन में सिद्ध कर दिखाया था। प्राचीन भारत के नरेशों ने भी अहिंसा धर्म को विश्वव्यापी सुखशान्ति के लिये आवश्यक मान कर उसका प्रचार देश-विदेश में किया था। मौर्य सम्राट् अशोक ने तो इस धर्मप्रचार के

१. Historical Gleanings, P. 76.

लिये अपने शासन-प्रबन्ध में एक अलग विभाग ही स्थापित किया था और अपने धर्मरज्जुक विदेशों को भी भेजे थे। अशोक ने जिस धर्म का अथवा धार्मिक संस्कारों का प्रचार किया था, वे सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित नहीं थे। उनका संकलन सार्वधर्मभाव के आधार पर किया गया था[१]। अशोक ने अपने सप्तम स्तंभ लेख में लिखा है कि उनके पूर्वजों ने भी धर्म-प्रचार किया था। इसका अर्थ यह होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दु-सार ने भी धर्मप्रचार कराया था। इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनगुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे और अन्तिम जीवन में वह स्वयं जैन मुनि होकर धर्मप्रचार करते हुये विचरे थे[२]। सम्राट् सम्प्रति और सालिसूक के विषय में यह सर्वविदित है कि उन्होंने जैन श्रमणों के विहार करने की व्यवस्था कराई थी। जैन श्रमण अरब और ईरान में धर्मप्रचार करने के लिये गये थे[3]। भारतीय नरेशों में यह प्रवृत्ति उपरान्त-काल तक रही प्रतीत होती है, क्योंकि सन् ८० में सोपारक से जब एक भारतीय राष्ट्रदूत यूनान को गये तो उनके साथ एक श्रमणाचार्य भी गये, जो नग्न रहते थे। उन्होंने यूनान में अहिंसा संस्कृति का प्रचार करते हुये अथेन्स (Athens) नगर में समाधिमरण किया था[४]। भारत के राज-दूता-वास आज प्रायः प्रत्येक देश में हैं—उनमें सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक विद्वान् भी रहता है। यदि यह लोग चाहें तो सारे विश्व में एक बार फिर अहिंसा धर्म का प्रभाव फैला कर सुखशान्ति का मार्ग सिरज सकते हैं। गांधी जी भी यही चाहते थे।

ईसामसीह के विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने भारत के हिमालय प्रदेश में रहकर बौद्ध और जैन श्रमणों के निकट तत्त्वों का अध्ययन किया था[५]। जो हो; इसमें सन्देह नहीं कि म० ईसा अहिंसा धर्म के कट्टर अनुयायी थे। बाइबिल में उन्होंने जिन सिद्धांतों का उपदेश दिया है, वे जैन सिद्धांतों के अनुकूल हैं[६]। म० ईसा स्वयं निरामिषभोजी थे और उन्होंने बाइबिल में मानव का भोजन शाकाहार घोषित किया था।

---

१ "जैनधर्म और सम्राट् अशोक" नामक हमारा निबन्ध देखो।

२. Smith, Early History of India, P. 154

३ Ibid P. 196 परिशिष्ट पर्व देखो।

४ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भा० २ पृ० २९३।

५ तिब्बत के हिमिन मठ से रूसी पर्यटक नोटोविच ने एक पाली भाषा का ग्रन्थ प्राप्त किया था। उससे स्पष्ट है कि वह 'भारत तथा भोट देश आकर अज्ञातवास में अवस्थान और जैन एवं बौद्ध साधुओं के साथ साक्षात्कार किया था।' हिन्दी विश्वकोष भा० ३ पृ० १२८।

६. बैरिस्टर चम्पतराय कृत "जैनिज्म, क्रिश्चियानिटी, साइंस" आदि पुस्तकें देखिए।

सम्यग्दर्शन : एक दृष्टि

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

[१]

सम्यक्दर्शन एक दृष्टि है, एक दिशा है, एक धारा है। यह जानने पर भी बहुत कुछ जानना शेष रह जाता है। जिज्ञासा बच्ची नहीं है जो यूं ही बहल जाय और आज के विज्ञान-युग में तो वह बड़ी ही हठीली हो गई है। जिज्ञासा का यह हठ कि मानव बुद्धि परिभाषाओं में न उलझ कर गहराई में जाए और यह देखे कि मल या विकार क्या है जो दृष्टि को मलिन या विकृत बनाता है। वह भ्रम क्या है जो दिशा को बिगाड़ता है, वह विष क्या है जो धारा के स्वच्छ जल को विषाक्त बनाता है? बाह्य दासताओं से मुक्त होने पर मानव बुद्धि पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाती है, पर क्या सत्यशोधन या सम्यक्त्व ग्रहण के लिए इतना ही पर्याप्त है ? क्या यह आवश्यक नहीं है कि वह बुद्धि अन्तःकरण की व्यक्त व अव्यक्त तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म वासनाओं व विकारों की दासता से मुक्त हो? क्या यह जरूरी नहीं है कि संस्कारों व परिस्थितियों के कारण जिन दीवारों के बीच उसका कार्यक्षेत्र घिर गया है तथा जिन बन्धनों ने उसकी शक्तियों को क्षीण व अकर्मण्य बना दिया है वे दूर हों। क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है कि मानव बुद्धि बाह्य तथा अन्तःसृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करे और इसके लिए उसकी एकाग्रता, धृति, अनासक्ति, निर्विकारिता आदि गुण इतनी प्रचुर मात्रा व विकसित अवस्था में हो कि वह अपनी आदर्श सृष्टि का निर्माण कर सके तथा व्यक्तिगत, वर्गीय, जातीय, साम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय आदि अनेक सकुचित स्वार्थों व परम्परागत विचारों एवं संस्कारों से ऊपर उठकर परिस्थिति को भी जो वास्तव में मानवबुद्धि की गुरु है, मार्ग दिखाने और इस तरह परिस्थिति रूप गुरु का ही गुरु बनने का काम कर सके। इस तरह और भी बहुत से प्रश्न खड़े हो जाते हैं और यह जरूरी हो जाता है कि व्यवस्थित रूप से दर्शन-विशुद्धि या दृष्टि-शुद्धि के वास्तविक स्वरूप को उलट पलट कर तथा सभी दिशाओं व अपेक्षाओं से देखभाल कर ऐसी सभी शंकाओं का समाधान करने का एक मार्ग पा लिया जाय। यह खोज ही यहाँ हमारा लक्ष्य है।

सम्यग्दर्शन कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका विश्लेषण रासायनिक पदार्थों

की तरह किया जा सके। जल हाइड्रोजन या आक्सीजन इन दो गैसों के विशेष अनुपात में संयुक्त होने से बनता है पर सम्यग्दर्शन किसी की अपेक्षा से और किसी भी अनुपात में, किन्हीं भी अवयवों का ऐसा कोई संयोग नहीं है कि नपे तुले रूप में उसका हिसाब दिया जा सके या कुछ सुनिश्चित विभागों या अंगों में विभक्त करके उसका ठीक ठीक विवेचन किया जा सके। सम्यग्दर्शन एक बहती हुई धारा है जिसकी सार्थकता इसी में है कि वह बहती रहे और मानव जीवन को सदैव रसप्लावित बनाती रहे। सम्यग्दर्शन एक ऐसी दृष्टि है जो जहाँ भी पड़े वहीं से असत्य, मिथ्यात्व व विकृति के ढेर में से सत्य को निकाल ले और उसे ग्रहण कर ले। ऐसी दृष्टि या धारा के कैसे विभाग, और कैसे अंग और कैसे टुकड़े ? वह अखण्ड है, असीमित है और अनन्त है। हाँ, विषय के स्पष्टीकरण के लिए अङ्ग-विभाजन-निरूपण की पद्धति को काम में लिया जा सकता है।

हम यहाँ सम्यग्दर्शन को कुछ विभागों में बाँटेंगे और एक एक विभाग को सम्यग्दर्शन का एक-एक लक्षण कहेंगे। लक्षणों का क्रम महत्व या उपयोगिता की न्यूनाधिकता का क्रम नहीं है। एक-एक लक्षण समान रूप से महत्त्वपूर्ण है, उसका न होना दृष्टि को असत्य या मलिन बनाने के लिए पर्याप्त है। कोई भी एक लक्षण होने से ही दृष्टि सत्य दृष्टि नहीं हो सकती, फिर इन लक्षणों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। मूलतः वे सभी एक हैं। समझने के लिए हम उन्हें अलग अलग लेंगे पर फिर भी उनके बीच सुनिश्चित सीमाएँ खींचना असम्भव ही है। एक बात और है। लक्षणों की संख्या का प्रश्न मुख्य नहीं है। कोई न्यूनाधिक संख्या सुनिश्चित करके भी सम्यग्दर्शन का विवेचन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यही उपयुक्त जँचता है कि पहिले से ही लक्षण संख्या सुनिश्चित करके विचारधारा के सहज प्रवाह को न रोका जाए बल्कि एक-एक लक्षण को लेते हुए आगे बढ़ा जाय। हम इसी शैली से यहाँ काम लेंगे।

पहिला लक्षण

दृष्टि सार्वत्रिक हो, वह विशाल हो, अधिक से अधिक व्यापक हो, विश्वव्याप्त हो। विचार का विषय कितने भी संकीर्ण से संकीर्ण क्षेत्र या जन समुदाय से सम्बन्धित हो उसकी पृष्ठभूमि अखिल विश्व हो। समस्या कोई भी हो, कितनी भी बड़ी या छोटी हो, वह विश्वसमस्या का एक अङ्ग हो।

प्रश्न—विश्व से आपका क्या प्रयोजन है ? कोई इस गोलाकार भूमि को ही विश्व समझते हैं ; कोई तीन लोक मानते हैं, कोई असंख्य लोक मानते हैं।

फिर जैसे-जैसे खोज होती जाती है, ज्ञात विश्व का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। ऐसी अनिश्चित विवादग्रस्त विश्वविषयक धारणा को लेकर कैसे दृष्टि-विस्तार का विषय माना जा सकता है ?

उत्तर--विश्व से हमारा अभिप्राय मनुष्य द्वारा ज्ञात क्षेत्र से है । प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष के भेद को वैयक्तिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नहीं दिया जा सकता पर सामूहिक रूप से जो जगत् प्रत्यक्ष है वास्तव में वही विश्व है और हमारी दृष्टि के विस्तार का विषय भी वही होना चाहिए । अज्ञात क्षेत्र दृष्टि का विषय बन भी कैसे सकता है। रही कल्पना या कोरी श्रद्धा या विश्वास की बात, सो इसमें कोई प्राण नहीं है । सत्यदृष्टि कल्पना या या श्रद्धा के विषयों के आधार पर टिक कर काम नहीं किया करती। कल्पना को लेकर वास्तविक के प्रति उपेक्षा या सच्चाई का खून हो यह कौन सी तुक है ? अज्ञात की बलिवेदी पर ज्ञात का बलिदान करना कहाँ की बुद्धिमानी है ? रह जाता है यह प्रश्न कि ज्ञात विश्व का क्षेत्र परिवर्द्धनशील है। ठीक है। एक समय अमरीका हम लोगों के लिए ज्ञात विश्व का अङ्ग नहीं था इसलिए उस समय दृष्टि अमरीका को न देखकर भी विश्वव्याप्त हो सकती थी पर आज अमरीका की एक चप्पा भूमि छोड़कर भी दृष्टि विश्व व्याप्त नहीं बन सकती। चन्द्रमा तक अभी हम नहीं पहुँच सके हैं और न चन्द्रलोक का हाल ही विश्वसनीय रूप से कुछ मालूम है और न हम किसी तरह चन्द्रलोक में बसनेवाले (यदि वहाँ प्राणी हैं) प्राणियों के जीवन को प्रभावित ही कर सकते हैं। इसलिए आज की विश्व-व्याप्त दृष्टि का विषय चन्द्रलोक नहीं बन सकता। पर कल वहाँ मनुष्य पहुँच जाय और उस जगत् का इस जगत् से नाता जुड़ जाय तब दृष्टि को विश्व-व्याप्त होने के लिए चन्द्रजगत् को भी अपने क्षेत्र में लेना होगा। समय-समय पर यह क्षेत्र बढ़ सकता है और आखिर यह नियम तो हर समय ही लागू हो सकता है कि जितना भी ज्ञात जगत् में है वह सभी दृष्टि-विस्तार का क्षेत्र हो। एक समय का ज्ञात जगत् उस समय की दृष्टि का क्षेत्र हो, तभी वह सत्य दृष्टि है।

प्रश्न--एक संकुचित क्षेत्र या जनसमुदाय से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए सारे विश्व को सामने रखना किस तरह उपयोगी है ? आखिर एक वर्ग विशेष की आवश्यकताएँ व परिस्थितियाँ उसकी अपनी हैं, सारे विश्व से उन्हें बाँधना कहाँ तक ठीक है ?

उत्तर--किसी स्थान या वर्ग विशेष के प्रश्न उसकी विशेष परिस्थितियों व आवश्यकताओं को सामने रखकर ही हल किये जा सकते हैं। पर

आवश्यकता इस बात की है कि वे प्रश्न इस तरह सुलझें कि और नये प्रश्न या उससे भी कठिनतर प्रश्न न खड़े हो जायें और यह तभी सम्भव है जब कि वे इस तरह सुलझाये जायें कि सामूहिक रूप से वे विश्वहित का साधन करें या एक स्थान या वर्ग विशेष का कल्याण करते हुए सामूहिक रूप से विश्व का अकल्याण न करें। एक भाग का विशेष लाभ अन्य भागों के लिए हानिप्रद हो तो उसमें सम्पूर्ण का अलाभ ही है। आवश्यकता या औचित्य की सीमा से अधिक लाभ हानि ही है। उदाहरण के तौर पर राष्ट्रीयता को ले लीजिये जो आज एक जीता जागता प्रश्न है। राष्ट्रीयता के औचित्य की सीमा से अधिक लाभ की भावना ही साम्राज्यवाद या फासिस्ट-वाद की जन्मदात्री है। अपने को मनुष्य--केवल मनुष्य--मानकर एक दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि जो विनाशकारी शस्त्रास्त्रों या अणुबमों के निर्माण में मनुष्य की अपार शक्ति का अपव्यय हो रहा है, हाल ही में जो खून की नदियाँ बहाई गई हैं और अभी भी जो नरसंहार होता ही रहता है, तथा युद्ध के बादल जो अभी भी मंडराते रहते हैं, उसका कारण है राष्ट्रीयता का उन्माद! इसकी तह में जो शोषणकारी अर्थ व्यवस्था है उसको भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता बल्कि सच तो यह है कि राष्ट्रीयता के इस उन्माद की जड़ें वहीं हैं। पर खैर, राष्ट्रीयता का भूत सभी पर सवार है। यूं दुनिया भर की भलाई की बातें सभी करते हैं और उसकी ठेकेदारी का दम भी भरते हैं पर कितने ऐसे हैं जिनकी नियत साफ है? कुछ को छोड़कर सभी तेरे-मेरे के द्वन्द्व में पड़कर और हिंसा-प्रतिहिंसा के भावों को लेकर अपने-अपने ढंग से इस दुनिया के रङ्गमञ्च पर नाच रहे हैं। आज का यह मनुष्याकार जन्तु पहिले एक राष्ट्र का नागरिक है फिर मनुष्य है। वह भूल गया है कि मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है—जन्म, जीवन और मृत्यु से मनुष्य है, मूलतः मनुष्य है, इसलिए उसे मनुष्य की हैसियत से ही अपने को और दुनिया को देखना चाहिए। हो सकता है ऐसी मानव दृष्टि कभी राष्ट्रीयता के अनुकूल हो, कभी प्रतिकूल हो। सिद्धान्त की दृष्टि से राष्ट्रीयता न अच्छी ही है न बुरी ही है। वह मानव-हित या विश्वहित के अनुकूल हो तब अच्छी है, प्रतिकूल हो तब बुरी है। जब भी राष्ट्रीयता उन्माद में आए तभी उसपर लगाम लगानी चाहिए, उसे न बहकने देना चाहिए। गुलाम राष्ट्र आजादी के लिए लड़े तो उसकी राष्ट्रीयता विश्वहित के अनुकूल है और वह ऐसी महान् है कि उसके लिए प्राणों का उत्सर्ग भी गौरव का विषय है लेकिन यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या उसका शोषण करने के लिए प्रयत्न करे तो वह राष्ट्रीयता विश्वहित के

प्रतिकूल है और उसके विरुद्ध संघर्ष करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस तरह विश्व को अपने सामने रखते हुए और किसी भी राष्ट्र विशेष को उसके एक अङ्ग के रूप में देखते हुए उस राष्ट्र की समस्याओं को समुचित व निर्दोष रूप से सुलझाया जा सकता है, केवल उस राष्ट्र को ही सामने रख कर उन समस्याओं को सुलझाया जायगा तो ठीक-ठीक निर्णय न हो सकेगा। फिर, इस तरह की पद्धति से हमारी दृष्टि और भी निखरेगी, यहाँ तक कि फिर हम देशों और राष्ट्रों का भेद मिटा कर सपूर्ण संसार को ही एक राष्ट्र का रूप देने की ओर ध्यान देंगे और इस मार्ग में जितनी भी बाधाएँ हैं उन्हें दूर करने की ओर अग्रसर होंगे। खैर, इसी तरह और छोटी छोटी समस्याओं को सुलझाने के लिये हमें इस नीति से काम लेना होगा। एक राष्ट्र के भीतर के छोटे छोटे प्रश्नों को हल करने के लिए मानवतामयी राष्ट्रीयता के बृहद् प्रश्न को सामने रखना होगा। अपने ही देश को हम लें। यूं हम कितने ही अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनें पर हम राष्ट्रीयता के आदर्श से काफी गिरे हुए हैं। हमारी सारी वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ, सारी शुभ-भावनाएँ व आकाक्षाएँ तथा हमारा सारा जीवन परिवार, वंश व छोटे छोटे समुदायों में इतनी बुरी तरह जकड़ गया है कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ जो मनुष्यत्व प्रेरित आत्मीयता का सहज प्राकृतिक सम्बन्ध है उसे स्वीकार करने के लिए हमारे पास न खुला दिल है न दिमाग। अपने अपने तुच्छ और क्षणिक स्वार्थों को लेकर डेढ़ ईंट की अलग मस्जिद बनाने में ही हम अपना गौरव समझते हैं। जातिमद, सम्प्रदायमद, कुलमद तथा ऊँच नीच की क्षुद्र भावनाएँ जिनमें भरी हुई हैं उनमें राष्ट्रीयता चमड़े तक भले ही हो पर उनकी खाल उधेड़ी जाय तो भीतर साम्प्रदायिकता, जातीयता और न जाने कितनी सकुचित वृत्तियाँ दिखलाई देंगी। साथ ही वे लोग जिन्हें गरीबों का तथा किसानों और मजदूरों का शोषण करते हुए न संकोच है और न शर्म है, जो काले बाजार के खूनी डाकू हैं और जिन्हें अपने छोटे छोटे स्वार्थों के लिए दीन दुखियों की आँसू भरी आँखों और दर्दभरी आहों का कुछ भी ध्यान नहीं है, वे क्या राष्ट्रीय हैं? कितने ऐसे माई के लाल हैं जो मनुष्य तो क्या भारतीय ही पहिले हों। प्रायः यहाँ लोग भारतीय भी बहुत पीछे हैं। इससे भी पहले वे हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कायस्थ, शेख, पठान आदि और इससे भी पहले हैं सरयूपारी, कान्यकुब्ज, गौड, मालवीय, राजपूत, चौहान, श्रीवास्तव, माथुर, सक्सेना, भटनागर, अग्रवाल, खंडेलवाल, ओसवाल, सुन्नी, शिया, मोमिन और न जाने क्या क्या? और इससे भी पहले वह जो कुछ है सभ्यता के नाते वह न लिखना ही ठीक

हैं। इस तरह एक व्यापक दृष्टि को लेकर जब हम छोटी चीजों को देखेंगे तभी हमें वास्तविकता का ठीक पता चल सकेगा। कुएँ का मेढक कुएँ को ही सागर समझ कर जो कुछ सोच सकेगा उसका वास्तविक मूल्य क्या है ? कितने भी संकुचित क्षेत्र से अपेक्षित प्रश्न पर विचार किया जाय उसमें हानि नहीं है, हानि है संकुचित क्षेत्र में घिर कर विचार करने से। विषय की संकीर्णता बुरी नहीं है दृष्टि की संकीर्णता बुरी है। सत्य या सम्यक्त्व पाने की यह पहली शर्त है कि दृष्टि अधिक से अधिक विशाल हो, विश्वव्याप्त हो। यहाँ तक कि व्यक्ति के निजी प्रश्नों या व्यक्तित्व की अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए भी अथवा एक एक व्यक्ति के स्वापेक्षित प्रश्नों को हल करने के लिए भी इसी व्यापक दृष्टिकोण से काम लेना होगा। यूं भी कह सकते हैं कि निजत्व के प्रश्न को परत्व में घटा कर देखने से ही वास्तविक निज-पर-हित का प्रश्न हल हो सकेगा और उस परत्व का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, हितसाधन उतना ही वास्तविक व स्थायी होगा।

(क्रमशः)

निर्देश

बढ़ चल जीवन-साथी

व्यथा-भार क्यों लेकर चलता
पथ-कण्टक तुमको क्यों खलता
शूलों में ही फूल मनोहर
खिलते सुरभित साथी,
बढ़ चल जीवन-साथी

शशि मुस्काता घोर तिमिर में
उषा विहँसती क्षितिज अधर में
रश्मि नाचती ऊर्मि सङ्ग में
तुम भी थिरको, साथी,
बढ़ चल जीवन-साथी

इतराता है शलभ दीप पर
कली फुदकती भ्रमर गीत पर
उर-मकरन्द लुटा दो सत्वर
हृदय खोल कर साथी;
बढ़ चल जीवन-साथी

मंजिल दूर नहीं है तेरी
द्विधाग्रस्त करता क्यों देरी
जीवन-रथ ले, बढ़चल पथ में
निर्भय हो कर साथी,
बढ़ चल जीवन-साथी

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

कौशाम्बी

आ० विजयेन्द्रसूरि

[२]

राजनीतिक इतिहास

महावंश की टीका के अनुसार सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजाओं से पूर्व चौदह राजाओं, जिनका आदि राजा बलवत्त था, ने वत्सदेश की कौशाम्बी राजधानी में राज्य किया।[1] पुराणों के अनुसार गंगा के प्रवाह से हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर निचक्षु, जो कि अर्जुन के पौत्र राजा परीक्षित से पांचवीं पीढ़ी में था, ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। यहाँ निचक्षु से लेकर क्षेमक लगभग २५ राजाओं ने राज्य किया। इन पुरुवंशीय राजाओं के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—निचक्षु (विवक्षु, निखक्ष, नेमिचन्द्र), उष्ण (भूरि), चित्ररथ, शुचिद्रथ (कविरथ, कुविरथ), वृष्णिमत् (वृष्टिमत्, धृतिमत्), सुषेण, सुनिथ (सुतीर्थ), रुच (रिच), नृचक्षु (त्रिचक्षु), सुखिबल (सुखाबल, सुखिनब,) परिप्लव (परिप्लुत, परिष्णव), मेधावी, नृपञ्जय, दुर्व, (उर्व, मृदु, हरि), तिग्मातमन् (तिग्म), बृहद्रथ, वसुदान (वसुदाम, सुदामक, सुदाम), शतानीक, उदयन (उदान, दुर्दमन), वहीनर (महीनर, अहीनर), दण्डपाणि (खण्डपाणि), निरामित्र (नरमित्र) और क्षेमक।

पालि साहित्य से यह प्रतीत होता है कि इस वंशावलि का राजा उदयन बुद्ध का समकालीन था। इस समय वत्स देश के साथ चण्डप्रद्योत के देश अवन्ति, प्रसेनजित के कोशल, बिम्बसार और अजातशत्रु के मगध राज्य की सीमाएं छूती थीं। बुद्ध की मृत्यु के बाद लगभग एक शताब्दि तक नन्दों के राज्यकाल तक, अवन्ति, कोसल और वत्स स्वतन्त्र राज्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यों के समय में ये राज्य मगध-साम्राज्य में विलीन हो गये। अशोक के समय में वत्स में मगध-साम्राज्य की ओर से शासन की देखभाल के लिये महामात्र नियुक्त था। अशोक के समय में विदिशा और उज्जैनी को बनारस और पाटलिपुत्र से मिलाने वाले प्रमुख पथ पर कौशाम्बी थी। सम्भवतः यहाँ पर अशोक की द्वितीय पत्नी कालुवाकी और राजकुमार तीवल रहा करते थे।

---

१. वंसत्थप्पकासिनी, १, पृष्ठ १२८–१३०।

पभोसा की गुफा में खुदे हुए आषाढ़सेन के शिलालेख से यह प्रतीत होता है उक्त लेख, 'उदाक' के दसवें वर्ष में खोदा गया है। डा० जायसवाल के अनुसार 'उदाक' शुंग वंश का पांचवा राजा और वसुमित्र का उत्तराधिकारी था। इससे यह स्पष्ट होता है कि मौर्यों के बाद शुंगवंश के राजाओं के भी आधीन यह प्रदेश रहा है। मौर्यकाल और शुंगवंश के बाद भी बहुत काल तक इस राज्य की एक राजनीतिक सत्ता बनी रही। कन्नौज के प्रतीहारराजा महाराजाधिराज यशःपाल की समाप्ति के साथ इस राज्य की राजनीतिक सत्ता भी समाप्त हो गई।

राजा उदयन—

वत्स के इस राजा की इतनी अधिक ख्याति रही है कि प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख है। पालि के उदेनवत्थु और संस्कृत के माकन्दिकावदान में कुछ विस्तार से इस सम्बन्ध में वर्णन आया है। कालिदास के मेघदूत और सोमदेव के कथासरित्सागर में भी वर्णन है। भास के स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण, हर्ष के रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटकों का आधार भी राजा उदयन है। उदयन के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के ब्रह्मखण्ड, विविधतीर्थकल्प, त्रिशष्टि-शलाकापुरुष चरित्र, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका, विशेषावश्यकभाष्य टीका, ललितविस्तर, तिब्बत के बौद्ध साहित्य और ह्युएनत्सांग के यात्रा वर्णनों में अनेक कथाएं हैं।

जैन साहित्य के अनुसार वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री मृगावती का यह पुत्र था, इसके पिता का नाम राजा शतानीक था। यह कहा जाता है कि यह संगीत का अच्छा ज्ञाता था, अपने वीणावादन द्वारा हाथियों को पकड़ा करता था। एक बार वत्सराज्य की सीमा से संलग्न अवन्तिराज्य के राजा चण्डप्रद्योत ने एक नकली हाथी रखवा कर धोखे से इसे पकड़ लिया। परन्तु चण्डप्रद्योत की कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता की सहायता से यह वहाँ से निकल भागा और राजधानी लौट कर वासवदत्ता को पट्टरानी बनाया। कथासरित्सागर में उदयन की दिग्विजय का निर्देश है और प्रियदर्शिका में कलिंग के जीतने का उल्लेख है।

उदयन के विवाहों के सम्बन्ध में कई स्थलों पर वर्णन आया है। वासवदत्ता के अतिरिक्त इसने अंग के राजा दृढ़वर्मन् की कन्या से विवाह किया था। कौशाम्बी के श्रेष्ठि घोषित के घर पाली पोसी गई भद्रवती के श्रेष्ठि की कन्या श्यामावती से, कुरुदेश की परम सुन्दरी ब्राह्मण कन्या माकन्दिका से, मगध के अजातशत्रु की कन्या पद्मावती से और सीलोन की

राजकुमारी सामवरिका से इसने विवाह किये थे। उदयन की इन रानियों में आपस में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा बहुत रहती थी। माकन्दिका और श्यामावती में यह ईर्ष्याभाव इतना अधिक बढ़ गया कि माकन्दिका ने श्यामावती को विष दे कर मरवा दिया, परिणामस्वरूप उदयन ने माकन्दिका को भूमि में जीवित गड़वा दिया। यह भी प्रसिद्धि है कि श्यामावती से विवाह करने के लिये उसने घोषित श्रेष्ठी पर बहुत दबाव डाला था। उदयन के इस आचरण का सामान्य जनता पर भी बहुत प्रभाव पड़ा, वे भी अपने परलोक से विरत हो कर इहलोक में रत हो गये।

बौद्ध साहित्य के अनुसार यह व्यक्ति धर्मद्रोही था, धार्मिकजनों के प्रति इसका रुख विद्वेषपूर्ण था। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार ही जब एक बौद्ध भिक्षु का जीवन खतरे में पड़ गया तो वह श्रावस्ती चला गया। थेर पिण्डोल भारद्वाज को दीमकों के वल्मीक के साथ बंधवा कर बहुत कष्ट दिया, पिण्डोल का अपराध यह था कि राजा के सो जाने पर अन्तःपुर के राजकीय विनोदस्थल की एक स्त्री पिण्डोल का धर्मोपदेश सुनने जाती थी। एक बार बुद्ध पर भी इसने बाण द्वारा आक्रमण किया था, पर निशाना चूक गया। ऐसा धर्मद्रोही व्यक्ति भी बौद्ध गाथाओं के अनुसार बाद में बौद्ध बन गया था। पर इसने बौद्धधर्म स्वीकार करके कौन सा लोकोपकार या धर्मोपकार किया यह अभी अनुसन्धान का विषय है।

परन्तु जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यह जैन था। उदयन के शैशवकाल में ही उसके पिता की मृत्यु हो जाने से उसकी माता मृगावती ही राज्य व्यवस्था चलाती थी। जब भगवान् महावीर स्वामी आलंभिया से विहार कर के कौशाम्बी पधारे तो उनके उपदेशों से प्रभावित हो कर रानी मृगावती ने दीक्षा ले ली। इसी समय कौशाम्बी में ही राजा चण्डप्रद्योत की अंगारवती आदि आठ रानियों ने भी दीक्षा ले ली थी। उदयन की फूफी जयन्ती जैन-श्राविका के रूप में उस समय बहुत प्रसिद्ध थी और कौशाम्बी में ही रहती थी। वैशाली से कौशाम्बी आने वाले आर्हत श्रावक बहुधा इसीके यहाँ ठहरा करते थे। इस कारण वह वैशाली के आर्हत श्रावकों में प्रथम आश्रयदात्री के नाम से अधिक प्रसिद्ध थी। ...

वत्स और कौशाम्बीमण्डल—

ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि वत्स राज्य की सीमाएं अवन्ति, कोशल, मगध और चेदि के साथ छूती थीं। वत्सराज्य में यमुना के किनारे कौशाम्बी की स्थिति थी, यह भी निर्देश हो चुका है। आवश्यक चूर्णि[1] के

१. आवश्यकचूर्णि (पूर्व भाग), पत्र ३१८।

अनुसार उदयन के पिता शतानीक ने अंगराज्य की चम्पा नगरी पर जलमार्ग द्वारा आक्रमण किया था। यह जलमार्ग इस प्रकार था—प्रथम शतानीक यमुना से नावों द्वारा गंगा-यमुना के संगम पर पहुंच कर गंगा द्वारा चम्पा पर आक्रमण किया था। इन वर्णनों से वत्सराज्य और बाद के कौशाम्बीमण्डल की सीमा आदि के सम्बन्ध में थोड़ा थोड़ा अनुमान किया जा सकता है। चीनी यात्री हुएनसुआंग के अनुसार इस राज्य का घेरा लगभग ६००० ली (१२०० मील) था। जब तक वत्सराज्य की सीमा निश्चित रूप से निर्धारित न हो जाये तब तक इस घेरे के ठीक होने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। कनिंघम ने इसे अतिशयोक्ति पूर्ण बताया है। अब तक प्राचीन साहित्य में इस मण्डल के जिन स्थानों का वर्णन मिलता है उनका परिचय नीचे दिया जाता है। कौशाम्बीमण्डल के इन स्थानों से उसके विस्तार का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

(१) कोसम—कौशाम्बीमण्डल की राजधानी कौशाम्बी यही स्थान है। यह स्थान दो भागों में विभक्त है, और दो पृथक् गांव कोसम खिराज और कोसम इनाम नाम से है। यह यमुना के किनारे पर मंझनपुर से १२ मील दक्षिण में और सराय आकिल से ९ मील पश्चिम में है। यहाँ प्राचीनकाल के विशाल खण्डहर और भग्नावशेष है। पभोसा यहाँ से लगभग तीन मील पर है, किसी समय यह कौशाम्बी नगर का अंग था।

(२) पभोसा—कोसम से लगभग तीन मील पर पश्चिम में पभोसा की पहाड़ी है, इस पहाड़ी को यमुना ने काट कर विंध्याचल की दूसरी श्रेणियों से पृथक् कर दिया है। तीर्थमालाओं में इसे पुरानी कौशाम्बी के नाम से स्मरण किया है। यहाँ गुफाओं में मित्रवंशीय राजाओं के शिलालेख मिले है जो कि खारवेल के शिलालेखों के समकालीन समझे जाते हैं। यहाँ से बोधिसत्व की एक मूर्ति भी प्राप्त हुई है जिस पर कनिष्क के राज्य के दूसरे वर्ष का एक शिलालेख है। यहाँ की जैन धर्मशाला में संवत् १८८१ का एक शिलालेख है जो कि कोसम को ही कौशाम्बी बताता है। यहाँ एक पुराना किला था जिसका घेरा ४॥ मील था।

(३) बसुहार—सरायआकिल के पास पूर्व की ओर बसुहार नामक बस्ती है, कोसम से लगभग ९ मील की दूरी पर है।

(४) मऊगांव—मऊ नाम के अनेक गांव है। एक तो इंदौर स्टेट में 'मऊ' नाम की छावनी है, दूसरा बांदा जिले में मऊ नाम की तहसील है, तीसरा मऊ आजमगढ़ जिले में मुहम्मदाबाद तहसील में है, चौथा मऊ इलाहाबाद जिले में सोरों तहसील में मऊ ऐमा नाम से है और पाँचवाँ

इलाहाबाद जिले में शाहजादपुर से दक्षिण में लगभग ६ मील पर सालक-मऊ (नकशे में बालकमऊ) है। ऊपर उद्धृत तीर्थयात्रा के पदों के आधार पर यह मानना उपयुक्त होगा कौशाम्बीमण्डल का मऊगांव सालकमऊ है, इसकी दूरी तीर्थमालाओं में वर्णित दूरी से मिलती है और आज भी यह ग्राम कोसम से लगभग ९ कोस है।

(५) शाहजादपुर—तीर्थमालाओं से उद्धृत वर्णनों में से तीन तीर्थ-मालाओं में शाहजादपुर का उल्लेख हुआ है। यह गंगा के ऊंचे किनारे पर सिराथू से ६ मील पूर्व की ओर इलाहाबाद से ३३ मील दूर है। इसके पश्चिम की ओर महल के खण्डहर हैं, गंगा के किनारे भी बहुत से भग्ना-वशेष हैं। यहाँ से शुजातपुर रेल्वे स्टेशन और ग्राण्ड ट्रंक रोड को एक सड़क जाती है।

(६) कड़ा—पं० सौभाग्यविजय ने अपनी १८ वीं शताब्दी की तीर्थ-माला में इसका वर्णन किया है और इसे कौशाम्बी मार्ग पर माणिकपुर के पास बताया है। आजकल यह स्थान माणिकपुर के दक्षिण में और सिराथू से उत्तरपूर्व में पांच मील पर गंगा तट पर है। इलाहाबाद से ४१ मील दूर है। आज कल यह छोटा सा गाँव है। लगभग १३४०, इब्न-बतूता के समय में यह एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान था। प्राचीन नगर के भग्ना-वशेष गंगातट से १ मील की चौड़ाई में दो मील तक फैले हुए हैं। कौशा-म्बी की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले जिस कड़ा शिलालेख का ऊपर वर्णन आया है, वह यहीं से प्राप्त हुआ है। १३ वीं शताब्दी में यह राज-धानी हो गया था, १४ वीं शताब्दी तक यह राजधानी रूप में रहा। इसके बहुत समय बाद इलाहाबाद राजधानी बनी। इस देश का व्यापार जबतक नावों द्वारा होता था, तब तक यह प्रसिद्ध व्यापारिक नगर रहा।

(७) माणिकपुर—यह एक बड़ी बस्ती है और गंगा के उत्तरी पार्श्व में है। पहले माणिकपुर, कड़ा और शाहजादपुर के बीच नावों द्वारा खूब व्यापार होता था। माणिकपुर के दक्षिण में राजघाट और शाहाबादघाट माणिकपुर में ही सम्मिलित हैं।

(८) बारानगर—इसका उल्लेख श्री पं० सौभाग्यविजय की तीर्थ-यात्रा में आया है। आजकल यह सिराथू से सैनी, गंगाघाट और गुटनी की ओर जाने वाली सड़क पर है, यहाँ से उत्तर की ओर एक सड़क कड़ा को जाती है। यह सिराथू से ४ मील और इलाहाबाद से ३९ मील है।

(९) प्रास या परास—सं० १०९३ के कड़ा शिलालेख में इस ग्राम का पयलास नाम से उल्लेख है। यह कोसम से लगभग तीस मील पर

पश्चिमोत्तर में है और कड़ा से लगभग ६ मील पर। यह गांव इलाहाबाद जिले में है।

(१०) मेओहर—यह गाँव इलाहाबाद से करारी को मिलाने वाली सड़क पर है। करारी से पूर्व में यह लगभग ६ मील और इलाहाबाद से पश्चिम में २१ मील पर है। कोसम से लगभग ९ मील पर है। यहाँ रायबहादुर दयाराम साहनी ने वि० सं० १२४५ का एक शिलालेख प्राप्त किया था, जिसे वे कौशाम्बी की स्थिति का निर्विवाद प्रमाण मानते हैं।

(११) फतेहपुर—पं० जयविजय ने इसे कौशाम्बी और प्रयाग के बीच बताया है। सराय आकिल से जो सड़क इलाहाबाद जाती है, यह गाँव उसी सड़क पर है। इलाहाबाद से लगभग १२ मील और सराय आकिल से ९ मील है।

(१२) प्रयाग—यह स्थान कौशाम्बीमण्डल का एक प्रमुख स्थान है। ऊपर की तीर्थमालाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय पश्चिम और पश्चिमोत्तर से प्रयाग आने वाले यात्रियों का मार्ग कौशाम्बी होकर था। यहाँ पर गंगा-यमुना का संगम है। अशोक के पौत्र द्वारा खड़ा किया हुआ बलुआ पत्थर का यहाँ एक स्तम्भ है। इस स्तम्भ पर अशोक के ६ आदेश खुदे हुए हैं, आरम्भ में कौशाम्बी के शासकों को सम्बोधित किया गया है। यह स्तम्भ पहले कौशाम्बी में ही था, इसे वहीं से यहाँ लाया गया। आजकल यह जिला है और इसमें ९ तहसीलें हैं, क्षेत्रफल लगभग २८५१ वर्गमील है।

उच्च-नीच गोत्र

"से असइं उच्चा-गोए असइं नीआ-गोए
नो हीणे, नो अइरित्ते नोऽपीहए
इइ संखाए को गोयवाई ? को माणवाई ?
कंसि वा एगे गिज्झे ? तम्हा नो हरिसे नो कुप्पे"

[आचारांग]

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में। इस लिए न कोई हीन है और न कोई ऊँच। अतः उच्च गोत्र आदि मदस्थानों की इच्छा भी न करनी चाहिए। इस बात पर विचार करने के बाद भी कौन अपने गोत्र का ढिंढोरा पीटेगा? अथवा अभिमान करेगा? वह किस बात के लिए मोह करेगा? इसलिए न तो हर्ष करना चाहिए और न क्रोध ही।

शूद्र-मुक्ति

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

(४)

भारतीय जन जीवन में गोत्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। गोत्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—गूयते शब्द्यते इति गोत्रम्—जो कहा जाय। गोत्र एक प्रकार का नाम है जो कारण विशेष से रूढ़ हो कर परम्परा से चला आता है। इससे किसी व्यक्ति या समुदाय विशेष के आंशिक इतिहास की छानबीन की जा सकती है। यह उस समय की देन है जब मानव अनेक भागों में बटने लगा था और उसे अपने लोगों का ज्ञान करने के लिये संकेत की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। क्रमशः जैसे जैसे मानव समाज अनेक जातियों, उपजातियों व वर्गों में बटता गया वैसे वैसे इस नाम के प्रति मनुष्यों का अभिमान भी बढ़ता गया। विवाह सम्बन्ध और सामाजिक रीति रिवाजों में तो इसका विचार किया ही जाता है साथ ही मुक्ति के कारणों में भी इसकी परिगणना की जाने लगी है। इसे किसी न किसी रूप में सभी पराम्पराओं ने स्वीकार किया है। भारतवर्ष में वर्णाश्रम धर्म का प्राबल्य होने पर जैनों में भी गोत्र की व्याख्या वंश परम्परा के आधार पर की जाने लगी और इसका सम्बन्ध वर्णोंसे जोड़ा गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये उच्च गोत्री माने जाने लगे और बिचारे कथित शूद्र नीच गोत्री करार दिये गये। सुकुल और दुष्कुल की व्याख्या भी इसी आधार से की जाने लगी।

ब्राह्मण परंपरा में जिसने अपने उत्तराधिकारी की सृष्टि कर ली हो वही संन्यास लेने का अधिकारी माना गया है। पुत्र के अभाव में दत्तक पुत्र का विधान इसी परम्परा को दृढ़मूल बनाये रखने का एक साधन है। जो योग्य सन्तान को जन्म दिये बिना वर्णाश्रम धर्म से विरत हो जाता है उसे ईश्वर क्षमा नहीं करता। धीरे धीरे जैन परम्परा में भी यह प्रथा रूढ़ होने लगी और उनके यहां भी इस आधार पर वे सब तत्त्व स्वीकार कर लिये गये जो ब्राह्मण परम्परा की देन हैं।

कहने को तो भारतवर्ष धर्म प्रधान देश कहा जाता है किन्तु इसकी गहराई में जाने पर मालूम पड़ता है कि यह प्रचार का एक साधन मात्र

है। हम इसके नाम पर उन समस्त तत्त्वों का प्रचार करते हैं जो वर्ण प्रभुत्व के पोषक हैं। गोत्र से भी इस वर्णप्रभुत्व को स्थायी बनाये रखने में बड़ी सहायता मिली है।

यह तो सब कोई जानते हैं कि इस देश में ही गोत्र का विचार किया जाता है। अन्य देशों के लोग इसका नाम भी नहीं जानते। वहां रंगभेद के उदाहरण तो देखने को मिलते हैं और इसे भी इसी दूषित परंपरा का परिणाम कहा जा सकता है पर वहां इस आधार से यहां के समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऊंच नीच का भेद नहीं दिखाई देता है।

ब्राह्मण ऋषियों ने देखा कि जब तक व्यक्ति या समाज के जीवन में आत्यभिमान या वंशाभिमान की सृष्टि नहीं की जायगी तब तक वर्णप्रभुत्व की कल्पना साकार रूप नहीं ले सकती इसलिये उन्होंने इसके आधारभूत 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इस सिद्धान्त की घोषणा की और इसे व्यावहारिक रूप देने के लिये गोत्र की प्रथा चलाई। प्रारम्भ में ऐसे आठ ऋषि हुए हैं जो गोत्रकर्ता माने जाते हैं। वे आठ ऋषि ये हैं :— जमदग्नि, भरद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य। इन्हें मंत्रदृष्टा ऋषि माना गया है[1]। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इनका नाम आता है। इनके बाद इनकी पुत्र पौत्र परम्परा में कुछ मंत्रदृष्टा ऋषि और हुए हैं जिनके नाम पर भी गोत्र की परम्परा चली है[2]। ये सब गोत्र हजारों और लाखों माने गये हैं पर मुख्य रूप से वे उनचास ही लिये जाते हैं। जमदग्नि आदि आठ ऋषियों के समकाल में भृगु और अंगिरा ये दो ऋषि और हुए हैं। ये भी मंत्रदृष्टा थे पर इनके नाम पर गोत्र का प्रचलन नहीं हो सका। इन्हें गोत्रकर्ता नहीं माना गया है। इसका कारण जो भी रहा हो, इतना स्पष्ट है कि उस समय अपने अपने नाम पर गोत्र की प्रथा चलाने के प्रश्न को लेकर इनमें आपस में मतभेद था।

साधारणतः ब्राह्मण परम्परा में गोत्र रक्त-परम्परा का पर्यायवाची माना जाता है। उसका ख्याल है कि जिस ऋषि के नाम पर जो गोत्र चला है उसकी सन्तान परम्परा में उस ऋषि का रक्त आज भी मौजूद है इसलिये

---

(१) जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वशिष्ठ. कश्यपोऽगस्त्यो मुनयो गोत्रकारिणः॥
गोत्रप्रवर पृष्ठ ५।

(२) ऋषित्वं ये सुता प्राप्ता दशानामृषीणां कुले।
यज्ञे प्रवीयमाणत्वात् प्रवरा इति कीर्तिताः॥
गोत्रप्रवर पृष्ठ ९।

वह परम्परा स्वीकार करती है कि ब्राह्मण सदा काल ब्राह्मण ही बना रहता है। इस परंपरा में चारित्र की अपेक्षा रक्त परंपरा को बड़ा महत्त्व दिया गया है।

हम देखते हैं कि कालक्रम से जैन परंपरा में भी इस रक्त-परंपरा ने अड्डा जमा लिया है।[1] स्मृतिसार में सज्जाति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि पिण्डशुद्धि में मात्र कुल और जाति की शुद्धि मूल कारण मानी गई है और वह कुल और जाति की विशुद्धि वंश परंपरा से प्राप्त होती है। इसके मत से यही सज्जाति है।[2] यशस्तिलक में भी लिखा है कि जो द्विज जाति का नहीं है उसके सैकड़ों संस्कार करने पर भी वह द्विज नहीं हो सकता। सज्जाति की चर्चा तो आदिपुराण में भी की गई है।[3] वहां लिखा है कि यद्यपि हमें ऐसा द्विजन्मा इष्ट है जो क्रिया और गर्भ इन दोनों से उत्पन्न हुआ हो किन्तु जो क्रिया मंत्रों से संस्कारित नहीं किया गया है वह नाममात्र का द्विजन्मा है। आदिपुराण में ऐसे द्विजन्मा की तीव्र भर्त्सना की गई है। एक स्थल पर तो इसे पठित राक्षस लिखा है। आचार्य जिनसेन के मतानुसार तो सज्जाति का दूसरा ही अर्थ है। उन्होंने सात क्रियान्वय क्रियाओं में एक सज्जाति नाम की क्रिया मानी है। इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए वे लिखते हैं कि[4] योनि से न उत्पन्न हो कर दिव्य ज्ञान रूपी गर्भ से उत्पन्न होना ही सज्जाति है। और ऐसी सज्जाति जिसके पाई जाती है वह सज्जातिवाला होता है। आगे इसकी आजीविका का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है कि[5] यह गृहस्थ अवस्था में आर्यों के छह कर्मों से अपनी आजीविका करता है। इसका अर्थ यह है कि वह असि, मषि, कृषि और वाणिज्य के समान विद्या और शिल्प कर्म से भी अपनी आजीविका कर सकता है।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि जैन साहित्य में वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव वश यद्यपि विकार आया है पर ऐसे वचनों और उपदेशों की उसमें कमी

---

(१) पिण्डशुद्धिसु मूलैका कुलजात्योर्विशुद्धता ।
सन्तानक्रमेणायाता स सज्जाति. प्रगद्यते ॥ स्मृति सार।

(२) यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजता व्रजेत्। यशस्तिलकचम्पू ७–२४।

(३) द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्ट क्रियातो गर्भतश्च य ।
क्रियामंत्रविहीनस्तु केवल नामधारक ॥३८–४८॥ आदिपुराण।

(४) अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम्।
सोऽधिगम्य पर जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥३९–९५॥ आदिपुराण।

(५) ततोऽधिगतसज्जाति· सद्गृहित्वमसौ भजेत्।
गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥ ३९–९९ ॥ आदिपुराण।

नहीं है जिससे जैन परम्परा के अनुकूल निर्णय करने में सहायता मिलती है। जैन परम्परा ने रक्ताश्रित गोत्र को कभी भी प्रोत्साहन नहीं दिया है यह सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट है। वहां तो वंशशुद्धि के अहंकार की पद पद पर भर्त्सना ही की गई है। ऐसा करते हुए और सज्जाति का समीचीन अर्थ दिखलाते हुए एक दूसरे आचार्य लिखते हैं कि 'ब्राह्मण और अब्राह्मण की सर्वथा शुद्धि का दावा नहीं किया जा सकता है, यह कह कर कोई भी रक्तशुद्धि का ढिंढोरा नहीं पीट सकता है उसके गोत्र में किसी ने व्यभिचार नहीं किया है और तत्सम्बन्धी दोष उसके गोत्र में नहीं चला आ रहा है। क्योंकि रक्त परंपरा अनादि है, उसमें न जाने कब पतन हुआ हो। वास्तव में सज्जाति तो वही है जिसमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया पाई जाती हो'[1]।

इतने विवेचन से यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण परंपरा में गोत्र का जो अर्थ इष्ट है वह जैन परम्परा को मान्य नहीं है फिर भी इस परम्परा में गोत्र का क्या अर्थ लिया गया है यह जानना शेष है। हम समझते हैं कि प्रसंग से इसकी चर्चा कर लेना आवश्यक है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जैन धर्म के अनुसार रक्त परम्परा की श्रेष्ठता और कनिष्ठता वर्णों के आधार से नहीं स्वीकार की जा सकती है। कोई ब्राह्मणी के गर्भ से जन्म ले कर भी दूषित रक्त वाला हो सकता है और दूसरा कोई शूद्री के गर्भ से जन्म लेकर भी निर्दोष रक्तवाला हो सकता है। यह ब्राह्मण या ब्राह्मणी है इसलिये उसके शरीर में कुष्ठ और उपदंश आदि रोग नहीं उत्पन्न होते हों यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिये रक्त परम्परा के आधार से उच्चत्व और नीचत्व की कल्पना करना निरी मूर्खता है। उच्चत्व और नीचत्व है पर उसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है रक्त परम्परा से नहीं। जैन धर्म ने ऐसे ही उच्चत्व और नीचत्व को स्वीकार किया है। अब प्रश्न यह है कि वह उच्चत्व और नीचत्व क्या वस्तु है और उसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से किस प्रकार घटित होता है। गुत्थी तो जटिल है पर जैन धर्म ने इसी गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया है। वह कहता है कि लोक में ऐसे भी मनुष्य हैं जिनका स्वावलम्बन के आधारभूत सदाचार के प्रति

---

(१) न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वथा शुद्धशीलता।
कालेनानादिजे गोत्रे स्खलनं क्व न जायते॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती मता॥

अनुराग होता है या जो ऐसे सदाचार को स्वयं अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं । और ऐसे भी जीव हैं जो सदा परावलम्बन में विश्वास करते हैं और अपना वर्तन भी उसीके अनुकूल बनाये रखते हैं। ये दोनों प्रकार के मनुष्य सब देशों और सब कालों में पाये जाते हैं। ये किसी सम्प्रदाय या आर्य अनार्य भेद से बंधे हुए नहीं है। इनमें से पहले प्रकार के मनुष्यों को हम उच्च भूमिका का कह सकते हैं और दूसरे प्रकार के मनुष्य नीची भूमिका के माने गये हैं। मनुष्यों की इन दोनों प्रकार की भूमिकाओं का निर्माण उनके जीवन से होता है। किसी के जीवन में स्वावलम्बन की रेखा खिंची रहती है, इसलिये वह सदा काल, काम, क्रोध आदि विकारों से बचने का प्रयत्न करता रहता है और किसी का जीवन परावलम्बन से घिरा रहता है, इसलिये वह उसकी प्राप्ति के लिये सदा काल जीवन में विकारों को प्रश्रय देता रहता है। उच्च गोत्र और नीचगोत्र इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। गोत्र का सामान्य अर्थ है कहना। जिसके कारण जीव नीच कहा जाता है वह नीच गोत्री है और जिसके कारण वह उच्च कहा जाता है वह उच्चगोत्री है।

यह तो है ही कि संसारी जीव सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने ही दोषों के कारण पर वस्तु से बन्ध को प्राप्त हो रहा है। इस कारण वह नाना प्रकार की दुर्गतियों का पात्र हो रहा है। कभी वह कीट, पतंग जैसी योनियों में जन्म लेता है तो कभी वह मनुष्य, देव और नारकी होता है। ये अवस्थाएं उसे स्वेच्छा से नहीं मिलती है। कर्म के निमित्त से उसकी ऐसी परिणति होती है जिससे उसे इन अवस्थाओं में परिभ्रमण करना पड़ता है। पहले गोत्र विषयक जिस परिणति का हम निर्देश कर आये हैं वह भी कर्म के निमित्त से ही होती है, इसलिये जैन साहित्य में गोत्र कर्म का निर्देश किया गया है और उक्त परिणति के अनुसार उसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक [1]उच्च गोत्र कर्म और दूसरा नीच गोत्र कर्म।

उच्च और नीच गोत्र का सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से है। उसे इसकी प्राप्ति माता पिता के निमित्त से नहीं होती है । प्रकृत में जीव की एक प्रकार की परिणति उच्चगोत्र मानी गई है और उससे भिन्न दूसरे प्रकार की परिणति नीचगोत्र मानी गई है। गोत्र का अर्थ रूढ़ि से परम्परा लिया गया है। इसीसे इसके लिये सन्तान, कुल या वंश शब्द का भी व्यवहार होता है। ये सब शब्द परम्परावाची है। ब्राह्मण

(१) उच्चैर्नीचैश्च ॥ ८-१२ ॥ तत्त्वार्थसूत्र ।

धर्म में इनका अर्थ एक प्रकार की परम्परा लिया जाता है और यहां दूसरे प्रकार की परम्परा।

एक बात और है जो गोत्र के विषय में खास रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि चाहे कोई नीच गोत्री हो या चाहे उच्च गोत्री, संयम और संयमासंयम के अधिकारी दोनों प्रकार के मनुष्य माने गये है। इतना अवश्य है कि नीचगोत्री संयम को स्वीकार करते समय नियम से उच्चगोत्री हो जाता है। इसलिये ऐसा कहना कि जो नीचगोत्री है वह जीवन में संयम को स्वीकार करने का अधिकारी नहीं है, जैन परम्परा के विरुद्ध है। (क्रमशः)

समझ का फेर

अनेकान्त पत्र के वर्ष १० संख्या ४–५ में 'अर्थ का अनर्थ' शीर्षक से पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का एक लेख प्रकाशित हुआ है। यह लेख 'शूद्र मुक्ति' शीर्षक से ज्ञानोदय में निकलनेवाले लेख के विरोध में लिखा गया है। लेख के प्रारम्भ में उन्होंने मेरे उस लेख की भी चर्चा की है जिसके द्वारा मैंने आगम के आधार से यह बतलाया था कि बाह्य सम्पत्ति का मिलना बिछुड़ना कर्म का कार्य न होकर कर्मोदय में नोकर्म है।

इस तरह इनके प्रकृत लेख में मुख्य विवाद के विषय तीन हो जाते है– १ क्या बाह्य सम्पत्ति का मिलना और बिछुड़ना कर्म का कार्य है ? २ क्या शूद्रमुक्ति दिगम्बर परंपरा में मान्य है ? ३ क्या एक पर्याय में गोत्र बदल सकता है।

पण्डित जी ने इन विषयो की यथास्थान चर्चा की है। उनका व्यक्तिगत मत है कि[1] एक को सम्पत्ति मिलना और दूसरे का गरीब होना कर्म का कार्य है ?[2] दिगम्बर परंपरा में शूद्रमुक्ति मान्य नहीं और[3] एक पर्याय में गोत्र नहीं बदल सकता।

किन्तु मेरा मन्तव्य है कि [4]एक को सम्पत्ति मिलना और दूसरे का गरीब होना यह कर्म का कार्य न होकर व्यवस्था का फल है, दिगम्बर

---

१ देखो पचसग्रह की भूमिका।

२. देखो उनकी लिखी हुई 'जैनधर्म' पुस्तक पृष्ठ २९९–३००।

३. देखो अनेकान्त की पिछली किरणो में और अन्यत्र प्रकाशित हुए उनके गोत्र विषयक लेख।

४. देखो षष्ठ कर्म ग्रन्थ की भूमिका।

परम्परा में शूद्रमुक्ति मान्य है और [1]एक पर्याय में गोत्र बदल सकता है। मैंने इन विषयों के समर्थन में शास्त्रीय प्रमाण भी दिये हैं।

पण्डित जी स्थितिपालक अतएव चालू रूढ़ि के पोषक हैं फिर भी वे इस राय से सहमत हैं और दूसरों को भी ऐसी सलाह देते रहते हैं कि दिगम्बर जैन साहित्य पर ब्राह्मण साहित्य की और श्वेताम्बर जैन साहित्य पर बौद्ध साहित्य की छाप पड़ी है। एक तरफ वे स्थितिपालक होने के नाते उन तथ्यों से चिपके रहना चाहते हैं जो ब्राह्मण साहित्य की देन हैं और दूसरी ओर व्यक्तिगत चर्चा में वे उदार भी बने रहना चाहते हैं। इसे समझ का फेर नहीं तो और क्या कहा जाय।

प्रकृत लेख में सर्व प्रथम पण्डित जी ने मेरे द्वारा शास्त्राधार से सिद्ध किये गये गोत्र के लक्षण के प्रसंग से सन्तान शब्द के अर्थ पर आपत्ति की है। एक ओर वे सन्तान का अर्थ पुत्र पौत्र परम्परा करना चाहते हैं और दूसरी ओर निष्कर्ष निकालते समय वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'किन्तु कालक्रमसे होनेवाले विभिन्न सन्तानी सदाचारी पुरुषो के प्रवाह को परम्परा कहते हैं।

हमने उनके समस्त कथन पर सावधानी पूर्वक विचार किया है। हमारा तो ख्याल है कि वे ज्ञानोदय के ५वें अंक में प्रकाशित धवला के सब उद्धरणो को एक साथ मिला कर पढते तो वे एकमात्र यही निष्कर्ष निकालते कि 'गोत्र के प्रकरण मे सन्तान शब्द का अर्थ कालक्रम में होने वाले अनेक सन्तानी सदाचारी पुरुषों का प्रवाह लिया गया है। वे ब्राह्मण परम्परा के समान गोत्र का सम्बन्ध रक्त परम्परा से न जोड़ते।

यह तो पण्डित जी जानते ही हैं कि गोत्र का उदय केवल मनुष्य पर्याय में ही नहीं होता। वहाँ भी होता है जहाँ रक्त की परपरा नहीं चलती। और वे यह भी जानते होंगे कि गोत्र का उदय माता के गर्भ में आने के पहले ही हो जाता है।

एक पर्याय में गोत्र बदलता है इस तथ्य को धवलाकार[2] ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। सुख दुख के समान गोत्र जीव का परिणाम है। यह तब भी होता है जब जीव विग्रह गति में होता है। ब्राह्मण परम्परा में गोत्र की प्राप्ति जहाँ माता पिता से होती है वहाँ जैन परम्परा में नवीन भव के प्रथम समय की परिणति के अनुसार उसकी प्राप्ति होती है और

---

१. देखो ज्ञानोदय के ४ थे ५वें आदि अंको में प्रकाशित मेरा शूद्र-मुक्ति शीर्षक लेख।

२. देखो ज्ञानोदय अंक ५ पृष्ठ ३६८।

कर्मभूमि में चारित्र के निमित्त से वह बदल भी जाता है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि गोत्र का अर्थ रक्त परम्परा से नहीं है।

हम समझते हैं कि इतने लिखने से पण्डित जी उस तथ्य को सम्यक् रीति से जान लेंगे जिसका निर्देश मैंने ज्ञानोदय के ४–५ अंक में किया है।

दूसरी आपत्ति पण्डित जी ने मेरे द्वारा किये गये 'शूद्रत्वाशुचित्वा-विर्भावना संघावर्णवादः' के अर्थ पर की है। यह वाक्य सर्वार्थसिद्धि का है। अकलंकदेव ने राजवार्तिक में उक्त वाक्य का जो व्याख्यान किया है वह पण्डित जी के शब्दों में इस प्रकार है—'ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करने से इनका अंग मैल से भरा है, ये गदे हैं, निर्लज्ज दिगम्बर हैं।' इस व्याख्यान में 'शूद्र हैं' स्वतंत्र पद है और 'स्नान न करने से इनका अग मैल से भरा है' आदि स्वतंत्र पद है फिर भी वे अकलंक-देव के वर्णन से ऐसा निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि "जैन मुनि स्नान नहीं करते, उनका बदन मैला कुचैला रहता है, नंगे डोलते थे, बाह्य शुद्धि का वैसा महत्त्व उनकी दृष्टि में नहीं था जैसा दूसरो की दृष्टि में था। अतः उन्हें शूद्र कहा जाता था।"

यहाँ पण्डित जी ने लेखन की जिस कुशलता से काम लिया है वह पाठकों की दृष्टि से ओझल रहेगी, ऐसा हम नहीं मानते। जहाँ ग्रन्थ में 'ये श्रमण शूद्र हैं' ऐसा कहने के बाद 'क्योंकि' पद की सूचना नहीं है वहाँ उन्होंने 'क्यों कि' पद का आशय अपनी ओर से जोड़ कर अपना मन्तव्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये मनुष्य क्या नहीं करता इसका यह उदाहरण है।

फिर भी पाठक यह मान सकते हैं कि कदाचित् दूसरे विरोधी जन जैन श्रमणों को परिहास में शूद्र कहते हों। प्रश्न है तो मार्मिक पर इसका समाधान भी उसी सर्वार्थसिद्धि से हो जाता है। वहाँ वैयावृत्य के प्रकरण में संघ शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः' इसका अर्थ है जो गृहस्थ अवस्था में चारों वर्ण के रहे हैं ऐसे श्रमणों का समुदाय। इससे स्पष्ट है कि जिन दीक्षा का अधिकार न केवल क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण को था अपि तु शूद्रों को भी था।

अन्त में पण्डित जी ने वातावरण को उत्तेजित करने की दृष्टि से 'पं० जी जैन समाज के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, आज वे सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका कर रहे हैं और सर्वार्थसिद्धि की उनकी टीका वर्णी ग्रन्थमाला से छप रही है। यदि उनमें भी पं० जी ने अपने इन नवीन मन्तव्यों को इसी प्रकार भरा होगा तो उससे जैन सिद्धान्त के मन्तव्यों को क्षति पहुंच

सकती है तथा व्यर्थ का वितण्डावाद खड़ा हो सकता है इसी भावना से यह लेख लिखा गया है।' इन शब्दों के साथ अपने लेखको पूर्ण किया है।

वस्तुतः यही इस लेख के लिखने का खास लक्ष्य है। मालूम पड़ता है कि इतना ही प्रचारित करने के लिए उन्होंने यह लेख लिखा है, क्योंकि उन्होंने जिन आधारों से इस लेख का कलेवर बढ़ाया है उनमें किसी गंभीर अध्ययन का परिचय नहीं मिलता। मैं यहाँ यह लिखना कर्त्तव्य समझता हूं कि पंडित जी स्वयं तो 'जैनधर्म' पुस्तक में 'शूद्रमुक्ति को दिगम्बर परम्परा नहीं मानती' इस आशय का निर्मूल विधान करके जैनधर्म की आत्मा पर आवरण डाल रहे हैं और मुझ पर 'चाहे शूद्र हो या अन्य कोई जो चरम शरीरी होगा उसे ही मुक्ति होगी' यह सिद्धान्ताधार से विवेचन करने पर भी अपने मन्तव्य भरने का आरोप कर रहे हैं, किमाश्चर्यमतः परम्।

रही वितण्डावाद की बात, सो इसमें न हमारी रुचि है और न समय ही। न हम किसीको छेड़ना चाहते हैं और न किसी के धमकाने से डरते ही हैं। सुधार तो जैनधर्म की आत्मा है। अनादिकालीन मिथ्यात्व का सुधार किए बिना सम्यग्दर्शन या व्यक्ति की मुक्ति ही नहीं हो सकती। मैं तो यही भावना करता हूँ कि मानवमात्र सुधार पथ का अनुगामी बने। इसीमें समाज का कल्याण और व्यक्ति की मुक्ति है। जैनाचार्यों ने सदा जैनधर्म की इस आत्मा की रक्षा की है।

'अस्पृश्यताको बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह सत्य तथा अहिंसाका विरोधी धर्म है इसलिये धर्म ही नहीं।'

'अस्पृश्यता हिन्दू समाजका सबसे बड़ा कोढ़ है।'

'जिस प्रकार एक रत्ती भर संखियासे लोटा भर दूध बिगड़ जाता है उसी प्रकार अस्पृश्यतासे हिन्दूधर्म चौपट हो रहा है।'

'अस्पृश्यता आत्मघातक है। यह असहिष्णुताकी पराकाष्ठा है।'

—महात्मा गांधी

सम्पादकीय

हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा—

जब से हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल पास हुआ है तभी से जैन समाज में 'जैन हिन्दू नहीं हैं' इस बिलगाववादी विचारधारा ने जोर पकड़ा है। इसका एकमात्र उद्देश्य है–इस कानून से जैन मन्दिरों को मुक्त कराना। स्थितिपालक भाई तो यहां तक लिखने का साहस करते हैं कि 'भगवान् महावीर की वर्णव्यवस्था को घरपतुआ बच्चों का खेल बना लिया है।' ये बन्धु जैन संस्कृति के इस मूल आधार को ही भुला देते हैं कि वैदिक संस्कृति जहां जन्मजात वर्णव्यवस्था को स्वीकार करती है वहां जैन संस्कृति केवल इसे व्यवहार मात्र मानती है। एक ही पर्याय में गोत्र बदल जाता है और वर्ण भी। भरत ने त्रिवर्णों में से ही जिन्होंने व्रत धारण किए थे, उन्हें ब्राह्मण बनाया था और इसीलिए गोत्र परिवर्तन का कारण सकलसंयम और संयमासंयम आगम ग्रन्थों में बताया गया है। नीचगोत्री सकलसंयमी हो सकता है, म्लेच्छ क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष जा सकता है फिर भी ये भाई जन्मजात वर्ण व्यवस्था से चिपटे हुए हैं। ये भाई शूद्रों को अस्पृश्य बता कर उन्हें मन्दिर में भी नहीं आने देना चाहते। हमारे कुछ सुधारक भाई व्यवहार वर्ताव में अस्पृश्यता हटाने का समर्थन करके भी मन्दिर कानून से मुक्ति पाने के लिए 'जैन हिन्दू नहीं हैं' यह नारा लगा रहे हैं। दक्षिण महाराष्ट्र सभा का प्रस्ताव हमारे सामने है। उसने अस्पृश्यता निवारण के बंबई सरकार के प्रयत्न की सराहना कर के भी हरिजन मंदिर प्रवेश कानून से जैनियों को बरी करने की मांग की है। और उसका आधार यह बताया है कि यद्यपि जैन अभी तक प्रायः हिन्दू ला से शासित होते आए हैं पर जिन बातों में जैनियों का विशेष विधि विधान होता है उन बातों में जैनों पर वर्तमान हिन्दू ला भी लागू नहीं होता, वे हिन्दूओं से पृथक् हैं। जहां तक बंबई सरकार के कानून का सम्बन्ध है वह हरिजनों की अयोग्यता निवारण करनेवाला है। कोई भी व्यक्ति मात्र हरिजन होने के कारण मन्दिर में आने से नहीं रोका जा सकता। बंबई के प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यदि आप

मुझे मन्दिर में ले जा सकते है तो डा० अम्बेडकर को नहीं रोक सकते" इसमें पूजा पाठ के सब अधिकार सबको देने की बात कहां है? प्रश्न इतना ही है कि हरिजनों में अस्पृश्य होने के कारण जो अयोग्यता आरोपित कर रखी थी उसे हटा कर उन्हें मानवाधिकार दिए गए हैं। यदि इस कानून में हिन्दू शब्द से जैन को भी लिया है तो भी हमें क्यों आपत्ति है? जब आज तक हम अनेक बातों में हिन्दू ला से शासित होते आये हैं तब इसमें हिन्दू ला से शासित होने में क्या खतरा है जब कि हमारी संस्कृति हमें जन्मना वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता के मूलोच्छेद की शिक्षा देती है। हमारे शास्त्र शूद्रों को मोक्ष तक का विधान करते है। शूद्रों का क्षुल्लक पद का धारण करना तो कट्टर रूढ़िचुस्त भी स्वीकार करते ही है। ऐसी दशा में शूद्रों द्वारा मन्दिर में देवदर्शन कर लेने का कानूनी हक भी प्राप्त कर लेने में हमें क्यों बाधा है ? यह तो हमारी संस्कृति का ही प्रचार हुआ। उससे बचने का द्राविड़ी प्राणायाम करने से क्या लाभ?

नये शासन विधान की ११वीं धारा में नागरिकताके सामान्य अधिकारों में ही अस्पृश्यता निवारण का मौलिक अधिकार दिया गया है। २६ जनवरी सन् '५० से इस कानून के लागू होने पर सवर्ण और असवर्ण हिन्दू में कोई भेद नहीं रह जायगा। हम किसीको हरिजन होने के कारण अस्पृश्य या नीच नहीं समझ सकेंगे। इस मानवाधिकार की समुज्ज्वल घोषणा से हमें तो मंदिरों में घी के दिए जलाने चाहिए कि आज महावीर के शासन की सच्ची प्रभावना हुई है, उनके और समवशरण के प्रतीक ये जिनालय आज जनालय हुए। इन पर छाया हुआ वैदिक धर्म का तमस्तोम आज नष्ट हुआ। पर आज जैन समाज के ये सुधारक बन्धु भी किसी बहाने से इस सुधार से छुटक जाना चाहते हैं।

जैनधर्म के व्यापक प्रभुत्व को देखकर ही पहिले वैदिक धर्म को खतरा मालूम हुआ था और उसने यह घोषणा की थी कि "हस्तिना ताडयमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात् हाथी के पैर के नीचे दब जाना अच्छा पर जैन मन्दिर में जाना उचित नहीं। आज भी हमलोग इस घोषणा का विरोध करते है और ऐसी घोषणा करनेवालों को भला बुरा कहते हैं पर स्वयं इस मानव समानाधिकार के अहिंसक युग में "नेतृभिः प्रेर्यमाणोऽपि, नागच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात् जननेताओं से प्रेरणा होने पर भी जैन मन्दिर में मत आओ यह धर्मविरोधी, अहिंसा विरोधी और मानवता विरोधी नारा लगाने को तैयार हैं। हमारा सांस्कृतिक तत्त्व यदि कानून से फलित होता है तो उसे हम धर्म में हस्तक्षेप क्यों मानते हैं।

•

भगवान् महावीर ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध सामाजिक क्षेत्र में उतनी तीव्रता से न भी किया हो क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाएं व्यवहाराधीन थीं पर धार्मिक क्षेत्र में तो उनने इस वर्णव्यवस्था की धज्जियां ही उड़ा दी थीं। उनके संघ में चांडाल का भी वही स्थान था जो किसी ब्राह्मण का। व्रत धारण करने पर यह सब भेद ही नष्ट हो जाता है। पर आज के हमारे सुधारक बन्धु सामाजिक व्यवहार में अस्पृश्यता का उच्छेद करने को तत्पर होकर भी धार्मिक क्षेत्र में उसे कायम रखना चाहते हैं, किमाश्चर्यमतः परम्। मन्दिरप्रवेश शुद्ध धार्मिक प्रश्न है, इसमें वर्णभेद के आधार से कोई समझौता नहीं हो सकता। वहां तो मानव मात्र को सम भूमिका पर बैठना ही होगा। हां, वहां के जो नियम होंगे वे सभी को पालने होंगे, वहां जन्मगत जाति के कारण किसी को विशेष संरक्षण नहीं दिया जा सकता। अतः कम से कम हरिजन मन्दिर प्रवेश-वाले सांस्कृतिक प्रश्न पर जैन हिन्दू के भेद का नारा लगाकर उससे निकल भागने का प्रयत्न करना न शास्त्रीय है, न सांस्कृतिक है और न सामयिक ही। हमें आश्चर्य होता है जब राष्ट्रीय नेता हमारी समाज को यह कहते हैं कि "भाई, जैनधर्म तो जाति-पांति मानता नहीं है, फिर क्यों आप लोग इस हरिजनोद्धार में बाधक होते हो" जिस बात को हमें कहना चाहिए था और राष्ट्रीय नेताओं के इस मानवोत्थान के प्रयत्न की सराहना करके उन्हें सहयोग देना चाहिए था वहां हम जैन जैनधर्म को विकृत रूप में देश के सामने उपस्थित करके मानते हैं कि हमने जैन संस्कृति की सेवा की है।

हमारे कुछ दक्षिणी भाइयों ने यह भय उत्पन्न किया है कि इस बिल से जैन हिन्दू बन जायेंगे और उन्हें वैदिक बन जाना होगा। बैरि० सावरकर के द्वारा की गई जैन-बौद्ध-सिख संग्राहक 'हिन्दू' की परिभाषा स्वीकार करने में भी उन्हें यही डर है कि जैन लोग वैदिक हो जायंगे। हमने ज्ञानोदय के चौथे अंक में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि "सावरकर कृत व्याख्या के मान लेने पर भौगोलिक दृष्टि से और परम्परागत आर्यत्व की दृष्टि से हम हिन्दू होकर भी जैसी कि पं० सुखलाल जी की सूचना है–हिन्दू महासभा के सदस्य हरगिज नहीं बनना चाहते, क्यों कि वर्तमान में उसका संघटन वर्णव्यवस्था और ब्राह्मण प्रमुत्व के वर्गोत्कर्ष की भावना पर है, भगवाध्वज उसी श्रुतिस्मृत्यनुमोदित परम्परा का प्रतीक है। अतः हमारा हिन्दू महासभा के कर्णधारों से अनुरोध है कि यदि वे 'हिंदू' शब्द की उक्त व्याख्या जैनों से स्वीकार कराना चाहते हैं तो वैदिक संस्कृति के

प्रतीक भगवाध्वज के स्थान पर सर्वानुमोदित ध्वज स्वीकार करें। उसमें रही वर्णोच्चत्व की भावना को दूर कर समान आधारों से सर्व संग्राहक संगठन करें।" जब हम देखते हैं कि हमारे ये बन्धु स्वयं आनखशिख वैदिक वर्ण-व्यवस्था में डूबे हुए हैं और उसी वर्ण-व्यवस्था के घृणित अभिशाप रूप अस्पृश्यता को क़ायम रखने के 'असांस्कृतिक उद्देश्यों से जैनों को वैदिक बन जाने का भय दिखा रहे हैं। इतना ही नहीं, 'ज्ञानोदयकारों' को नीति और धर्म का अन्तर समझने की सलाह दे रहे हैं तो हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहता। 'ज्ञानोदय' ने प्रारम्भ में ही इस प्रश्न को धार्मिक माना है और इसीलिए शास्त्राधार से इसकी विवेचना की है। और भारत के नव निर्माण के समय जैन धर्म का समुज्ज्वल पतितपावन स्वरूप सामने रखने का सांस्कृतिक प्रयत्न किया है। यदि हिन्दू शब्द की मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि का संग्रह करनेवाली परिभाषा बनाने का प्रश्न उठता है तो ज्ञानोदय उसका स्वागत करेगा। हमने धर्म गुरुओं से भी इसीलिए निवेदन किया था और अब भी कर रहे हैं कि वे इस वैदिक वर्ण व्यवस्था का आग्रह छोड़कर विशुद्ध मूल जैन संस्कृति के पुनीत रूप का प्रचार करें। ज्ञानोदय ने इस प्रश्न का शास्त्रीय आधार उपस्थित किया ही है। वैदिक धर्म के प्रभाव से अपनी रक्षा के लिए हमें आवश्यक है कि जो बुराइयां वैदिकों के संसर्गवश हममें आ गई हैं उन्हें अविलम्ब दूर करके अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों को जीवन में लाए और मानव मात्र के समानाधिकार को स्वीकार कर प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की उच्च भावना की उपासना करें।

सावरकर की परिभाषा से विशाल आर्यसंघ या हिन्दूसंघ में शामिल हो जाने से हम वैदिक नहीं बनेंगे किन्तु हरिजनोद्धार अस्पृश्यता निवारण जैसे जैन तत्त्वों का विरोध कर अवश्य ही हम सक्रिय वैदिक हो रहे हैं। इस कानून के विरोध में कोई सत्याग्रह (?) करना चाहते हैं तो कोई अन्न त्याग कर रहे हैं, कोई फेडरल कोर्ट में न्याय पाने की सलाह दे रहे हैं। इन धर्म के ठेकेदारों की इस करनी से जैनधर्म, जैन संस्कृति और जैन समाज का जो अहित होगा उसे भावी पीढ़ी क्षमा नहीं कर सकेगी। सी० पी० में इसके लक्षण दिखने लगे हैं। वहां हिन्दू ट्रस्टों का उपयोग जैन नहीं कर पायेंगे। हिन्दू मन्दिर, उनसे लगे हुए तालाबों या अन्य जलाशयों पर जैन नहीं जा सकेंगे। अर्थात् आज का हरिजन तो वहां जा सकेगा पर ये जैन नहीं जा पायेंगे। और धीरे धीरे यह विष आर्थिक और अन्य सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त होकर हमें योग्यता के बल पर जो राजनैतिक स्वत्व प्राप्त हो जाते हैं वे इस विलगाववादी प्रवृत्ति की

प्रतिक्रिया में समाप्त हो जायंगे। अतः हमारा स्थितिपालकों और जैन समाज के प्रमुखों से निवेदन है कि वे शास्त्र, संस्कृति और समय को पहिचानने का प्रयत्न करें और इस नव निर्माण के समय ऐसे बीज न बो दें जिससे भावी समाज का जीवन दूभर हो जाय।

समाधिमरण और बलिदान—

जो जन्मता है वह मरता अवश्य है पर उसका मरण कैसा हो इसकी विस्तृत चरचा प्राचीन साहित्य में देखने को मिलती है। जहां जैन साहित्य में समाधिमरण को प्रशस्त माना गया है वहां वैदिक साहित्य में बलिदान को प्रमुखता दी गई है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर इन दोनों में बड़ा अन्तर दिखाई देता है।

समाधिमरण वह विधि है जो मरण के कारणों के उपस्थित होने पर आत्मसंशोधन की दृष्टि से स्वीकार की जाती है। मरण के कारण चार माने गये है—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, अति बुढ़ापा और ऐसा रोग जो असाध्य हो। जब मनुष्य देखता है कि आत्म धर्म का समुचित रीति से पालन करते हुए शरीर की रक्षा नहीं की जा सकती तब वह समाधिमरण को स्वीकार करता है।

किन्तु बलिदान की प्रथाका भाव ठीक इससे उलटा है। इसमें ऐहिक या पारलौकिक कामना की प्रधानता रहती है। जब मनुष्य जी कर या अन्य प्रकार से अपनी इच्छा की पूर्ति होते नहीं देखता और वह किसी को प्रसन्न करना चाहता है या अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये किसी का मन अपनी ओर मोड़ना चाहता है तब वह या तो स्वयं मरण का व्रत स्वीकार करता है या दूसरे निरपराध प्राणियों की हत्या करता है। उसका विश्वास रहता है कि ऐसा करने से मेरे उद्देश्य की पूर्ति नियम से हो जायगी।

समाधिमरण और बलिदान में यही अन्तर है। समाधिमरण को जहां मुक्ति का द्वार कहा है वहां बलिदान संसार का सोपान है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने बलिदान की तीव्र भर्त्सना करते हुए लोकमूढ़ता में इसकी परिगणना की है।

हम देखते हैं कि कुछ समाचार पत्र जैन साधु के मरण को बलिदान की संज्ञा देने लगे हैं। हमने इस समाचार को अत्यन्त कष्ट के साथ पढ़ा है। हम यह कभी भी मानने के लिये तैयार नहीं है कि कोई भी जैन साधु सामाजिक, राजनैतिक या किसी अन्य कारण से बलिदान के व्रत को स्वीकार कर सकता है। हमारी समझ से किसी जैन साधु के मरण को बलिदान कहना जैन परंपरा की अवहेलना करना है। क्या समाचार पत्र इस तथ्य की ओर ध्यान देंगे?

ज्ञानोदय गजि० नं० ए० ८२५

तत्त्वार्थ-वृत्ति

सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

जैन दर्शनकी विशेषता यही है कि वह यथार्थ (वस्तु) की परिधि न लाँघकर हमारे चिन्तन-क्रम को उसी तक परिसीमित रखता है, कल्पना की उड़ान से विरत करके वह हमे वस्तु की ओर देखते रहने को बाध्य कर देता है .....

महामनीषी श्रुतसागर-विरचित तत्त्वार्थवृत्ति के अशुद्धिपुंज संस्करण का यह श्रमसाधित संपादन-संस्कार दक्षिण की ताड़पत्रीय प्रतियों से ही हो सका है....प्रख्यात दार्शनिक श्री महेन्द्रकुमार जैन (बौद्ध दर्शनाध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, काशी विश्वविद्यालय) की सुबृहत् भूमिका ने प्रस्तुत संस्करण को अनमोल बना दिया है। संक्षिप्त हिन्दी-रूप साथ दे देने से महत्त्व दूना बढ़ गया है.... ।

सुपर रायल साईज के ६५० पृष्ठ · छपाई-सफाई आकर्षक;

मूल्य सोलह रुपया

सभाष्यरत्नमञ्जूषा

सूत्र शैली में लिखा गया एकमात्र जैन छन्दशास्त्र का ग्रन्थ। विस्तृत प्रस्तावना और नोटस सहित।

सम्पादक—छन्द शास्त्र के मर्मज्ञ, प्रो० एच० डी० वेलणकर मुम्बई।

मूल्य २)

अन्य पुस्तकों के लिये बड़ा सूचीपत्र मंगाइये

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक
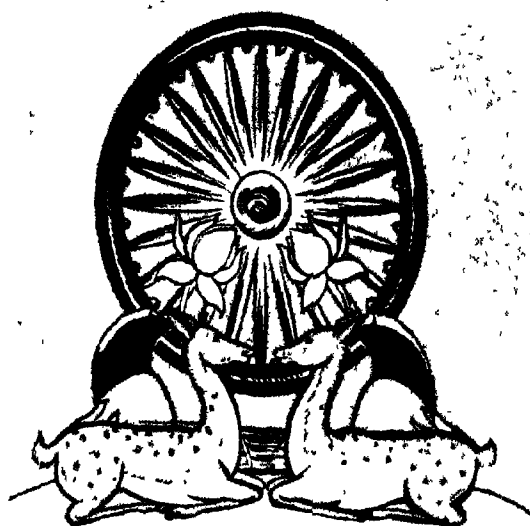
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

फरवरी मार्च '५०] विश्वशान्ति अङ्क [अङ्क ८, ९

सम्पादक—
मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
इस अंक के सहायक—विष्णु प्रभाकर, देहली

प्रस्तुत अंक—

मानव संस्कृति के समुत्थान के प्रत्येक छोटे बडे प्रयत्न में अपने योगदान के उद्देश्य से भारतीय ज्ञानपीठ ने यह निश्चय किया कि विश्वशान्तिवादी सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि भेजकर विश्वशान्तिवादियो से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया जाय और 'ज्ञानोदय' के द्वारा यह अहिंसक आवाज जन-जन तक पहुंचाई जाय। तदनुसार भाई यशपालजी की प्रेरणा से विष्णुप्रभाकरजी सेवागांव सम्मेलन में सम्मिलित हुए और उनने बडे श्रमसे जो सामग्री प्राप्त की तथा अपनी नजरों से सम्मेलन को आंका वह पाठको के सामने प्रस्तुत है। बहुत थोडे समय में हमें यह अंक प्रकाशित करना पड़ा है।

'ज्ञानोदय' ने गत ७ माह में ५५२ पृ० की स्वस्थ सामग्री दी है। प्रस्तुत अंक १४८ पृ० का निकाला जा रहा है। अभी तक ज्ञानपीठ 'ज्ञानोदय' के पीछे सहस्रों का घाटा उठा चुका है। अतः अपनी स्वीकृत मर्यादा के अनुसार हम यह अंक फरवरी और मार्च का अग्रिम संयुक्तांक निकाल रहे हैं। अब अगला अंक महावीरजयन्ती के अवसर पर पाठकों की सेवा में पहुंचेगा। ज्ञानपीठ की भावना है कि 'ज्ञानोदय' के पाठकों को ऐसा ही स्वस्थ मानस भोजन मिलता रहे। इसके लिए हम अपने पाठको का पूरा सहयोग चाहते हैं।

—प्रकाशक

वार्षिक ६)　　इस अंक का १।)　　एक प्रति ॥=)

'ज्ञानोदय'
भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

ज्ञा नो द य
[विश्वशान्ति अङ्क]

इस अंक में–

ज्ञानोदय

सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, प्रान्त और भाषा आदि की दीवारों से ऊपर उठकर विशुद्ध मानवता का उद्बोधक है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सहयोगमूलक आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का पुनर्निमाण चाहता है।

जीवन में श्रम शम और सम की प्रतिष्ठा बढ़ाकर विश्वबन्धुत्व की दिशामे प्रयत्नशील है।

हम आपसे इस पुण्य यज्ञ में इस प्रकारके सहयोग चाहते है—

१ स्वयं ग्राहक बनकर तथा परिचितो को ग्राहक बनाकर
२ अपने यहांकी शिक्षासस्था, वाचनालय, स्वाध्यायशाला आदि में मँगवाकर
३ अपनी ओरसे सार्वजनिक संस्थाओं और विद्वानों को भेट स्वरूप भिजवा कर
४ इसके लेखो का नवयुवकों में प्रचार कर
५ उद्देश्य के अनुकूल लेख आदि सामग्री भेजकर

जय भारत गणतन्त्र

आज इतिहास का वह स्वर्णपृष्ठ लिखा जा रहा है जो मानवता के युग का अभूतपूर्व आलोक स्तम्भ है।

आज भारत के खंडित मानचित्र से पीले रंग का कोढ़ समाप्त हो गया और भारत एक राजनैतिक अखंडता पा गया है।

ऐसी उदार मानव समानाधिकार की घोषणा भारत के करोड़ों वर्ष के इतिहास में ढूंढ़े न मिलेगी।

आज धर्म जाति मूलवंश जन्मस्थान और लिंग के आधार से झपटे गए संरक्षण समाप्त हो रहे हैं और भारतीय मानव केवल मानव होकर समान भूमिका पर सांस ले रहा है। वर्ण-व्यवस्था का घृणित अभिशाप—अस्पृश्यता समाप्त हो रही है और अहिंसा के वात्सल्यालोक में मानवता अंगड़ाई ले रही है।

हमारा गणतन्त्र विश्व-विजय की लिप्सा से कलुषित नहीं है वह विश्व की वर्ण-भेद और आर्थिक शोषण से पीड़ित कोटि-कोटि जनता का त्राण चाहता है और उसकी पर्राष्ट्रनीति जगत् में जाति वर्ण और देश के आधार से प्राप्त समस्त वर्ग-संरक्षण समाप्त करके अहिंसक 'जनतंत्र' की स्थापना चाहती है।

हे मानवत्राता, विश्वरूप, भारत गणतन्त्र, तुम्हारी अरुणिमा में सहस्रों वर्ष से दलित, शोषित, शासित, और प्रताड़ित जनदेवता उद्बुद्ध हो।

विश्वशान्ति के अमरदूत पूज्य बापू

महाप्रयाण ३० जनवरी ४८

बापू, तुम उस क्षण को भी 'हे राम' कह, हाथ जोड़ अभय दे, अपनी अहिंसा की चरम साधना कर गए। हमें अपनी श्रद्धाञ्जलि देने लायक भी बना लो . अनन्त प्रणाम

बापू

शान्ति के युग-दूत,

तुमने समता स्वतन्त्रता और शान्ति की जो अमर ज्योति जगाई थी वह 'ज्योति से ज्योति जले' के प्राकृतिक नियमानुसार आज न केवल भारत को किन्तु विश्व के कोने-कोने को आलोकित कर रही है और शोषण प्रताडन, निर्दलन पीडन के तमस्तोम को चीर कर मानवता को पनपा रही है।

अहिंसावतार,

महाश्रमण वर्धमान और बुद्ध ने धर्मक्षेत्र में मानव समानाधिकार लाने के निमित्त अपना जीवन होमा था, उनने वर्ण-व्यवस्था शोषक और दारुण चक्र से मानवता का उद्धार करके 'सत्वेषु मैत्री' का जो पुण्य पाठ पढ़ाया था उसे तुमने सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी लाने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी।

युगदेवता,

तुम्हारी साधना व्यर्थ नहीं गई। आज भारत का नव-विधान उस व्यक्ति ने बनाया है जिसकी छाया से भी भारत का अभिजातवर्ग घृणा करता था। भारत का मानव अब राजनैतिक और सामाजिक अधिकार क्षेत्र में केवल मानव होगा और आर्थिक समभूमिका की आखिरी मंजिल के लिए अभियान करेगा।

मंगलमय,

हम तुम्हारा पुण्य नाम लेने लायक भी न रहे, हमारे ही एक कुपूत ने, कुपूत ने नहीं उस हिंसक दानवता ने अहिंसा की छाती पर गोली चलाई। विश्व के कोटि-कोटि कंठ कराह उठे और घृणा से पूछने लगे कि गोडसे "हिन्दू था?" पर, बापू तुमने उसे भी हाथ जोड कर अभय ही दिया।

आज हम सब तुम्हारी सन्तान तुम्हारी ही अहिंसा का सम्बल लिए बढ रहे हैं और ऐसी नई दुनिया बनाने जा रहे हैं जिसमें गान्धी ही गान्धी होंगे, गोडसे नहीं।

बापू, आज तुम्हारी महाप्रयाण-तिथि पर हम श्रम शम और सम की प्रतीक महामानव संस्कृति की उपासना का व्रत लेते हैं। और हम उसे जीवन के अन्तिम क्षण तक निबाहेंगे।

बापू, हमारी यह श्रद्धाञ्जलि स्वीकार करो.. ...

भारत गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति
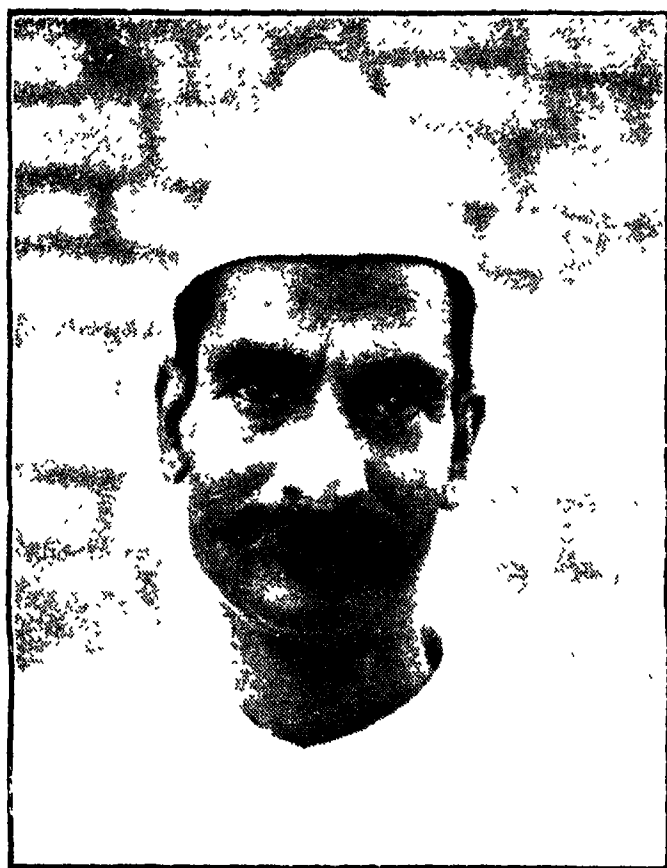
विश्वशान्ति सम्मेलन सेवाग्राम के सभापति

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

बडे होने के साथ-साथ अच्छे भी, ऐसे अच्छे जैसी माँ.....

णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्रमण

वर्ष १ * काशी, फरवरी–मार्च १९५० * अंक ८–९

शान्ति-सूत्र

अहिंसा (शम)—

'सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवध घोर णिग्गथा वज्जयति ण॥"

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ घोर प्राणिवध का त्याग करते हैं।

"जह मम ण पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।'

जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता ऐसा ही सब जीवों को जानो।

"न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।"

वैर या हिंसा का नाश अवैर-अहिंसा से ही हो सकता है वैर से कभी नहीं। यह त्रिकाल-सत्य है। यही धर्म है।

समत्व (शम)—

"समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे"

सब प्राणियों में समत्व दर्शन करना चाहे वे शत्रु हों या मित्र।

अप्रमाद (श्रम)––

"समय गोयम मा पमायए"

गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर।

"अप्पमादो अमतपद पमादो मच्चुनो पद।"

अप्रमाद अमृत और प्रमाद मृत्यु है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य––

"अण्णदवियस्स अण्णदवियम्मि णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जते सहावेण।"

कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने अपने उपादान स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होते हैं और परिणमन करते हैं।

"तुममेव तुम मित्त कि वहिया मित्तमिच्छसि"

तुम स्वयं अपने मित्र हो। अपने को छोड़ कर अन्य मित्र कहां ढूंढ़ रहे हो।

"अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।"

आत्मा ही आत्मा का स्वामी है, पर नहीं।

अपरिग्रह––

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

जिस प्रकार घी से अग्नि की वृद्धि ही होती है उसी तरह विषय भोगों से इच्छाएं बढ़ती ही हैं शान्त नहीं होतीं।

"ण वि अत्थि मज्झ किंचि व अण्ण परमाणुमित्तं पि।

अन्य परमाणु मात्र पर भी मेरा अधिकार नहीं है। वह मेरा नहीं है।

"तृष्णार्चिष परिदहन्ति न शान्तिरासाम् इष्टेन्द्रियार्थविभवै परिवृद्धिरेव।

तृष्णा ज्वालाएं जलाती हैं, इनका शमन विभव सम्पत्ति आदि से नहीं हो सकता। इनसे तो ये बढ़ती ही हैं।

शान्ति का सीधा रास्ता

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

समस्त संसार के लगभग एक सौ शांतिवादियों का सम्मेलन भारत में हो रहा है और विश्व में शान्ति स्थापनाकी विराट समस्या के सम्बन्ध में वे विचार-विनिमय कर रहे है। समस्त संसार की जनता के प्रति वे अपनी शुभ कामनाएं और सदाशाएँ भेज रहे है। जो लोग इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए है, वे चौंतीस देशों से आये है। परन्तु वे अपने देशों अथवा सरकारों के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं करते, क्योंकि सरकारों का अपनी समस्याओ की ओर देखने और उन्हें हल करने का अपना एक अलग दृष्टिकोण होता है, अपना एक अलग ढग होता है। इस परिषद के सदस्य साधारण स्त्री-पुरुषो में से है, जो विभिन्न साधनो से जीवन यापन करते है, किन्तु शान्ति के लिए उत्सुक है—वह शान्ति जो केवल युद्ध की अनुपस्थिति मात्र नहीं है, बल्कि जो काम करती हुई सद्भावना के रूप में विद्यमान है, वह शान्ति जिसके लिए उन्होंने अपने अपने क्षेत्र में काम किया है और जिसके लिए उन्होंने कष्ट सहे है। ससार के साधारण स्त्री-पुरुषो से उनकी यह अपील है कि वे उन कारणो को खोज निकालें, जिनसे युद्ध पैदा होता है और उनका उन्मूलन करें। युद्धों का मूल कारण यह है कि कुछ व्यक्तियो और राष्ट्रो की इच्छाएँ और महत्वाकांक्षाएँ दूसरे व्यक्तियो और राष्ट्रो की इस प्रकार की इच्छाओं और महत्त्वाकाक्षाओं से टकराती है। अमर और सफल शान्ति उस दशा में सुनिश्चित हो सकती है, जब कि राष्ट्र का निर्माण करने वाले व्यक्ति और राष्ट्र अपनी इन महत्त्वाकांक्षाओं को अपने आप सीमित और संयमित कर लें। आधुनिक मनुष्य की प्रकृति पर विजय की प्रवृत्ति केवल उन कामनाओ को अधिक तेज करने की है—अग्नि पर तेल डालने की है। विश्व ने एक पीढ़ी में ही दो विध्वंसकारी युद्धो को देखा। प्रत्येक युद्ध युद्धों को हमेशा के लिए बन्द करने के लिए लड़ा गया, पर प्रत्येक युद्ध केवल द्वेष और भावी युद्ध के बीजों की विरासत छोड़ने में ही सफल हुआ।

महात्मा गांधी ने देख लिया कि जैसे कीचड़ को कीचड़ से धोने का प्रयास व्यर्थ होता है, वैसे ही युद्ध को युद्ध द्वारा, अधिक विध्वसकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण द्वारा और युद्ध के लिए जन समूहों के अधिक सुसंगठन द्वारा समाप्त करने का प्रयास भी व्यर्थ है। उन्होंने युद्धके कार-

णों की जड़ पर आघात करने का यत्न किया। मनुष्य को शान्ति स्थापना का साधन बनाने का प्रयास किया। मनुष्य जीवन में सादगी लाकर, इच्छाओं पर संयम रख कर और अपने चारों ओर प्रेम और विश्वास का प्रसार करके तथा स्वयं निर्भय रहते हुए दूसरों को अपनी ओर से अभय दान देकर ऐसा साधन बन सकता है। इस प्रकार के व्यक्तियों को तैयार करने के लिए हमारे सारे जीवन को नये ढांचे में ढालना होगा। मानव शान्ति स्थापना में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उसका जीवन ऐसा बना रहे कि उससे युद्ध के कारण पैदा होते है। वातावरण निस्सन्देह व्यक्ति को प्रभावित करता है, किन्तु व्यक्ति वातावरण को परिवर्तित कर सकता है और वस्तुतः वह उसका निर्माण भी कर सकता है, यदि वह दुरूह परन्तु सीधे पथ पर चलने का सकल्प कर ले। यह वही पथ है, जिसको चिरकाल से सभी धर्मों के पैगबंरों और महात्माओं ने बताया है। यह वही मार्ग है जिसको हिन्दू ऋषियो ने 'अहिंसा परमो धर्मः' के आदेश द्वारा, ईसा मसीहने पहाड़ी पर दिये हुए आदेश द्वारा और कुराननें "सिरातुल मुस्तकीम" (सीधे रास्ते) पर चलने के आदेश द्वारा बताया है। मनुष्य को इस शिक्षा को केवल दुहराना ही नहीं है, बल्कि इसके अनुसार अपने दैनिक जीवन को ढालना भी है। यह तभी संभव हो सकता है, जब कि मनुष्य अपने लिए सादगी ग्रहण करे और दूसरों के प्रति सक्रिय सद्भावना बतावे। सादगी का अर्थ ही है अधिक से अधिक स्वावलम्बन और कम से कम परावलम्बन। सक्रिय सद्भावना दूसरों की सेवा मे अपने आप प्रदर्शित हो सकती है। व्यक्ति ही राष्ट्र का निर्माण करते है और अपने साथियों और सहयोगियों को कोरे शब्दों की अपेक्षा अपने जीवन द्वारा अधिक प्रभावित कर सकते है। वे अपने देश की सरकार को भी युद्ध-मार्ग छोड़ कर शान्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त होनें के लिए प्रेरित कर सकते हैं। किन्तु ऐसा करने के लिए उनको अपना जीवन पवित्र बनाना पड़ेगा और अपनी आवश्यकताओं को सरल। जब हम अपनी आवश्यकताओं को सरल बनाने की बात करते है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि जीवनकी स्वाभाविक और साधारण आवश्यकताओं को कम कर दिया जाय। इसका अर्थ केवल यह है कि व्यक्ति अपने आपको उन भौतिक आवश्यकताओं का दास न बना डाले, उन पर काबू पा ले और उनके निरोध की शक्ति प्राप्त कर ले।

जब हम विश्व शान्ति की बात सोचते हैं, तब हम यह सत्य नहीं भुला सकते कि जहाँ एक ओर मानवता के एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा किया जानेवाला शोषण शोषकवर्ग की उस गुलामी का प्रत्यक्ष फल है, जिसका

शोषकवर्ग अपने उत्तरोत्तर ऊँचा उठते रहनेवाले जीवन-स्तर की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की लिप्सा के कारण शिकार बन जाता है; तो दूसरी ओर यही शोषण व्यक्तियों और राष्ट्रों के परस्पर संघर्ष का प्रत्यक्ष कारण भी होता है। अतएव सब प्रकार का और सर्वत्र शोषण बन्द होना चाहिये--चाहे वह सामाजिक हो, राजनैतिक हो, आर्थिक हो या धार्मिक ही क्यों न हो; और चाहे वह एशिया में होता हो अथवा अफ्रीका में, युरोप में अथवा अमेरिका में। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की प्राप्ति कराने वाली और दूसरों का शोषण किये बिना ही अपना काम चलाने की योग्यता प्राप्त कराने वाली शिक्षा ही शान्ति स्थापना की अवश्यक प्रणाली है--वह शिक्षा जो सादगी और स्वावलम्बन की कला सिखाती है। आज जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं और साधनों की पूर्ति करके पूर्णतया आरामदेह और संतुष्ट जीवन बिताने की क्षमता और ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध है। किन्तु उन प्रसाधनों का उत्तरोत्तर उपयोग विनाशकारी उद्देश्यों के लिए ही किया जा रहा है। उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता है। किन्तु यह तभी हो सकता है, जब मानवता का प्रत्येक वर्ग यह अनुभव करने लगे कि स्वयं उसकी अपनी सुविधाओं और सुखो में भी वृद्धि हो जायगी, यदि वह जान ले कि भोग की अपेक्षा त्याग में अधिक आनन्द है, यदि वह घृणा और द्वेष की भावनाको प्रेम में, भय को विश्वास में, अधिकार को कर्तव्य में और शोषण को सेवा में परिणत कर सके। अतः विश्व के शांतिवादियो की इस परिषद में संसार के समस्त साधारण स्त्री-पुरुषो से अपील और प्रार्थना है कि वे अपने वैयक्तिक जीवन को इस प्रकार का रूप दे दें, इस प्रकार के ढाँचे में ढाल लें कि उनका जीवन शांतिमय हो जाय। समस्त राष्ट्रों से इस परिषद की अपील है कि प्रत्येक राष्ट्र के पास जो सामग्री और आदर्शों के प्रसाधन हैं, उनका उपयोग वे मनुष्यमात्र को विध्वंस का अस्त्र बनाने और अधिक से अधिक प्रभावशाली विनाशकारी शस्त्रों एवं साधनों से उसे सुसज्जित करने की अपेक्षा, रचनात्मक और शान्तिदायी कार्यों में करें। और यही है उन महात्मा गांधी का शांति संदेश, जो कल तक इस धरनी पर चलते-फिरते थे और जो अपन जीवन और श्रद्धा से असंख्य नर-नारियों को प्रभावित किया करते थे। यह संदेश सेवाग्राम की उस कुटिया से भेजा जा रहा है, जहाँ उन्होंने अपने जीवन के कई वर्ष बिताये; और उस दिन भेजा जा रहा है, जो शांति के अवतार ईसामसीह के अवतार का शुभ और पवित्र दिन है।

[ता० २४-१२-४९ को विश्व-शान्तिवादी सम्मेलन शुरू होने के अवसर पर डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा सम्मेलन की ओर से गान्धी जी की सेवाग्राम कुटीर से दिया गया रेडियो सन्देश।]

गांधी-मार्ग

राजकुमारी अमृतकौर

इस परिषद् का सूत्रपात कैसे हुआ, यह आप सब जानते हैं। एक पीढ़ी में दो महायुद्ध हो चुके हैं, इसके बावजूद तीसरे युद्ध की कल्पना की जा रही है, जो पिछले युद्धों से भयंकर होगा। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि जिन लोगों ने दूसरे देशो में शांति के लिए काम किये हैं और कष्ट उठाये हैं, वे गांधीजी के पास आते और उनसे कुछ और सीखते। गांधी जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो युद्ध के पहले, उसके दौरान में और बाद में तूफानो के बीच प्रकाश स्तभ की भांति शांत और निश्चल खड़े रहे। जब उन्हें हमारे बीच से छीन लिया गया तो बहुतों को यह शंका हुई कि उनके बिना यह परिषद करना ठीक भी होगा? मुझे खुशी है कि मित्र लोग निकटवर्त्ती तथा दूरस्थ स्थानो से आये हैं। यद्यपि गांधीजी स्थूल रूप में हमारे बीच में नहीं हैं; तथापि उनकी आत्मा जीवित है और वह हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी और आशीर्वाद देगी।

मनुष्य स्वभाव से शांतिप्रिय है। अगर ऐसा न हो तो जीवन एक क्षण भी न ठहर पाये। फिर भी खेद है कि अधिकतर लोग यह मान बैठे हैं कि हमारी समस्याओं का हल सशस्त्र संघर्ष के बिना नहीं हो सकता। कहीं-न-कहीं जरूर गलती हो रही है और उस गलती को दूर करने के लिए ही ऐसी परिषद् का उपयोग है।

गांधीजी ने हमको जीवन का ऐसा मार्ग बताया, जो युद्धविरोधी है। उनकी प्रार्थना में जो ग्यारह व्रत दुहराये जाते हैं, अगर हम उनका अध्ययन करें, तो हमको शांति का मार्ग मिल जायगा। उनके तमाम काम अहिंसा पर आधारित थे। अहिंसक समाज की रचना के लिए इन संस्थाओ का काम जरूरी था। उनका कहना था कि सत्य ही ईश्वर है और सत्य तथा अहिंसा को जुदा नहीं किया जा सकता।

हमारे मित्र जो दूसरे देशों से आये हैं, अपने साथ अपने अनुभव लाये हैं। हम उनके अनुभव सुनेंगे। हम अपने मानसिक और नैतिक साधनों को एकत्र कर के ही शांति के लिए अनुकूल वातावरण और मनुष्यो में शांति की इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं। परमात्मा ने समय-समय पर सन्तों और

शहीदो को हमारे बीच भेजा, ताकि हमारा अंधेरा दूर हो। ऐसे संतों और शहीदो का मार्ग कठिन रहा है। गांधीजी ने अपना जीवन बलिदान किया, ताकि दूसरे जीवित रह सकें।

शांति-निकेतन के प्रेमपूर्ण वातावरण में जहां हम एकत्र हो रहे है, यह कल्पना करना कठिन है कि दुनिया में घृणा और युद्ध की कुरूपता का का भी अस्तित्व है। यह उचित ही है कि यह परिषद् पहले यहां और बाद में सेवाग्राम में हो, जहां से दो अमर पुरुषों ने अंधकार और दुर्भावना को मिटाने के लिए प्रकाश और प्रेम का प्रसार किया।

[विश्व-शान्ति परिषद् के शांति-निकेतन-अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण का अंश।]

जागतिक शान्ति की योजना

शान्ति का जप सारा मानव समाज अनादि काल से आज तक करता ही आया है लेकिन अभी तक जैसी चाहिये वैसी शान्ति वह हासिल नहीं कर सका है फिर भी निराशा का कोई कारण नहीं है। अगर हम ठीक से देखें तो मालूम होगा कि मानव के जीवन में हमेशा अधिकतर शान्ति ही रही है लेकिन चूँकि वह हमेशा की हालत है, इसलिये वह महसूस नहीं होती और जितने भी अशान्ति के क्षण होते हैं, ध्यान खींचते हैं। अशान्ति का एक क्षण भी युग सा मालूम होता है और शान्ति का एक युग गुजर जाय तो भी वह एक पलक में बीतता है। जिज्ञासु ने ऋषि से पूछा,' आत्मा का स्वरूप बताइयेगा।' तो ऋषि कुछ बोले नहीं। जिज्ञासु ने दुबारा पूछा तिबारा पूछा तो ऋषि का अपना वही मौन। फिर से पूछा तो ऋषि बोले, आत्मा का स्वरूप तीन तीन बार मैं बता चुका, फिर भी नहीं समझे हो तो शब्द से क्या समझोगे? लेकिन सुनो आत्मा शान्त स्वरूप है।

इस ऋषि वाक्य का हम चिंतन करें तो, शान्ति का रास्ता सूझ जायगा। शान्ति के लिये न चाहिये संघटना, न चाहिये विघटना। उसके लिये चाहिये देह-भिन्न व्यापक अन्तरात्मा का भान, निर्मल चित्त और संयम-शीलता। शरीर मुझे सौंपा हुआ है लेकिन मेरा नहीं है, मेरे लिये नहीं है। समाज का है, समाज के लिये है। सृष्टि का है, सृष्टि के लिये है। फिर तेरा क्या है? सारा समाज और सारी सृष्टि मेरी है। यह है जागतिक-शान्ति की योजना।

आचार्य विनोबा भावे

विश्वसंघ की रचना का आधार

डॉ० प्रफुल्लचन्द्र घोष

यह देश अपनी आय का आधे से अधिक भाग सेवा पर व्यय करता है। आप मित्र लोग चाहे जितना मधुर और प्रिय शब्द कहें, परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि यदि मौजूदा परिस्थितियो में कोई प्रमुख कांग्रेसजन अहिंसा और शान्ति की बात करे तो उसकी बात का विश्वास न किया जायगा। इसलिए मैं व्यक्तिगत रूप से इस विषय का एक सुझाव पेश करता हू जो बिलकुल व्यक्तिगत है। आज हम किसी भी प्रथम श्रेणी के राष्ट्र से अपने आपकी रक्षा नहीं कर सकते। जब हम आत्मरक्षा या बचाव की बात करते हैं तो यह पाकिस्तान के सम्भाव्य आक्रमण से बचाव की बात है। इसी प्रकार पाकिस्तान का आत्मरक्षा की बात करना भी भारत के सम्भाव्य आक्रमण से बचाव की बात है। अत. यदि हम पाकिस्तान के साथ कोई समझौता कर सके तो यह समस्या आसानी से सुलझाई जा सकती है। यदि ऐसा न हो सके तो हम एकपक्षीय कार्रवाई करने की बात सोच सकते हैं। आलोचक कह सकते हैं कि इसमें खतरे हैं, किन्तु मैं नम्रतापूर्वक कहूंगा कि ऐसे खतरे को अपने ऊपर लेना उचित है। यदि हम भय की वृत्ति को पड़ोसी देशो के उन लोगो के मन से दूर न कर सके, जो कल तक एक ही देश के नागरिक थे, तो शान्ति और अहिंसा की चर्चा करना फिजूल होगा। यदि हम इसमे सफल हुए तो हम उस महापुरुष—महात्मा गांधी के योग्य अनुयायियो के रूप में विश्व के सम्मुख सिर ऊँचा उठा कर जा सकेंगे, जिनके नेतृत्व मे काम करने का हमें सुअवसर प्राप्त हुआ था। आज विश्व को पहले से कही अधिक महात्मा गांधी के सन्देश की जरूरत है। परमात्मा हमें उनके सन्देश को वहन करने की शक्ति प्रदान करे तभी भारत अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप विश्व की उन्नति में उचित योग दे सकेगा। यद्यपि वर्तमान स्थिति उज्ज्वल नहीं, तथापि मुझे गौरवपूर्ण भविष्य की आशा असीम है।

शान्तिवादी का ध्येय विश्व संघ के अतिरिक्त कुछ हो ही नही सकता, किन्तु वह तभी स्थापित हो सकता है जब कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र का, चाहे वह कितना ही छोटा या निर्बल क्यो न हो, शोषण न करने का निश्चय करे। उपनिवेशवाद विश्व-शान्ति के लिए एक खतरा है और इस प्रकार वह एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का आर्थिक शोषण है। हमें

इसको नष्ट करना ही चाहिए। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि मानव जीवन के अस्तित्व के लिए जो वस्तुएँ अत्यावश्यक हों, वे सभी राष्ट्रों की सम्मिलित सम्पत्ति होनी चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र को वे वस्तुएँ आवश्यकतानुसार ऐसे मूल्य पर दी जायं जो शोषणपूर्ण न हो। ऐसे देश से जिसके पास भूभाग तो विशाल हो, किन्तु जन संख्या प्रति वर्गमील अपेक्षाकृत कम हो, अपने विकास के नाम पर अनावश्यक रूप से अधिक जमीन की माँग के सिद्धांत को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे विश्व का सन्तुलन बिगड़ेगा। विश्व-शान्ति के लिए ये चिह्न स्वस्थता के नहीं कि रूस के पास अविभाजित भारत की अपेक्षा भूमि तो पाच गुनी हो, किन्तु जनसंख्या भारत की जनसख्या से लगभग आधी ही हो और आस्ट्रेलिया की जनसंख्या तो केवल ६० लाख हो, किन्तु उसके पास भू-भाग विशाल हो। इस निर्दयता की जरा कल्पना तो कीजिये कि एक देश की जनता तो जिन्दा रहने को आवश्यक खाद्य के लिए तरसे और दूसरे देश के लोग अपने देशवासियों से मिलने वाले मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य पर उन जरूरत मन्दो को अन्न दें। किन्तु यह कटु सत्य है। जब तक हम अपना पूरा दृष्टिकोण ही नही बदलते, भौगोलिक सीमाओ के बन्धन नहीं लाँघते और विश्व की समस्त जनता को अपने समान नहीं समझते तब तक मानवता के कल्याण की कोई आशा नहीं। इस समस्या को आप धीमी गति से या खण्डशः हल नहीं कर सकते। यह एक और अखण्ड है। प्रत्येक देश को अपनी-अपनी सीमाओ में रहते हुए इसी आदर्श को अपनाना चाहिए। यदि किसी देश में सामाजिक और और आर्थिक असमानता हो तो विश्व-सघ की रचना में वह न केवल अपात्र ही होगा, बल्कि वह सक्रामक रोग के समान होगा। जिस प्रकार अस्वस्थ मनुष्य राष्ट्र के लिए भार रूप है, उसी प्रकार अस्वस्थ राष्ट्र विश्व के लिए भार रूप है, और समस्त राष्ट्रो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उस रोगी राष्ट्र को रोगमुक्त करें।

मुझे विश्वास है कि आप सब अपने सम्मुख उपस्थित इस महान कार्य की आवश्यकता और गुरुता का अनुभव करते हैं। आश्चर्य नही यदि अनेक शासनारूढ़ सत्ताएँ आपको पागल समझें, आपको सन्देह की दृष्टि से देखें और जब आप शक्तिशाली हों तो आपका दमन करें और उनमें से कुछ सत्ताएं अपने कार्यों के समर्थन के लिए आपको अपने पीछे रखना चाहें, परन्तु मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि आप अपने आदर्शों के प्रति सच्चे रहे तो आपका यह कार्य इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

[विश्व-शान्तिवादी-सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन मे अध्यक्ष पद से १० दिसम्बर १९४९ को किया गया भाषण।]

अहिंसक जीवन

आचार्य विनोबा भावे

मेरे सहभावी मित्रो,

यहाँ के भाई-बहनो की ओर से मैं प्रेम और आदर के साथ आपका स्वागत करता हूँ। प्रथम मैं आपको भक्तिभाव से प्रणाम करता हूँ। मेरे लिए आप परमेश्वर की मूर्तियाँ हैं। आपसे मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं है। लेकिन मैं जानता हूं कि आप परमेश्वर का काम कर रहे हैं। दुनिया के कोने-कोने से आप यहाँ आये हैं। आपने हमारे यहाँ पदार्पण करके जहाँ हमें पावन किया है, वहाँ हमारी जिम्मेदारी भी बढाई है। लेकिन आपकी ही मदद से वह जिम्मेदारी हलकी भी हो सकती है।

आपको यहाँ खींच लानेवाली शक्ति स्थूल रूप में यहा नहीं रही है। लेकिन सूक्ष्म रूप में यहाँ वह पहिलेसे भी अधिक मौजूद है, ऐसा मैं तो रोज अनुभव करता हूँ। बापू होते तो आपको यहाँ आत्मिक विचारों का अमृत पिलाते। वह चीज हम आपको कैसे दे सकते हैं? लेकिन यहाँ हम जो कुछ थोड़ा काम करते हैं, उसको आप देख सकते हैं। उसमें आप जो भी दोष देखें, और दोष तो बहुत हैं, वे आप हमारे समझिये, और अगर कुछ गुण देखें, तो वे उनके अमृत विचार का परिणाम समझिये।

अहिंसा यानी विनाश के कामों में हिस्सा न लेना इतना ही नहीं है, रचनात्मक कामो में, मानवताका विकास करनेवाली सेवा में तन्मय हो जाना ही अहिंसा का मुख्य रूप है। लोग कहते हैं, 'अहिंसादेवी निःशस्त्र है।' मैं कहता हूँ 'यह गलत खयाल है। अहिंसा देवी के हाथ में अत्यंत शक्ति-शाली शस्त्र हैं। वे प्रेम के शस्त्र हैं, इसलिए उत्पादक होते हैं, संहारक नही होते। लेकिन संहार करते हैं तो द्वेष का, विषम भावका, अनारोग्य का। इतना जरूर है कि अहिंसाके वे शस्त्र आकार में छोटे-छोटे होते हैं और आहिस्ता-आहिस्ता काम करते हैं।'

लोग कहते हैं कि 'आपके ये छोटे औजार इस यंत्र-युग में नहीं चलेंगे,

---

अखिल विश्वशांति सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर ता० २५-१२-४९ को सेवाग्राम में दिया गया भाषण।

हमने इसका तजरबा करके देखा, तो अनुभव आया कि इस यंत्र-युग में भी वे चल सकते हैं। हमने चरखा चलाया, चक्की चलाई और देखा कि बावजूद इस यंत्र-युग के चरखेने सूत काता, चक्की ने आटा पीसा। तो हमने इस प्रयोग को आगे चलाया, जिसका कुछ रूप आप यहाँ देख सकते हैं। चरखे के इर्द-गिर्द अहिंसा की तालीम लेने की हमने कुछ कोशिश की है, जिसने हमारे जीवन को शुद्ध बनाने में मदद ही है। इसके साथ-साथ दुःखितो की सेवा जितनी बन सकती है, करने की हमारी इच्छा रही है। हमारी इच्छा रही है। इस कामको आप सहानुभूति से, लेकिन परीक्षण पूर्वक देखियेगा।

अर्थनिष्ठा बनाम अहिंसा–

हमारी मुख्य कमी यह है कि हम अभी आसपास के गरीबो के साथ पूरे एकरूप नहीं हो पाये हैं, और मेरी राय में वह तब तक नहीं हो सकेगा. जब तक हम पैसे का आधार नहीं छोडते और शरीर-परिश्रम पर खड़े नहीं होते। वैसे कुछ तो शरीर-परिश्रम हम करते हैं, लेकिन उतना काफी नहीं है। हमें शरीर-परिश्रम से ही रोटी कमाने का व्रत लेना चाहिये और पैसे से मुक्त होना चाहिये। उसके बगैर शक्तिशाली अहिंसा प्रगट नहीं होगी। जीसस क्राइष्ट जो कह गये है उसे मैं अक्षरशः मानता हूँ: 'सुई के छेद में से ऊँट जा सकेगा, लेकिन पैसे का मोह रखने वाला अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा, चाहे नाम उसका वह लेता रहे।' आजकल इस दिशा में मेरे विचार काम कर रहे हैं। इस चीज को हम फौरन अमल किस तरह कर सकें, इसीका मेरा चिंतन चल रहा है। अपने मित्रो को मैं समझा रहा हूँ कि पैसे को छोड़ो और पैदावार में लग जाओ। कहाँ तक इसमें मैं सफल हो सकूंगा यह देखने की बात है।

अब मैं विश्वशान्ति के बारे में अपने कुछ विचार आपके सामने बहुत थोड़े में रखूंगा। आजकल तीसरे जागतिक युद्ध की बात दुनिया में चलती है और निरंतर उसी का चिंतन करते रहेंगे, तो वह घटना हो भी जायगी। लेकिन मैं जागतिक युद्धों से डरता नहीं हूँ। मैं डरता हूँ छोटी-छोटी लड़ाइयो से और छोटे-छोटे झगड़ों से। जागतिक युद्ध मुझे अहिंसाके बहुत नजदीक मालूम होते हैं। हिंसा में विश्वास रखने वालो से मैं हमेशा यही प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने विश्वास के मुताबिक अहिंसा का व्रत नहीं ले सकते तो कोई चिंता नहीं; लेकिन इतना तो व्रत लीजिये कि अगर लड़ेंगे, तो जागतिक लड़ाई लड़ेंगे। छोटी-छोटी लड़ाइयां और छोटे-

छोटे झगड़े हरगिज नहीं करेंगे। मैंने तो यहां तक कह दिया है कि जागतिक युद्ध ईश्वर-प्रेरित होते हैं। जब हम सरलता से नहीं समझते है, दयालु ईश्वर हमारी बुद्धि को चालना देने के लिए और अहिंसा की ओर हमें वेग से खींच ले जाने के लिए जागतिक युद्ध की प्रेरणा देता है। उससे छोटे दायरे में सोचने वाली संकुचित बुद्धि से मनुष्य का छुटकारा होता है और सारी मानवता के लिहाज से वह सोचने लगता है। यह अहिंसा की ओर बड़ा भारी कदम है। लेकिन छोटी लड़ाइयो के बारे में यह बात नहीं। वे अहिंसा की कट्टर दुश्मन है और अहिंसा को दूर ढकेलने वाली है। इसलिय उनसे हमें सावधान रहना चाहिये। जिनकी हिंसा पर निष्ठा है, उनसे भी यह बात छिपी हुई नहीं है। इसलिए उनकी तरफ से भी कोशिश यही रहेगी कि जहां तक हो सकता है जागतिक युद्ध न होने वें और न छोटी-छोटी लड़ाईयां जारी रखें।

अहिंसा को स्थानीय और छोटे-छोटे झगड़ों का ही मुख्य डर है, यह बात अगर ध्यान में आती है, तो हमारा काम आसान हो जाता है और हमें योग्य दिशा मिल जाती है। उससे हम अपनी आसपास की दुनिया की सेवा में लग जाते हैं और हमारे सेवाक्षेत्र में कोई विसंवाद पैदा न हो इसके लिए कोशिश करते है। फिर हमारी दृष्टि अंतर्मुख होती है और हमें अपनी चित्तशुद्धि की आवश्यकता का ख्याल आता है। उससे मसले के हल का सही रास्ता मिल जाता है। इससे उलटे, जागतिक युद्ध के होने का भी सोचते रहते हैं, तो दिमागी ख्याल में पड़ जाते हैं, अंतर की गहराई में पहुँचते नहीं और बाहरी संघटना पर ही निर्भर रहते हैं।

अब मै यहां मेरे दूसरे विचार पर सहज आ पहुँचा और वह है संघटना के बारे में। इसका थोड़ा इशारा मैंने अपने उस पत्र में किया था, जो मैंनें शान्तिनिकेतन के अधिवेशन के वक्त भेजा था। बहुत दफा हम अहिंसा के बारे में सोचते है, तो भी हिंसा की भाषा में सोचते हैं। कुछ तो यह अनिवार्य है। फिर भी परिभाषा के कारण हम जरूर गुमराह हो जाते है। मिसाल के तौर पर, हम शान्तिसेना की बात करते हैं। सोचते है कि हम ऐसी शान्ति-सेना तैयार रखें कि दुनिया के किसी कोने में अगर अहिंसा का स्फोट हो, तो प्रतीकार और कुरबानी के लिये उसे फौरन वहां भेज सकें। अब सोचने की बात है है कि हिंसक सेना को तो जितनी दूर भेजो उतना अच्छा ही है। क्योंकि उसको तो द्वेष करना है, इसलिये सामने वाले का जितना कम परिचय हो या उसके विषय में जितनी अधिक विपरीत धारणा हो, उतना द्वेष को बल ही मिलता है। लेकिन यहां तो प्रेम से जीतना है।

इसलिए शान्ति-सेना का उपयोग नजदीक के क्षेत्र में ही अधिक हो सकता है। और वह सेना भी क्या होगी? रोज शरीर-परिश्रम से अन्न उत्पन्न करनेवाली दुखितों की मरहम-पट्टी करनेवाली और अहंकार छोड़ कर सब में घुल-मिल जाने वाली सेवक मंडली। और उसके शस्त्र-अस्त्र क्या होंगे? जैसे तुलसीदासजी ने रामायण में वर्णन किया है और जैसे गांधीजी ने आश्रम के लिए विधान बनाया है, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रत। अब इसको सेना कहना है तो कह लीजिये; लेकिन वह बिलकुल ही निराली चीज है। अहिंसा की ज्योति का प्रचार बाह्य तान्त्रिक संघटनाओं से नहीं होने वाला है। हमने इतिहास में देखा है, अकेला जीसस आया और उसने जो प्रकाश दिया, वह चर्चों और खिस्ती सरकारों के द्वारा नहीं, बल्कि उनके बावजूद, दुनिया में फैला और आज भी हमें प्रेरणा दे रहा है। वही बुद्ध भगवान की हालत थी। उसके हाथ में तो राज्य था। लेकिन उसका विचार उस राज्य सत्ता से नहीं फैल सकता था। वह तो इसलिए फैला है कि उसने राज्य को तृणवत् समझ कर फेंक दिया। आखिर अहिंसा का प्रचार कौन करनेवाला है। देह थोड़े ही अहिंसा का प्रचार कर सकती है देह तो हिंसामय है। जितने हम देह से ऊँचे उठते हैं, उतने ही हम अहिंसा-को ग्रहण करते हैं। अहिंसा आत्मा का स्वभाव है। इसलिए अहिंसा को मुख्य आवश्यकता है आत्मशोधन की, आत्मशुद्धि की, भूत-सेवा की, विश्व-व्यापी प्रेम की और निर्भयता की। मेरे मन में यह विचार इतना स्थिर हो गया है कि मैं तो सेंट फ्रांसिस की भाषा में अपने मन को यही समझाता हूँ कि तू संघटना में मत पड़ना।

हमने यहाँ सर्वोदय समाज की कल्पना चलाई है, तो लोग मुझ से यही पूछते हैं कि उसकी संघटना का क्या स्वरूप है। मैं समझता हूँ कि अभी के प्रचलित अर्थ में वह संघटना नहीं है। वह एक कल्पना है। लोग इसे समझ नहीं पाते और कोशिश उनकी यही रहती है कि वह एक संघटना बने। आजकल संघटना का मोह इतना प्रबल है कि अगर हम जरा भी गाफिल रहे, तो सर्वोदय समाज भी चुपके से संघटना बन जायगा। इतना नहीं, देखते देखते एक पोलिटिकल पार्टी की शक्ल भी ले सकता है और फिर सर्वोदय के नाम और विचार में जो स्फूर्ति है वह क्षीण हो जायगी।

मैं यह विचार-कथन अधिक लंबाना नहीं चाहता। आप सब लोग प्रयोगी और अनुभवी हैं। आपके सामने नम्र-भाव से मैंने थोड़े में अपना विचार रख दिया। उसमें जो भी सार हो आप ले सकते हैं।

आखिर में हिन्दुस्तान की एक विशेष बात का मैं थोड़ा जिक्र करना

चाहता हूँ। मैं मानता हूँ कि अहिंसा के इतिहास में मांसाहार-परित्याग हिन्दुस्तान की एक विशेष देन है। यह नहीं कि सारे हिन्दुस्तानी शाकाहारी होते हैं। लेकिन वह विचार यहाँ का सर्वमान्य विचार है। हमेशा शाकाहार करने वाले कोई निर्दय लोग भी मैंने देखे हैं। आदत से मांसाहार करने वाले दयालु पुरुष भी देखे हैं। बावजूद इस बात के मेरी श्रद्धा है कि शाकाहार अहिंसा के विचार के लिए बहुत मददगार होगा और उसके बिना मानवता में कसर रहेगी।

शाकाहार के साथ निसर्गोपचार भी, जिसकी बापू ने आखिर आखिर में रट लगाई थी, आ ही जाता है। विश्व-शान्ति की चर्चा में निसर्गोपचार का मैं नाम लेता हूँ, तो संभव है मैं हँसी का पात्र हो जाऊँ। लेकिन उसको मैं छोड़ नहीं सकता, क्योंकि विशुद्ध जीवन के लिये मुझे यह अनिवार्य-सा लगता है और क्योंकि आज कल मैं बीमार हूँ, अतः समाप्ति में निसर्गोपचार का उल्लेख कर के मैं अपनी श्रद्धा को दृढ़ करूँ, यह मेरे लिए लाभदायी है। मेरे इष्टजन मुझे कहते हैं, कुछ औषधोपचार करो, तुम्हारा काम जल्दी हो जावेगा । तो मैं कहता हूँ, 'मुझे जल्दी करने की जरूरत नहीं है। चंद रोज अधिक मैं दुनिया में रहूँ, तो भी मुझे कुछ खास हर्ज नहीं है।'

आप भारत-भूमि पर एक विशेष श्रद्धा रख कर आये हैं और भारतसे आपने कुछ आशा रखी है। मुझे विश्वास है कि आपकी वह आशा बेकार नहीं जायेगी :

"मित्रस्य अहं चक्षुषः सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"

मैं सब दुनिया की तरफ मित्रता की निगाह से देखूँ, ताकि दुनिया उसी निगाह से मेरी तरफ देखे । यह सन्देश अति प्राचीन काल में वेदों ने भारत को दिया था। उसीको ऐतिहासिक काल में भगवान बुद्ध ने यहाँ अपने जीवन से प्रगट किया। उस पर समाधानकारक अमल हम नहीं कर पाये हैं। फिर भी इतिहास साक्षी है कि भारत के उत्कर्ष के जमाने में भी उसने दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण नहीं किया। भारत का ग्रामीण मनुष्य मानवता को जितनी आसानी से ग्रहण करता है, उतनी आसानी से राष्ट्राभिमान को ग्रहण नहीं करता। और सच्चा भारत ग्रामों में ही बसता है । जब अंग्रेजों का हर तरह का जुल्म इस देश पर चलता था, तब भी यहाँ का लोक-प्रिय महाकवि शान्तिनिकेतन की स्थापना करता था और विश्वप्रेम के गीत गाता था। और यहाँ का राजकीय नेता हमें अहिंसा का यथार्थ पाठ सिखाता था और आजादी हासिल करने के लिए भी हिंसा की मनाही

करता था; और हम गलतियाँ करते हुए तीस साल उसकी बताई हुई मर्यादा में रहे। ऐसे देश से आप कुछ आशा रखते हैं, तो वह स्वाभाविक बात है।

सवाल उठता है, गांधीजी के जाने के बाद हम किधर जा रहे हैं? हमारी सरकार किधर जा रही है? भविष्य मैं नहीं जानता। लेकिन अभी की जो स्थिति मैं देख रहा हूँ, उससे मुझे इतना आश्वासन मिलता है कि गांधीजी के सर्वोत्तम सहकारी, पंडित जवाहरलालजी, हमारे देश का नेतृत्व कर रहे हैं, और उनकी सरकार देश के अन्दरूनी कारोबार में चाहे जो भी गलतियाँ करती हो, परन्तु आन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपना सारा वजन विश्व-शान्ति और सब राष्ट्रों की आजादी के पक्ष में डाल रही है।

फिर भी गांधीजी के जाने के बाद हमारे लोगों को यहाँ कुछ अंधकार जरूर महसूस होता है। लोगों को लगता है कि शायद हम बापू को भूलते जा रहे हैं। जिनके बारे में यह आभास हो रहा होगा, उन्होंने पहिले भी कभी बापू को स्मरण में नहीं रखा था। हम उनको भूले नहीं हैं, फिर भी अंधकार है तो उसका कारण मेरी नजरों में यह हो सकता है कि हम बापू को बहुत ज्यादा याद कर रहे हैं। हम जब कभी किसी मौके पर सोचने बैठते हैं, तो हमारे मन में यही खयाल आता है कि ऐसे प्रसंग पर बापू ने क्या कहा था या क्या किया था। इस तरह का विचार प्रकाश देने के बदले बाज दफा अंधकार में डालता है। लेकिन ज्यादा दिन तक ऐसा नहीं चलेगा। हम आहिस्ता-आहिस्ता अपनी बुद्धि से अहिंसा पर सोचने लगेंगे और हममें नये प्रयोग करने की हिम्मत आयगी। वैसा न हुआ तो कोई खास चिंता नहीं; क्योंकि परमेश्वर की कृपा से हम भी यहाँ कायम रहने वाले नहीं हैं। हमें वह उठा लेगा। दूसरों को भेजेगा, जो ताजा दिमाग से सोचेंगे और अहिंसा को विश्व-व्यापक करने का काम, जो परमेश्वर को अभीष्ट है, पूर्ण करने में परमेश्वर के हाथ के औजार बनेंगे।

तो आप भारत से जरूर आशा रखियेगा। आप की आशा ही हम जैसे दुर्बलों को बलवान बनायगी। और जिसकी आशा दूसरे दुर्बलों को बलवान बना सकती है, उनको खुद को वह महाबलवान बनाये बगैर कैसे रहेगी?

आप सबको फिर से मेरे विनम्र प्रणाम।

शान्ति और युद्ध

श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला

मैं ठीक ठीक नहीं कह सकता कि विश्व-शांति सभा में किन सवालों पर विशेष ध्यान दिया जावेगा। सभा के मंत्रियों ने एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार की है, जिसमें धर्म, शिक्षा, विज्ञान, उद्योग, व्यापार, सरकार वगैरह कई विषयों को लिया गया है। जीवन के हर पहलू पर दुनिया में शान्ति और अहिंसा पैदा करने की दृष्टि से ही विचार करना होगा। इन सब का उपयोग मनुष्य ने जैसे प्रेम, शान्ति और उदारदिली बढ़ाने के लिये किया है, वैसे ही लड़ाई, द्वेष और पाप बढ़ाने, महानाश करने, मनुष्य तथा अन्य जीवों को दुःख और पीड़ा पहुँचाने के लिये भी किया है।

ये सब भिन्न भिन्न विषय तो जीवन की ऊपरी शाखाएँ हैं। असल तो मनुष्य का हृदय और आसपास का समाज कुटुम्बीजन और पड़ोसी हैं तथा सृष्टि में उस हृदय के फैल जाने की शक्ति है। यदि मैं अपने पिता, लड़के, पत्नी, भाई या पड़ोसी से लड़ने या मूक प्राणियों को त्रास देने या उनके साथ अपने सम्बन्ध में स्वार्थी रहने या उन्होंने मुझे कोई कठोर शब्द कहे हों या मेरा बुरा किया हो, तो उसकी गाँठ बाँध रखने या अपने छोटे से परिचित गिरोह को छोड़ कर और सबको अपने प्रेम, आदर और सेवा का अनधिकारी मानने की क्षमता रखता हूँ, तो इस संसार में शान्ति और सद्भावनाओं का आधिपत्य कायम होगा, ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती।

अक्सर अंग्रेजी में कहा जाता है कि एक गौरैया के दिखाई देने से बसन्त नहीं आ जाता। लेकिन उससे ऋतु-परिवर्तन की शुरूआत तो दिखाई देने लगती है और लोगों को उम्मीद होने लगती है कि एक-दो पखवाड़ों में अधिक गौरैये आ जावेंगी और साथ ही बसन्त भी। इसी तरह कुछ ईमानदार और सदाचारी लोग दुनिया के प्रवाह को रोकने के लिए भले ही काफी न हों, लेकिन वे यह आशा तो पैदा करते ही हैं कि बार-बार और उद्यम के साथ प्रयत्न करने पर मनुष्य वह स्थिति पा सकता है। कुछ भी हो, जिनकी उस पर श्रद्धा बैठ गई है और जिन्हें वही करने की प्रेरणा हुई है, वे दूसरा कुछ कर नहीं सकते। उन्हें सब ओर से पूजा और आदर मिले या गाली, तिरस्कार और मार, उनका जीवन तो अपने धर्म को निबाहने और उसके लिये काम करने तथा गांधीजी के साथ यह श्रद्धा

रखने के लिए हूं कि अभी तक अहिंसा जो असफल रही है उसका कारण यह नहीं कि वह कमजोर है, बल्कि हम लोग, जिनके जरिये उस शक्ति को काम करना है, उसे प्रकट करने के परिपूर्ण साधन नहीं है। और इसलिए हम चाहे आम लोगों के बीच काम करें और अपने विचारों का प्रचार करें या अपना खानगी और प्रसिद्धि से दूर रहा हुआ जीवन बितावें, हमारी हर प्रवृत्ति जैसे हमारे पड़ोसी के नैतिक उत्थान के लिए हो, वैसे ही स्वयं अपने नैतिक उत्थान के लिये भी होनी चाहिये। जब तक हम अपने आप में शान्ति नहीं पैदा करते या अपने अड़ोस-पड़ोस में प्रेम और शान्ति नहीं फैला सकते, तब तक बाहरी दुनिया में शान्ति कायम कर ही नहीं सकते।

युद्ध और शान्ति की समस्याएं—

युद्ध और शान्ति की समस्याओं पर विचार करने पर कई बातें दिमाग में आती हैं। दर्शन और धर्म जो कि ईश्वर की शोध और सन्देश देने का दावा करते हैं, इतिहास और शिक्षा जिन्हें संस्कृति की शोध और सन्देश माना गया है, विज्ञान और कल-कारखाने जिन्हें कुदरतकी शक्तियों की खोज और व्यवहार-व्यवस्था माना जाता है, व्यवसाय और सरकार जो कि समृद्धि और न्यायपूर्ण व्यवस्था बढ़ाने के लिए बनाये गये हैं, सच पूछा जाय तो हर मानवी-प्रवृत्ति यद्यपि सोची गई है मनुष्य और संसार की भलाई के लिए, फिर भी वह बुराई का साधन क्यों बन गए हैं? मनुष्य ने अपना कौन-सा दिशायंत्र खो दिया है या तोड़ दिया है, जिससे वह सही दिशा पाने में असमर्थ है और अपार समुद्र में व्यर्थ भटकता और छिपी चट्टानों से बार बार टकराता फिरता है?

कोई भी नहीं कहता कि उसे युद्ध चाहिये। हिटलर और मुसोलिनी ने युद्ध के लिए युद्ध नहीं किया। स्टेलिन, रूजवेल्ट और चर्चिल युद्ध नहीं चाहते थे, और न ट्रूमन और एटली ही युद्ध चाहते हैं न भारत और पाकिस्तान को उसकी इच्छा है, न काश्मीर को। सारी दुनिया में जनसाधारण कहीं भी युद्ध नहीं चाहते। उस अर्थ में हरएक शांतिवादी है। फिर भी युद्ध होते हैं और उनके शुरू होने पर कत्लेआम और दूसरे प्रकार की विनाश की कार्रवाइयां होती हैं। आखिर यह क्यों?

बात यह है कि युद्ध कोई भी नहीं चाहता और आक्रामक तो हरगिज नहीं बनना चाहता, लेकिन एक शर्त पर। वह यह है कि जीवन, जायदाद और जीवन के कामों में हरएक को अपने ढंग से बरतने दिया जाय, और दूसरे उसकी सुविधाओं के अनुकूल अपने को बना लें। यदि इस काममें

बाधा आती है, तो उसे अपने ढंग से बरतने के लिए, जिसे वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है, अपना 'बचाव' करना पड़ता है। और चूंकि आक्रामक होना ही सबसे अच्छा बचाव है, इसलिये वह दूसरों के मुकाबले खुदको फौजी ताकत में अधिक सुसज्जित रखना ही चाहता है। इस तरह हरएक दूसरे की ओर अंगुली बतला कर कहता है: "मैं क्या करूं? वह शान्तिपूर्ण तरीकों में विश्वास नहीं रखता। वह मुझे अपने ढंग से बरतने देकर खुद को उसके अनुकूल नहीं बना लेता। इसलिए मेरे सामने उसे अपने रास्ते से अलग हटाने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है।"

या, यदि मैं अपने पड़ोसी से कहूँ. "मेहरबानी करके यदि आप मेरे रास्ते में न खड़े रहें, या मेरे साथ अन्याय न करें, तो मैं आपसे दोस्ती करता हूँ और आपको सलाम (भगवान आपको शान्ति दे!) करता हूँ; लेकिन यदि आप भलमनसाहत न बरतेंगे और खुदगर्जी और गैर इन्साफी से चलेंगे, तो मैं आप से लड़ाई करूंगा", तो मेरा यह शांतिवाद शंकास्पद है। यदि शान्ति की जीत प्राप्त करना हो, तो मुझे अपने पड़ोसी के दुर्व्यवहार के लिए तैयार रहना चाहिये और उसके अन्याय का मुकाबला करने के लिए कोई ऐसा तरीका ढूंढना चाहिये जो हिंसक न हो। हमारी सारी खर्चीली और विशाल फौजी तैयारी के बावजूद युद्ध एक जोखिम भरा काम है, जिसका परिणाम निश्चित नहीं रहता। विजय भी पराजय बन जाती है। फिर भी हर एक बिना शर्त युद्ध की तैयारी करने में विश्वास रखता है। उसकी शान्ति का तरीका अख्तियार करने की तैयारी सिर्फ इसी शर्त पर रहती है कि दूसरा भी ऐसा ही करे। इससे न तो पड़ोसियों में शान्ति कायम हो सकती है, न राष्ट्रों में। दूसरी शक्ति से कुचले और बरबाद किये जाने का एकतरफा खतरा किसी को तो भी उठाना ही होगा। और यह आत्मा की शक्ति और अपने दावे की सचाई और न्यायपूर्णता के बल पर ही करना होगा।

लेकिन जिनके मन में अपने देशवासियों के प्रति जिम्मेवारी की भावना है, उन शासनकर्ताओं से इस तरह की हिम्मत की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि वे ऐसा करने की कोशिश करें, तो लोग उन्हें निकाल फेंकेंगे। साम्राज्यवादी भावना और शोषक महत्त्वाकांक्षाओं वाले शासकों में तो यह हिम्मत और भी कम हो सकती है।

तब यह सवाल कैसे हल हो? शासकों से कितनी अपेक्षा रखी जाय और लोकमत के दबाव के जरिये उन्हें कितनी हिम्मत करने के लिए तैयार किया जा सकता है? और इस विषय पर समझदार लोक मत किस ढंग से तैयार और मजबूत किया जाय? [हरिजन-सेवक]

विश्व शान्ति के दूत

"सुशील"

मेरे साथी ने अतिथि भवन की दूसरी मंजिल पर एक कमरे के आगे खड़े हुए एक मोटेसे व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए, कहा, "ये हैं डा० मा र डे का इ जा न स न, हावर्ड (निग्रो) विश्व विद्यालय के अध्यक्ष।" यद्यपि मैं उन्हें स्पष्ट नहीं देख पा रहा था तो भी मुझे मित्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने कहा—"क्या ये भी नीग्रो हैं।" "निस्सन्देह", मित्र बोले, "ये नीग्रो हैं पर गोरे नीग्रो।"

निस्सन्देह डा० जानसन नीग्रो हैं। मैंने जब उन्हें पास से देखा तो उन्होंने गहरा नीला सूट पहना था। उनकी कमीज भी नीली थी और जुराबें भी। टाई पीली और हरी थी और अमेरिकन टो के जूते काले थे। उन्होंने चश्मा लगाया हुआ था और उनका रंग लाली लिए हुए गेहुंआ था जिसमें श्वेत रंग की काफी झलक आती थी। देखने में प्रभावशाली, विद्वान् और विनम्र जान पड़ते थे। शरीर का रुझान मोटेपन की ओर था और हाथ विशेष मोटे थे। उनकी नाक और ओठ उनके नीग्रो होने का प्रबल प्रमाण थे। उनकी घनी भौंहें और दृढ़ ठोडी, उनकी मोटी जीभ और स्पष्ट गम्भीर स्वर उन्हें गोरे अमेरिकनों से अलग करता था। बोलते समय वे शब्दों के साथ शरीर से पूरी सहायता लेते थे। अध्यापक की भांति वे हाथों से और गरदन से व्याख्या करते थे और जननेता की तरह अपनी वाणी में हृदय को उडेल देते थे।

हमें उनसे कई बार मिलने का अवसर मिला और हरबार अपनी प्रतिभा सहृदयता और विनम्रता से उन्होंने हमें प्रभावित किया। यद्यपि वे सेवाग्राम में बहुत व्यस्त थे जैसा कि वहां प्रत्येक व्यक्ति था, तो भी वे एक बार बहुत देर तक हम लोगों से बातें करते रहे। वे सेवाग्राम की सादगी और कार्यकुशलता से अत्यधिक प्रभावित थे और उनकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे। उन्होंने कहा, "आपका आन्दोलन नीचे से उठा है उसके द्वारा आप आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। आपके गांव सुरक्षित हैं। कुमारप्पा, आर्यनायकम्, रामचन्द्र, जैसे सुशिक्षित लोग जीवन का व्रत लेकर उस

सभ्यता की रक्षा में लगे हैं। अगर भगवान् कुछ अच्छा करना चाहता है तो आपकी ग्रामीण जनता को सुरक्षित रखेगा। कहीं भी आप ऐसे ग्रामीण जन नहीं देखेंगे। पश्चिम के पास बुद्धि है, प्रतिभा है पर हृदय नहीं है, श्रद्धा नहीं है। यहां प्रेम करनेवाले हैं, एक दूसरे की पीड़ा बटानेवाले हैं।" गांधीजी के वे बहुत बड़े प्रशंसक थे। कामर्स कालेज में बोलते हुये उन्होंने कहा था "भारत ऊपर से नहीं बोलता हृदय से बोलता है। टैगोर की गातांजलि सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। उसमें आन्तरिक दृष्टि है। आध्यात्मिक जीवन है। महात्मा गान्धी इसलिये बड़े नहीं थे कि उन्होंने भारत को स्वतंत्र कराया बल्कि इसलिये बड़े थे कि जो राजनीति, जो अर्थशास्त्र हवा में उड़ता फिरता था उसे वे धरती पर ले आये।" सेवाग्राम के जीवन के बारे में उन्होंने कहा—"इस सात दिन की यात्रा से हमलोगों ने सेवाग्राम से बहुत-सी बातें सीखीं जो कि दुनिया के किसी भी साहित्य में नहीं मिल सकतीं। आश्रम की प्रार्थना से हमारे हृदय ऊँचे उठे हैं और मैं समझता हूं कि इस अलौकिक हार्दिक आनन्द को हम सबको अपने देशों में जाकर दूसरे लोगों के सामने प्रकट करना चाहिए।"

डा० जानसन विद्वान् और नीग्रो जाति के नेता हैं। वे हार्वर्ड विश्व विद्यालय के सर्वेसर्वा और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हैं। अमेरिका से आनेवाले दूसरे शान्तिवादियों में कुछ लम्बे और पतले श्री रि चा र्ड ग्रे ग का नाम भारतवासियों के लिए नया नहीं है। चौसठ वर्ष की उम्र में उनकी स्फूर्ति अद्भुत है। दूर से देखने पर एक बार हमें नेहरू का भ्रम हो गया था। उन्होंने खद्दर की धोती, कुरता, जवाहर जाकट और गांधी टोपी पहनी थी। हलकी झुरियों वाले उनके लाल मुंह पर सरलता और विनम्रता स्पष्ट अंकित थी। उनकी कमर कुछ झुक आई थी और उनकी जेबें कागज तथा अन्य वस्तुओं से भरी रहती थी। वे दूसरे की बात को बड़े ध्यान से सुनते थे और फिर एक स्नेही मित्र की भांति अपनी बात कहते थे। इतनी व्यस्तता के बीच उन्होंने जीवन-साहित्य के सम्पादक को एक लेख लिखने का समय निकाल ही लिया था। तब वे खाना खा चुके थे और अपने बर्तन साफ करने के बाद वहीं मेज पर बैठ कर उन्होंने बोलना शुरू कर दिया था। जैसा कि हमने कहा वे भारत के लिये अपरिचित नहीं हैं। वे यहां १९२५ से १९२८ तक रह चुके हैं। वे गांधीजी के भक्त और मित्र हैं। कई महिने साबरमती आश्रम में भी रहे हैं। प्रसिद्ध डांडी यात्रा के कुछ पहिले भी वे साबरमती गये थे। उन्होंने "खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र", अहिंसा की शक्ति, "गांधीवाद और समाजवाद" आदि अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

एक और प्रतिनिधि, जो प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खींचते थे, श्री डोनल्ड गूम थे। वे खाकी कुरता और पजामा पहिनते थे। वे मझौले कद और भूरेबालों के स्वस्थ व्यक्ति हैं और दस वर्ष से उन्होंने भारत को अपना घर बना लिया है। उनकी पत्नी उनसे भी सादी हैं और उनकी सप्तवर्षीय पुत्री, हेलेन, जिसका भारतीय नाम मधु है, तथा पुत्र ओबाइन हिन्दी बोलते हैं। वे लोग होशंगाबाद के पास रसूलिया में ग्रामीणों के बीच रहते हैं। वे महात्मा गान्धी के परम भक्त हैं और १९४२ में भारत सरकार ने उन्हें देश निकाले का दंड देने का विचार किया था। उन्होंने 'नागपुर टाइम्स' के प्रतिनिधि से कहा था—"मैं भारत में रहना, गांधी के भारत में, अपना विशेषाधिकार समझता हूं और उससे भी अधिक आज सेवाग्राम में होना मेरे लिए बहुत बडी बात है।"

सम्मेलन के खुले अधिवेशन के अवसर पर भारतीय प्रतिनिधि श्री गुरुदयाल मल्लिक ने हमें दो और विशिष्ट प्रतिनिधियों का परिचय दिया था। वे थे फिनलैंड के श्री आरजो कालीनेन तथा स्वीडन के श्री स्वेन एरिक राइबर्ग। आरजो कालीनेन आजीवन शान्तिवादी रहे हैं। वे अपने देश की शिक्षा में बहुत दिलचस्पी लेते रहे हैं। वे युद्ध-मंत्री (१९४६–४८) भी रहे हैं। पिछले युद्ध के बाद उन्होंने ही सेना को मुक्त करके नागरिक धन्धों में लगाया था। उन्होंने विरोधियों की कभी चिन्ता नहीं की और संकीर्ण राष्ट्रीयता तथा युद्ध का वाणी तथा लेखनी द्वारा सदा विरोध किया। उन्हें हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म तथा ताओ धर्म से विशेष रुचि रही है और इन विषयों पर उनके पास सैकड़ों पुस्तकें हैं। उनकी आयु इस समय लगभग ६४ वर्ष की है। इसके विपरीत राइबर्ग अभी कुल ३३ वर्ष के हैं लेकिन उनका चरित्र उतना ही दृढ़ है। वे पहिले चित्रकार रहे हैं और सिनेमा आदि के लिये काम करते थे पर जब उन्हें यह मालूम हुआ कि उनके काम का उपयोग युद्ध के लिए हो रहा है तो उन्होंने वह काम छोड़ दिया और पत्नी सहित बागवानी करने लगे। वे अनेक शान्ति के लिये काम करने वाली, संस्थाओं के सदस्य हैं। उन्हें जब भारत आने पर, ताज-महल होटल में ठहराया गया तो वे कई क्षण उस चकाचौंध को देखते रहे फिर वेग से उठकर चल दिये। उन्होंने कहा, "मैं भारत को देखने आया हूं। यह भारत नहीं है।" और वे एक साधारण स्थिति के व्यक्ति के साथ जाकर रहे। उसी के साथ खाया पिया और उतनी ही जगह ली जितनी की एक आदमी को जरूरत हो सकती है।

युद्ध-विरोधी व्यक्तियों में न्यूजीलैंड के श्री ए० सी० बैरिंग्टन प्रमुख

थे। वे किंचित् भूरे बालों वाले सुन्दर और लम्बे युवक हैं। आयु ४४ वर्ष से कम ही है। वे प्राइमरी शिक्षा से आगे नहीं बढ़े पर फिर भी अनेक मजदूर और शिक्षा संस्थाओं में भाग लेते रहे हैं। उन्होंने क्रियात्मक रूप से युद्ध का विरोध किया है और उसके लिये वे पाँच बार जेल गये, तीन बार निवृत्त सैनिकों द्वारा शहर से निकाले गये। अनेक बार उनके घर पर धावा बोला गया, जुर्माना हुआ, कागज जब्त हुए, पर वे दृढ़ रहे। वे अन्तिम बार जुलाई १९४९ में युद्ध-शिक्षा का विरोध करने पर पकड़े गये थे। उन्होंने अपना बचाव आप किया था और वे सफल भी हुए थे। उन्हें सेना की नौकरी से बिना शर्त छूट मिल गई थी। उन्हें अपने देश पर इस बात का गर्व है कि वहाँ मनुष्य अभाव से पीड़ित नहीं है। उनके विपरीत दक्षिणी अमेरिका और भारत आदि देशों में ऐसे लोग हैं जो पेट भर भोजन नहीं पा सकते। ये ही बातें युद्ध, घृणा और शोषण को जन्म देती हैं। शान्तिवादियों को इस शोषण का गांधी मार्ग से निराकरण करना चाहिए।

डा० डे वि ड स न जा बा बू, डा० जानसन की भांति नीग्रो हैं। कुछ मोटे भी हैं पर उनका रंग काला है। वे पैंसठ वर्ष की आयु के अवसर प्राप्त प्रोफेसर हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। उन्होंने अपने जाति-बन्धुओं की ओर से अनेक सरकारी समितियों के सामने गवाही दी है। पर जैसा कि उन्होंने हमें बताया उनके देश में कोई शान्तिवादी संस्था नहीं है। हाँ, कुछ क्वेकर अवश्य हैं। उन्होंने कहा "हम शान्ति की खोज में यहां आये हैं। भारत ने जिस प्रकार सबसे पहिले संस्कृति और शिक्षा की खोज की थी उसी प्रकार उसने शान्ति को खोज लिया है।" उनके सिर पर सफेद गान्धी टोपी बड़ी भव्य लगती थी और अपनी चाल से वे पूरे शान्तिवादी जान पड़ते थे।

इकसठ वर्ष के ओ ड यू डे रि य लुं ड नार्वे के एक व्यापारी और सिविल इंजिनियर हैं। वे १९२२ से नार्वे के शान्ति-आन्दोलन के सदस्य रहे हैं। गत महायुद्ध में जब नाजी लोग उनके देश को कुचल रहे थे तब वे जनता को अहिंसा द्वारा क्रियाशील और वीर बने रहने की प्रेरणा दे रहे थे। वे नाजियों द्वारा बन्दी बना लिये गये पर बाद में उन्हें मित्रों के कहने पर नार्वे छोड़ना पड़ा था। वे बहुत दिन इंग्लैंड में रहे। यद्यपि उनका पुत्र नजर बन्द कैम्प में रहा पर वे सदा इस बात पर जोर देते रहे कि अवसर आने पर हमें जर्मन लोगों को अच्छा यूरोपियन बनना सिखाने

का मार्ग खोजना चाहिए। उन्होंने पीड़ित जर्मनों की सहायता भी की है। उन्होंने गांधीजी की पुस्तकें पढ़ी हैं। यद्यपि वे बहुत सी संस्थाओं के सदस्य हैं तो भी इस सम्मेलन में व्यक्तिगत रूप से आये थे। वे भारत के स्वागत से बहुत प्रभावित थे और उनकी बातो से जान पड़ा वे भारत में शान्तिवादियो के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण का अध्ययन करना चाहते थे। स्वय वे प्रबल युद्ध-विरोधी हैं।

एक दिन रात के समय जब हम बापू की कुटिया के पास से जा रहे थे तो हमने चीन के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और सुधारक प्रो० सें ग को कुटिया की पैड़ियों पर इस प्रकार लेटे देखा जैसे पुत्र मां गी गोद में लेटता है, मुक्त, निर्द्वन्द्व और शान्त। उनसे बातें कीं तो लगा जैसे हमने उनका कोई सपना भंग कर दिया है। उन्होने बताया कि उन्हें यहां बहुत शक्ति मिलती है और वे जैसे यहीं बैठे रहना चाहते हैं। वे चीनी काले वस्त्रों और दाढ़ी में बहुत शान्त प्रकृति के व्यक्ति जान पड़े। वे एक प्रसिद्ध सुशिक्षित और सम्भ्रान्त कुल से सम्बन्ध रखते हैं। उनके पिता व पितामह आदि राजदूत जैसे पदों पर रह चुके हैं। उनके एक पूर्वज कन्फ्यूशस के भक्त और साथी थे, दूसरे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और योद्धा हो गये हैं। जापान से युद्ध के समय उन्होंने अपने गांव को आत्मसमर्पण से रोका था परन्तु बन्दी जापानियो के प्रति वे सदा उदार रहे हैं। वे सच्चे ईसाई हैं पर उनका रुझान समाजवाद की ओर है। सम्मेलन की एक बैठक में उन्होने कहा था कि यह सम्भव है कि साम्यवाद भी चीन में अपना एक नया मार्ग बना ले। वे अच्छे वक्ता हैं और उनकी आयु लगभग ५५ वर्ष की है।

फिलिपाइन के शान्तिदूत श्री लो र जो वो लि स्ते प्रथम दृष्टि म ही स्वस्थ, प्रभावशाली और गम्भीर जान पड़ते थे। वे कद के छोटे थे और पाजामा कमीज पहिने हुए थे। कमीज भारतीय कुरते की तरह कफ-कालर सहित शरीर से चिपकी हुई थी। वे मनीला टाउन हाल के सभापति और राष्ट्रवादी हैं। वे अपनी प्रत्येक बातचीत, प्रत्येक भाषण में फिलिपाइन की आर्थिक दासता का रोना रोते थे। उन्होंने गम्भीर होकर कहा था, "जो देश आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से परतन्त्र हैं वे किसी भी तरह स्वतन्त्र नहीं हैं। अमेरिका आज उनके देश के बाजारो का स्वामी है।" वे शान्तिसम्मेलन में यह देखने आये थे कि गांधीजी की शिक्षाओं को किस प्रकार उनके देश में काम में लाया जा सकता है। वे आजकल दक्षिण एशिया के देशों में गैर सरकारी राजदूत के रूप में घूम रहे हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध शान्तिवादी रे व रें ड आ न ने वि न स' य रे सपत्नीक पधारे थे। वस्तुतः वे विश्वयात्रा कर रहे हैं। श्री सायरे विश्व-सरकार के समर्थक हैं। उनकी आयु लगभग तेरसठ वर्ष की है और १९२० से वे फेलोशिप आफ रीकन्सीलियेशन में काम कर रहे हैं। तीन वर्ष वे राष्ट्रीय शान्तिसम्मेलन के प्रधान रहे हैं। वे नीग्रो समस्या का हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं। शान्तिसम्बन्धी भाषण-यात्रा के सम्बन्ध में चौदह बार यूरोप, दो बार रूस तथा मध्य और दक्षिण अमेरिका क पन्द्रह देशो में गये हैं। अभी वे होनोलूलू, फिलिपाइन, जापान और श्याम होकर आये हैं। उनकी पत्नी श्रीमती कैथलीन सायरे लगभग उन्हीं की आयु की हैं। वे भी फेलोशिप आफ रीकन्सीलियेशन से सम्बन्धित हैं। आजकल पति के साथ यात्रा पर हैं और स्थानीय शान्ति कार्य के संगठन में दिलचस्पी लेती हैं। फेलोशिप आफ रीकन्सीलियेशन के एक और अग्रगण्य नेता हैं श्री ए० जे० मस्टे। वे प्रसिद्ध लेखक हैं। वे किसी समय ट्रोटस्की के भक्तो की पार्टी में रहे हैं और उनने मजदूरो के लिए बहुत काम किया है। वे दूसरे विश्व-युद्ध में सैद्धान्तिक-युद्ध-विरोधी थे। उनका विचार है शान्तिवादियो को साम्यवादियो को भी मनुष्य समझना चाहिए और उनकी भाषण तथा सगठन की स्वतंत्रता का समर्थन करना चाहिए। वे मूलतः डच हैं और उनकी आयु लगभग चौंसठ वर्ष की है।

ईरान के प्रतिनिधि श्री स ई द न फी सी प्रसिद्ध प्रोफेसर और शिक्षा शास्त्री हैं। वे पहिले इरानी हैं जिन्होने उपन्यास लिखे हैं। उनकी ७० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और लगभग १२० तैयार हैं। आलोचना, जीवनियां, इतिहास, कथा, वाणिज्य सभी विषयों पर आप लिख सकते हैं। महात्मा गान्धी की शिक्षा से आप बड़े प्रभावित हैं। उनका विचार है कि महात्मा गान्धी ही ऐसे नेता थे जिन्होंने विध्वंसात्मक के बजाय रचनात्मक-दर्शन का प्रतिपादन किया था। श्री नफीसी की तरह मिश्र के वे प्रतिनिधि श्री एच० आ ई० ह स न भी काहिरा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर प्रतिदिन गांधीजी की कुटिया में जाते थे। उनका विचार था कि यदि मिश्र में भी एक गांधी पैदा हो जाय तो वहा की अवस्था बदल जाय। उनका कहना था कि मिश्र में आज भी अनेकों मुसलमान गांधीजी के भक्त और प्रशंसक है।

चीन के श्री सेंग का वर्णन ऊपर आ चुका। उनके साथ उनकी बहिन कुमारी सेंग भी आई थीं। वे एक उच्च शिक्षाप्राप्त प्रतिभा-सम्पन्न महिला हैं। वे धर्म से ईसाई हैं पर किसी पार्टी से सम्बन्ध नहीं रखतीं।

अपने देश की नारी-शिक्षा में उन्हें बहुत दिलचस्पी है। वे प्रसिद्ध लेखिका और भाषण देने वाली हैं। वे राष्ट्रीयधारा सभा की सदस्या भी थीं। चीन के किसी समय के प्रतिद्वन्द्वी युद्ध-प्रिय जापान से भी तीन प्रतिनिधि आये थे। उनमें श्री से कि या १९०३ में एक ईसाई मां और गैर-ईसाई पिता से उत्पन्न हुये थे। वे गान्धीजी से मिल चुके हैं। उस समय वे इंग्लैंड में शिक्षा पा रहे थे। वे शंघाई में पढ़ाते समय क्वेकर सम्प्रदाय के सम्पर्क में आये और १९४८ में टोकियो में जापानी क्वेकर ग्रूप में शामिल हो गये। उनके साथी पचपन वर्षीय श्री रि रि ना का या मा बौद्ध हैं। वे टोजो और मैकआर्थर दोनों के आलोचक रहे हैं। इसके लिये उन्हें अनेक बार चेतावनी मिली थी और अन्त में १९४७ में उन्हें पद से हटना पड़ा था। वे गांधी-सोसायटी के डायरेक्टर हैं और बौद्ध होते हुए भी उन्होंने १९४५ में पोप द्वारा युद्ध में मध्यस्थता करने का सुझाव दिया था। सेवाग्राम में उन्होंने सम्मेलन से पूर्व ७ दिन का उपवास किया था। जापान की तीसरी प्रतिनिधि एक महिला श्रीमती कोरा थीं। वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय की डाक्टर हैं और पन्द्रह वर्ष तक निपननारी विश्वविद्यालय की प्रोफेसर रही हैं। शान्ति कार्य के सम्बन्ध में वे दो बार चीन गई हैं और भारत आकर गांधीजी तथा गुरुदेव से मिल चुकी हैं। जापानी अपर हाउस की सदस्या हैं। उन्होंने जापानी भाषा में गांधीजी की जीवनी तथा गुरुदेव के दर्शन पर पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने हमें बताया था कि वे एक वर्ष की छुट्टी पर आई हैं। मैकआर्थर के राज्य में जापान स्वतंत्र नहीं है। दूसरे लोग तो कुछ हफ्ते के लिए आ सके हैं। वे सुन्दर वक्ता हैं और जापान की वर्तमान दुर्दशा का वर्णन करते हुये भी उसके भविष्य में विश्वास करती हैं। जापान के एफ० ओ० आर० की वाइस-चेयरमैन हैं। जहां उन्होंने भारत की प्रशंसा की वहां उसकी धूल से वे तंग आन पड़ीं।

बर्मा के प्रतिनिधि यू विन कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम० ए० तथा रंगून विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर हैं। १९३६ से सरकारी आर्किया-लोजिस्ट हैं। बौद्ध हैं। आयु लगभग ४९ वर्ष की है। आजकल मांडले रोटरी क्लब के सभापति हैं। मलाया के तीन प्रतिनिधियों में हिन्दू सन्यासी स्वामी सत्यानन्द को तो सेवाग्राम सम्मेलन से पूर्व ही लौट जाना पड़ा था। वैसे वे मार्च १९४७ में एशियन रिलेशन कान्फ्रेन्स में आये थे। श्री अब्दुल इसाक एक पत्रकार और विश्वास से शान्तिवादी थे। आयु ३५ वर्ष है। तीसरे प्रतिनिधि श्री लि यों न चीनी हैं। ४९ वर्ष के ये चीनी लेखक, समाजसुधारक तथा मलाया में विश्व-भ्रातृत्व-आन्दोलन के संस्थापक हैं।

इस सम्मेलन में सब से अधिक प्रतिनिधि आये थे अमेरिका से । श्री ग्रेग और डा० जानसन आदि का वर्णन ऊपर आ चुका है । इनके अतिरिक्त श्री टी० वेल, जिनकी आयु लगभग ३४ वर्ष है, अपने विद्यार्थी जीवन के दिनों से ही युद्ध-विरोधी, शान्तिवादी और समाजवादी रहे हैं । वे मानव एकता के विश्वासी हैं। और फेलोशिप आफ रीकन्सीलियेशन के तत्वावधान में दक्षिण में शान्ति और जाति-समस्या के सम्बन्ध में काम कर ते रहे हैं। शिक्षित और धार्मिक (क्वेकर) व्यक्ति हैं। यूरोप घूम चुके हैं और आजकल अमेरिकन फ्रेन्ड्स-सर्विस-कमेटी के मंत्री हैं। श्री पाल एवं प्रसिद्ध अध्यापक और सम्पादक हैं। उनका सम्बन्ध अनेकों संस्थाओं से है और वे कई पुस्तकों के लेखक हैं । मेनोनाइट चर्च के सम्बन्ध में बहुत यात्रा और भाषण कर चुके हैं। भारत में भी इसी सम्बन्ध में धमतारी-परिषद में आये थे। श्रीमती वेसी लो नाक्स भी क्वेकर हैं। ५० वर्ष की यह नारी आरम्भ से ही युद्ध-विरोधिनी है । इनके पति व पुत्र भी युद्ध के सैद्धान्तिक-विरोधी हैं ये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आर्थिक, राजनीतिक, शिक्षा-सम्बन्धी या आध्यात्मिक, समन्वय की पक्षपातिनी हैं। शान्ति-सम्बन्धी सभी संस्थाओं में इन्होंने काम किया है। श्री आ र्सी मि ल र मेनोनाइट चर्च के प्रमुख सदस्य और कार्यकर्ता हैं। शान्ति सम्बन्धी कार्य को लेकर अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, पूर्व के देश तथा भारत में घूम चुके हैं। इनकी आयु ५७ वर्ष की है। इनकी पत्नी श्रीमती मिलर पति की आयु की हैं और उनके प्रत्येक काम में सच्ची सहयोगिनी रही हैं। श्री रे न्यू ट न क्वेकर हैं और १९१६ मे शान्तिवादी बने हैं। तब से वे इस में क्रियात्मक रूप से काम कर रहे हैं। वे पीस-कौन्सिल तथा सेन्ट्रल कमेटी फार कान्शेन्सस के अध्यक्ष हैं। आयु लगभग ५८ वर्ष की है। अमेरिकाके एक और प्रतिनिधि श्री जा न पे न सम्भवत. सब से वृद्ध प्रतिनिधि थे। उनकी आयु लगभग ७६ वर्ष है। ये धार्मिक साहित्य के सुन्दर लेखक हैं। चर्च, शान्ति, रूस, नीग्रो तथा वाई० एम० सी० ए० इनमें इनकी विशेष दिलचस्पी है और १९३० से ये कई बार रूस जा चुके हैं तथा उस सम्बन्ध में कई लेख लिखे हैं। पोलेंड, हंगरी, यूगोस्लेविया तथा चेकोस्लोवाकिया भी घूमे हैं। रंग-द्वेष को सुधारने के लिये उन्होंने कठोर परिश्रम किया है। श्री रा ब र्ट स्टी ल अमेरिका के एक महत्वपूर्ण धार्मिक पत्र के सम्पादक हैं और उनका विश्वास है कि जो लोग शान्ति और न्याय में विश्वास रखते हैं उनके लिये गांधीजी की शिक्षा स्फूर्ति और शक्ति देनेवाली है। डा० ऐ स ल्यो ड स भी क्वेकर हैं और शान्ति की सभी प्रसिद्ध संस्थाओं की

क्रियात्मक सदस्या हैं। इस सम्बन्ध में वे यूरोप घूम चुकी हैं और जर्मनी में विशेष काम करती रही हैं। श्री ई ग ल रू इं न्को अमेरिका समाजवादी पार्टी के सदस्य हैं। बत्तीस साल के युवक हैं और सैद्धान्तिक-युद्ध-विरोधी होने के कारण कई बार जेल गये हैं। तथा नौ माह की भूख हड़ताल कर चुके हैं। आजकल एक प्रकाशनगृह से सम्बन्धित हैं जहाँ शान्ति और अहिंसा सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित होता है।

अमेरिका के पड़ोसी कनाडा से आनेवाली मिसेस मि ल्ड्रे ड फे ह र नी पहिले भी १९३८ में भारत आई थीं और गांधीजी से मिली थीं। ये कनाडा की प्रसिद्ध जननेत्री हैं। शिक्षा, शान्ति और समाज-सेवा उनके जीवन के ध्येय हैं। वे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं के सम्बन्ध में यूरोप और एशिया के देशों में जा चुकी हैं। ये सेवाग्राम के कार्य से बहुत प्रभावित थीं। कनाडा के जीवन का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था कि वहाँ लोग सदा जल्दी में रहते हैं। वे धन के लिए परिश्रम करते हैं और फिर भी सन्तुष्ट नहीं होते। लेटिन अमेरिका से भी एक प्रतिनिधि आये थे। वे थे मक्सिको के इ ब र्टो से न। वे बरसों तक जिनेवा में इन्टरनेशनल-लेबर-आफिस तथा अन्य संस्थाओं में दुभाषिये रहे हैं। ये शान्तिवादी कार्यकर्त्ता और फेलोशिप-आफ-रीकन्सीलियेशन के सदस्य हैं। यूरोप में खूब घूमे हैं और मेक्सिको में शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत काम किया है।

अफ्रीका के कुछ शान्तिवादियों का परिचय ऊपर आ चुका है। पश्चिमी अफ्रीका से श्री डे वि ड अ ब वा ह आये थे। वे गोल्डकोस्ट के ३४ वर्ष के तरुण हैं। इन्होंने पिछले युद्ध के समय लन्दन स्कूल आफ इकानोमिक्स में अध्ययन किया है। अब गोल्ड कोस्ट राज्य के वेल्फेयर आफिसर हैं। इन्होंने एक अंग्रेज क्वेकर महिला से विवाह किया है। उसी महिला ने इन्हें शान्तिवाद का परिचय दिया था। दक्षिणी अफ्रीका के सुप्रसिद्ध अंग्रेज पादरी मा ई के ल स्का ट का नाम आज सभी की जबान पर है। उनकी आयु ४२ वर्ष की है पर देखने में और भी तरुण लगते हैं। अचरज होता है इसी व्यक्ति को लेकर दक्षिण-अफ्रीका और ब्रिटेन इतने चिंतित हैं। वे स्वास्थ्य सुधार के लिए अफ्रीका गये थे। भारत भी आ चुके हैं पर इनका स्वास्थ्य दक्षिणी अफ्रीका में ही ठीक रहता है। अभी लेकसक्सेस में दक्षिण-पश्चिमी-अफ्रीका की जातियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। आजकल उन्हीं के लिए कार्य करना उन्होंने अपना ध्येय बनाया है। वे इस समय के एन्डू ज कहलाते हैं। जातिभेद का विरोध करके वे अशान्ति की जड़ों में मठा दे रहे हैं। गांधीजी के दूसरे पुत्र म णि ला ल गां धी भी दक्षिण अफ्रीका से आये थे।

यूरोप आने से पहले आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की चर्चा कर लेना उचित होगा। न्यूजीलैंड के प्रतिनिधि श्री वे रिं ग ट न का परिचय पहिले आ चुका है। आस्ट्रेलिया की ओर से २८ वर्ष के श्री आ न र्फा लिड ज़ु आये थे। वे सम्भवतः सब से तरुण थे। सैद्धान्तिक युद्ध-विरोधी होने के कारण दो वर्ष तक कैम्प में काम कर चुके है। वे सिडनी के एक अस्पताल में हिसा-बवी हैं। आपको टालस्टाय के लेखों ने शान्तिवादी बना दिया है। आस्ट्रे-लियन पीस प्लेज यूनियन आदि संस्थाओं के सक्रिय सदस्य हैं।

यूरोप के छोटे से पर सुन्दर देश स्विटजरलैंड से आने वाले प्रतिनिधि का नाम श्री रे ने बो बा डं था। इन्होंने पिछले युद्ध में काम किया था पर बाद में शान्तिवादी बन गये और १९४७ में तीन माह नजरबन्द रहे। मेरी सेरेसोल की अन्तारराष्ट्रीय शान्तिसेना में ये दिल से भाग लेते रहे हैं। यूरोप, रूस और अमेरिका आदि में खूब भ्रमण किया है। इनकी आयु लगभग ५० वर्ष की है। श्री जे० जे० व स्के स हालैंड के प्रतिनिधि थे। उनकी आयु भी लगभग ५० वर्ष की है। उन्होंने कई सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं उनमें "पश्चिम के लिए गाधी का महत्त्व" नामक पुस्तक भी है। युद्ध के दिनो में विरोधी-आन्दोलन में भाग लेने के कारण ६ महीने जेल में रह चुके हैं। "शान्ति और चर्च" आदि अनेक संस्थाओं के सक्रिय सदस्य हैं।

फिनलैंड के दूसरे प्रतिनिधि श्री ए रि क ए वा ल्ड रु कुल ३१ वर्ष के हैं उन्होंने सेना में भरती होने से इन्कार कर दिया था इसलिए बरसों लेबर कैम्प में रहना पड़ा था। देश के जिन भागों में स्वीडिश बोली जाती है वहाँ ये शान्ति के सम्बन्ध में व्याख्यान देते घूमे है। अब वे एक छोटे कल कारखाने वाले शहर में लोगों के रहन सहन की हालतों में शान्तिपूर्ण तरीकों से आमूल परिवर्तन करने की कोशिश कर रहे हैं। टाल्स्टाय के परम भक्त श्री आ गा जा र्गे न से न डेनमार्क से आये थे। वे रूस में टाल्स्टाय के घर भी जा चुके है। उन्हीं के ग्रंथों से उन्हें महात्मा गान्धी का पता लगा था। उन्होने गान्धी व नेहरू की पुस्तकें पढ़ी हैं और वे डेनिश-इंडियन सोसायटी के प्रारम्भिक सदस्य हैं। समाजवादी हैं और एक विश्व-राज्य में विश्वास करते हैं। चेकोस्लोवाकिया के डा० का रे ल हु ज र कुल ४७ वर्ष के हैं पर वे प्रसिद्ध ज्योतिष-शास्त्री और भौतिक-शास्त्री हैं। ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए विश्व के सभी देशों में गये है और अनेक महापुरुषों से मिले है। गांधीजी के आश्रम में भी व्याख्यान दे चुके हैं। वे आठ भ.भ.यें बोलते है और अब अमेरिका में रहते है। वे गांधीजी के प्रशंसक और भक्त है। वे कई देशों की शान्तिवादी संस्थाओं में

सक्रिय भाग लेते रहे हैं और विश्व-नागरिकता में विश्वास रखते हैं। बेलिजयम की श्रीमती मा र्था यू र स का विश्वास है कि समस्त विश्व को गांधीजी की शिक्षा का अनुसरण करना चाहिए। जर्मनों ने उनके देश पर जो अत्याचार किये थे उनके कारण वे जर्मनों से घृणा करने लगी थीं। पर एक घायल जर्मन सिपाही से मिलने पर उन्होंने घृणा पर जय पाना सीखा। वे स्थानीय शासन में भाग लेती रही हैं और प्रसिद्ध लेखिका और अध्यापिका हैं। १९२३ से वे शान्तिवादी आन्दोलन की सक्रिय सदस्य रही हैं। वे व्यस्त जन-सेविका हैं और विभिन्न देशों तथा व्यक्तियों से सहयोग और समन्वय की पक्षपातिनी हैं।

जर्मनी के प्रतिनिधि हे न रि च श्र स चु ट् ज की का जीवन अपने सिद्धान्तों के लिये जीने और कष्ट पाने का जीवन है। युद्ध-विरोधी होने के कारण उन्हें बार बार सजा मिली है। १९३२ में वे जर्मनी से भाग कर स्पेन आये। स्पेशन गृह-युद्ध के अवसर पर वे पकड़े गये और तीस वर्ष की सजा मिली। १९४५ में ब्रिटेन के राजदूत के कारण वे मुक्त हुए और जर्मनी लौटे। दो वर्ष रूसी-जोन में इतिहास पढ़ाया पर वहाँ से भी निकाले गये। अब वे 'बर्लिन-यूथ-प्रीजन' में काम करते हैं। वे पूर्व पश्चिम के विचारों में समन्वय के पक्षपाती हैं। उनकी आयु ५८ वर्ष की है। इन्होंने कहा था भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ शान्तिवादी का सम्मान होता है। जर्मनी के पड़ोसी देश फ्रांस से तीन प्रतिनिधि आये थे। श्री हे न री रो ज र ५१ वर्ष की आयु के व्यक्ति हैं। उन्होंने तीन वर्ष तक युद्ध की शिक्षा पाई थी पर बाद में वे युद्ध-विरोधी हो गये। इस विश्वास के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। वे पादरियों के वंश से सम्बन्ध रखते हैं और एक छोटे से गिरजे में वहाँ के कार्यकर्त्ताओं की हालत सुधारने में लगे हैं। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं और शरणार्थियों में काम किया है। जे रो म सा ब र बा इ न ३१ वर्ष के तरुण वकील थे। युद्ध में भाग ले चुके हैं पर बाद में शान्तिवादी बन गये। मैडम मे ग्वा ओ क्ले चुनाव से, जन्म से, विवाह से एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति हैं। उनके बच्चों के दादा-दादी व नाना-नानी रूस, जर्मनी, इटली और फ्रांस के रहने वाले हैं। वे अपने पति के साथ शान्ति और मानवता सम्बन्धी कार्यों में लगी रहती है। युद्ध के दिनों में यहूदियों को आश्रय देने के कारण उनके पति को कैम्प में रहना पड़ा था। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी है जिसमें वे, पति के साथ, अहिंसा का पाठ पढ़ाती हैं। फ्रांस से एक और प्रतिनिधि आये थे श्री मै न हू म। वे अपने को विश्व-नागरिक मानते हैं। उनकी प्रफु-

स्पता हमें बड़ी प्रिय लगी थी। उन्होंने बताया था कि वे तो अपने उस मित्र के प्रतिनिधि हैं जिसने अमेरिका की नागरिकता स्वीकार न करके अपने विश्वास को जीने का प्रयत्न किया था।

अब हम ब्रिटिश द्वीप समूह की ओर लौट चले। उनमें कई ऐसे व्यक्ति थे जिनका नाम भारत के लिए नया नहीं है। सम्मेलन के प्राण श्री होरेस एलेक्जेन्डर और कुमारी मरजोरी साइक्स इग्लैंड के होनेपर भी भारत के हैं। उनकी चर्चा हम चाह कर भी नहीं कर सकते। हम भारत के सभी प्रतिनिधियों को छोड़ रहे हैं। श्रीमती मा ड बे य शा और उनके पति श्री र से ल बे य शा "सोसायटी आफ फ्रेन्डस्" (क्वेकर्स) के सक्रिय सदस्य हैं। श्रीमती बेयशा ६० वर्ष की एक सुन्दर और सुगृहिणी बक्त्री हैं। शान्ति और क्वेकर्स उनके प्रिय विषय हैं। श्री बेयशा (७१ वर्ष) बहुत घूमे हैं और दक्षिण अफ्रीका के जातीय सम्बन्धों के बारे में बहुत चिन्तित रहते हैं। व्यवसाय से व्यापारी हैं परन्तु शान्ति सम्बन्धी कार्यों में दिलचस्पी लेते हैं। नागरिक घायलों को सहायता देनेवाली संस्था "फ्रेन्डस् रिलीफ सर्विस" के सभापति हैं। श्रीमती वी रा ब्रि ट न भारत के मित्र श्री जार्ज कैटलिन की पत्नी और प्रसिद्ध लेखिका हैं। वे समाजवादिनी और शान्तिवादिनी हैं। वे अब "पीस-प्लेज-यूनियन" की अध्यक्षा हो गई हैं। भाषण-यात्रा के सम्बन्ध में अनेक देशों में घूम आई हैं। युद्धकाल में उनका साप्ताहिक "लेटर्स टू पीस लेवर्स" बड़ा लोकप्रिय रहा है। उन्होंने बहुत पुस्तकें लिखी हैं। कुछ लम्बी, कुछ पतली वीरा ब्रिटेन प्रथम प्रभाव में सुन्दर लगती हैं और उनका व्यवहार उस प्रभाव को कभी नष्ट नहीं करता। सुन्दर बोलती हैं। रे जि ना ल्ड रे ना ल्ड्स का नाम विशेष परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। उनका जन्म १९०५ में हुआ था और वे डांडी यात्रा के समय कुछ महीनों के लिए गांधीजी के साथ रहे हैं। वहां से लौट कर उन्होंने अपनी "भारत में गोरे साहब" पुस्तक लिखी। वे अच्छे वक्ता कवि और लेखक हैं। वे क्वेकर दृष्टिकोण के समर्थक हैं। श्री वि ल्ड फ्रे ड वे लो क पार्लियामेंट के पुराने मजदूरदली सदस्य और भारत के मित्र हैं। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। "सच्ची शान्ति" और "सही ग्रामीण आर्थिक पद्धति" के आपसी सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा है। श्रीमती लू सी क्रि स ट म आयरलैंड से आई थी। वे शान्ति-सम्बन्धी अन्तारराष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेती रही हैं। क्वेकर हैं और आजकल बर्लिन में "सोसाइटी-आफ-फ्रेन्डस्" में पुस्तकाध्यक्ष हैं।

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं हम भारत व पाकिस्तान के सदस्यों

को छोड़ रहे हैं। लंका से भी एक प्रतिनिधि आये थे। हां, उन सब के नाम दे देना अनुचित न होगा। वे सब इस प्रकार हैं :—भारत से थे-श्री कैंथान, राजकुमारी अमृत कौर, सर्वश्री क्षितिमोहन सेन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निर्मलकुमार बोस, काका कालेलकर, मादम सोफिया वाडिया, श्रीमती सुशीला पै, श्री छोगमल चोपरा, श्री मश्रुवाला, श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, डा० प्रफुल्ल चन्द्र घोष, प्रो० तानयुनशान, श्री कुमारप्पा, श्री जी० रामचन्द्रन, श्री आर्यनायकम, श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम्, श्री कमलनयन बजाज, श्री गुरुदयाल मल्लिक, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री होरेस ऐलेक्जेन्डर, कुमारी मारजोरी साइक्स, श्रीमती आगथा हैरिसन, श्रीमती अमलप्रभा दास, श्री अमिय चक्रवर्ती तथा श्री हीरालाल बोस (मन्त्री)। पाकिस्तानसे सर्वश्री सत्येन्द्रनाथ सेन, जितेन्द्रनाथ सेन और प्रो० के० एम० हसन तथा लंका के प्रतिनिधि का नाम था श्री गुनपाल पियसेन मललसेकर।

निस्सन्देह ये सब शान्तिवादी थे। इनके प्रयत्न अभी चाहे वे कितने ही क्षुद्र क्यों न हो एक दिन अवश्य फलीभूत होंगे। प्रत्येक बड़ा काम आरम्भ में असम्भव जान पड़ता है पर यदि उसे उचित रीति से लिया जावे तो वह सदा पूरा होता है। हां, कोई उचित रीति को समझ ही न पावे या गलत समझे तो बात दूसरी है। शान्ति का कार्य ऐसा है जहां गलत समझने और समझे जाने की बड़ी सम्भावना है। इसलिए सजगता की बड़ी आवश्यकता है। सजगता अहंकार के नाश के बिना सम्भव नहीं है। क्या हम ऐसा कर सकते हैं ?

"संसार को विश्वबन्धुत्व प्रेम एवं अहिंसा का मार्ग दिखाने के लिए भारत ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक है। इस संघर्ष एवं नाजुक राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियों के बीच, जहां कि प्रत्येक क्षण लोग लड़ाई का स्वप्न देख रहे हैं यदि शान्ति की स्थापना का कार्य संभव है तो भारत के ही द्वारा और वह भी केवल महात्मा गान्धी के अहिंसा प्रेम और सत्य के सिद्धान्त पर चल कर ही।"

—एम० आनसन
मीशो प्रतिनिधि
अमेरिका

विश्वशान्ति और अहिंसक प्रवृत्ति

भिक्षु नाकायामा, अध्यक्ष बुद्धपूजक संघ जापान

विश्वयुद्ध की तरह विश्वशान्ति भी मानव के हृदय और मस्तिष्क की उपज है। अगर मनुष्य वास्तव में शान्ति का पुजारी बन सके तो शान्ति एक देश तथा जाति तक ही सीमित न रह कर सारे संसार में परिव्याप्त हो सकती है। धर्म के साथ शान्ति का आख्यान कुछ लोग सैद्धान्तिक रूप में करते हैं। किन्तु क्रियात्मक रूप में इस ओर अधिक उत्साह नहीं दिखाई देता। स्थायी विश्वशान्ति किस प्रकार हो यह आज के युग की मानव जाति के लिये एक जटिल समस्या है।

जिस शान्ति की प्रत्येक मानव आकांक्षा करता है वह आखिर क्यों प्राप्त नहीं कर पाता? इसका केवल एक प्रामाणिक उत्तर यह हो सकता है कि मनुष्य ने अपना आत्म-बल हीन कर वासना तथा आडम्बर युक्त जीवन को सर्वोपरि मानना ही शान्ति समझ लिया है। हम अपने से हीन स्तर वाले व्यक्ति को हीन न समझें तथा उस की प्रत्येक मांग अनसुनी न कर जांय। दूसरों के दुःख दर्द को समझें और उसके प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित करें। अगर मनुष्य इस सांचे में अपने को ढालने का अभ्यासी हो जाय कि वह गरीबों का हितैषी बन कर दूसरों के दुःख दर्द को सहानुभूति पूर्वक दूर करने का प्रयत्न करेगा तो इन भावों के समावेश के अनन्तर ही शान्ति अवतरित प्रतीत होने लगेगी और वह शान्ति पूर्ण शान्ति होगी।

मनुष्य अपने शुभभाव अपने से हीन स्तर वाले व्यक्ति के प्रति ही प्रदर्शित न करे किन्तु प्रत्येक जीवधारी पदार्थ जैसे पशु, पौधे तथा वे वस्तुएं जो उसके आसपास विद्यमान हैं उनको क्षति न पहुँचाए, प्रत्युत येन केन प्रकारेण उन्हें वृद्धिङ्गत करता हुआ, रक्षण करता रहे।

मनुष्य का मस्तिष्क उसकी प्रत्येक क्षण की श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा प्रवर्तित होता रहता है। जब मनुष्य शान्त होकर श्वास लेता है तब उसका मस्तिष्क भी शान्त रहता है लेकिन जब वह द्रुतगति से श्वास क्रिया करता है तो उसका मस्तिष्क विकृतसा हो जाता है। और तो और हमारा दैनिक भोजन भी हमारी मनोदशा पर अत्यन्त प्रभाव डालता है। ऐसे कम मनुष्य नहीं हैं जो अपनी क्षुधा तृप्ति के लिये निर्दयता से उड़नेवाले पक्षियों के पर उखाड़ डालते हैं या जीवित जानवरों का शिकार कर उनकी खाल

खींच लेते हैं। मेरे विचार से ऐसे घृणित और निर्दय कार्य यदि सर्वथा न रोके जा सकें तो यथासंभव तो रोके ही जाने चाहिये। आत्मरक्षा के अलावा मनुष्य को किसी जीवित जन्तु, कीड़े मकोड़े तथा भयङ्कर पशुओं को तथा सांप आदि को न मारना चाहिये। किन्हीं विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर वे जानवर न मारे जायें, जैसे गाय, भेड़ सुअर आदि। वे खग वृन्द भी न मारे जांय जो हमें किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचाते प्रत्युत केवल झुण्ड बनाकर हमारे आँख और कान का मनोरंजन ही करते हैं। अगर मनुष्य इन लघुहिंसक कार्यों से विरत रह कर तब तक हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता जब तक उसे हिंसा की अत्यन्त आवश्यकता न हो तो मेरा विश्वास है कि उसकी चित्तवृत्तियाँ अहिंसक वातावरण से प्रेरित होकर अवश्य शान्त होंगी और शान्ति वरदात्री के रूप में अवतरित होती सी प्रतीत होगी।

फलाहार शाकाहार—

क्या मनुष्य पौष्टिक फलाहार तथा अनाज पर आश्रित नहीं रह सकता? इसका उत्तर तो केवल यह होगा कि मांसाहार से कहीं सौगुना अधिक सुन्दरतर जीवन शाकाहारी बनकर यापन कर सकता है। कितने आश्चर्य की बात है कि एक प्राण से दूसरा प्राण पोषित हो। एक के रक्त से दूसरे के रक्त की वृद्धि हो तथा एक का काल दूसरे का जीवन बन कर रहे। यह विषमता जब तक जगत में रहेगी तब तक शान्ति लुप्त ही रहेगी। हाँ आक्रमणकारी तथा घातक प्रवृत्तियों से विरत रह कर मनुष्य निस्सन्देह किसी प्रकार एक शताब्दी अथवा दो शताब्दियों में शान्ति का पुजारी बन सकेगा।

हमारे देश के प्राचीन समय के लोग प्रायः अहिंसक ही थे तथा पूर्णतः शाकाहार ही उनका प्रिय भोजन था। मैंने सुना है कि इंग्लैण्ड, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा अन्य सभ्य कहलाने वाले देशों में शाकाहारी समाज सभायें स्थापित हैं। जिनकी रिपोर्टों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि शाकाहार स्वास्थ्य के लिये तथा दीर्घ जीवन के लिये है। इसका उपचार अत्यन्त शक्तिदायक और सात्विक है। मैं शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं तथा वनस्पति-शास्त्र-विज्ञों के अनन्य अनुभूत प्रयोगों के प्रयुक्त होने के अनन्तर इस निष्कर्ष को अपना सका हूँ कि शाकाहार मनुष्य के सौभाग्य का चमकता सितारा है। जन साधारण के समक्ष मांसाहार मस्तिष्क की अपेक्षा सात्विक अहिंसा के सिद्धान्तों पर अवलम्बित मस्तिष्क अत्यन्त शीघ्र तथा प्रभावोत्पादक ढंग से उपस्थित हो सकता है। अगर मेरा विचार ठीक है तो मैं कुछ सुझाव रखना चाहूंगा क्योंकि संसार के विभिन्न वर्ग के विभिन्न लोग शान्ति प्रसारण के उपाय विभिन्न प्रकार से रखते हैं तथा उसको सुर-

क्षित रखने के भी तरीके बताते हैं। मेरे सुझाव भी उन सुझावों में जुड़ कर विश्व शान्ति आन्दोलन की प्रगति में सहायक बन सकेंगे।

मनुष्य उन चीजों को जो अखाद्य हैं, सर्वथा त्याग करे तथा खाद्य पदार्थों को ग्रहण करे जो प्रकृतिदत्त हैं, जो सरलता से उपलब्ध भी हैं, तथा जीवन में महत्तम उपयोगी भी हैं। यदि वह उन्हें त्याग करने के लिये सर्वथा असमर्थ हो तो उन्हें कुछ समय के लिये छोड़े। इस प्रकार वह प्राकृतिक और बनावटी जीवन का भेद अनुभव करेगा, तथा मानसिक शान्ति शनैः शनैः तदनुसार त्याग के अनन्तर उसे प्राप्त होगी। स्पष्टतया मेरा सुझाव है कि वह एक सप्ताह अथवा दस दिन तक केवल धूप, हवा और पानी पर निर्भर रहे। यद्यपि यह उपवास कहलाता है किन्तु यह तो केवल अखाद्य पदार्थों के निषेध के लिये एक तारतम्य बाँधने का तरीका है। नाक और मुँह से प्रकृति की देन–हवा और पानी उसके जीवनाधार भी रहें। अधिकांशतः मनुष्य तीस दिन तक केवल हवा, पानी तथा धूप सेवन पर जीवित रह सकता है। यदि पाँच मिनट तक वह साँस न ले तो वह मर जायगा अथवा यदि सूर्य अपना ताप न दे तो सांसारिक प्राणियों को जीना मुश्किल हो जाय। जो धूप, हवा तथा पानी पर केवल एक सप्ताह के लिये भी निर्भर रहे हैं इन्हें इसका महत्व तथा इसमें जीवनी शक्ति का बल मालूम है। कुछ समय के लिये हवा, पानी तथा धूप पर निर्भर रहनेवाला मनुष्य यह महसूस करेगा कि वास्तव में वह मुख्य प्रकृतिदत्त आशीर्वाद के रूप में है तथा जब वह अपना उपवास धीरे धीरे फल, रस तथा अनाज के खाद्य पदार्थों से तोड़ेगा तो उसे एक अवर्णनीय स्वाद उन पदार्थों में मिलेगा, जैसे उसने इस स्वाद का कभी आस्वादन किया ही न हो। उसे इन पदार्थों के सेवन से एक तरह का मनोज्ञ अनुभव होगा। उसे अपना जीवन प्रकृतिदत्त प्रतीत होगा तथा परोपकार की लहरें उसके हृदय में लहर की सी प्रतीत होंगी। समस्त स्त्री पुरुष उसे अपने भाई-बहिन प्रतीत होंगे तथा सहयोग और कृतज्ञता की भावनायें ही उसकी पथ प्रदर्शक बनेंगी।

यह तरीका भी मनुष्य के मस्तिष्क को शान्ति की ओर झुकाने वाला है। अगर आप मेरे इस मत से सहमत हैं तो मैं समझता हूँ कि धार्मिक सिद्धान्त पर अवलम्बित शाकाहार ही शान्ति का मूल कारण हो सकता है। अगर इसका प्रचार हो तथा प्रत्येक उपरि वर्णित तरीकों का अनुसरण करें, सभी तो मैं समझता हूँ कि वे कुछ मानव जाति का कल्याण करने के साथ साथ विश्व शान्ति के महत्तम कारण बन सकेंगे।

आज अमेरिका और सोवियत् के बीच सम्भवतः होनेवाले युद्ध से

मनुष्य वर्ग चिन्तित है, क्यों कि इस युद्ध का असर विश्व व्यापी होगा तथा इस युद्ध में एटम बम अपना करतब दिखा कर रहेगा।

स्थिति तो आज इतनी दयनीय हो गई है कि अहिंसा अथवा उपवास का तरीका भी इसके समक्ष प्रभावशाली नहीं हो सकता और न इसे रोकने में ही समर्थ हो सकता है।

ऐसे वातावरण में मैं समझता हूं कि संसार के अग्रगण्य धार्मिक नेता, जो विश्व शान्ति के इच्छुक हैं यथाशीघ्र किसी महत्त्वपूर्ण स्थान पर मिलें तथा युद्ध के रोकने के तरीकों को बतलायें। मेरे सुझाव केअनुसार तो संयुक्तराष्ट्र अमेरिका तथा सोवियत रूस के जिम्मेवार प्रतिनिधि निमन्त्रित किये जांय ताकि वे अपना स्पष्ट मत व्यक्त कर सकें तथा समस्त संसार के शान्ति संघटनों के प्रतिनिधि भी इनका सहयोग दे सकें। हमें मानवता के लिये प्रकाश देने के लिये बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा, जीवन के महत्तम स्वार्थों का बलिदान करना होगा ताकि मानवता विनाश के गहरे गर्त में जाने से बच सके। हम शान्तिवादियों के लिये जिनका मिशन जनता के "आत्म मुक्ति" का पथ बतलाने के लिये निकला है केवल हाथ पर हाथ धरे रहने का समय नहीं है। विश्व-शान्ति-सम्मेलन का प्रमुख स्थान योरोप हो सकता है। यदि यह सम्भव हो कि उक्त विश्व शान्ति सम्मेलन पोप भवन के कुछ बरामदोंमे हो हो —मैं विश्वशान्ति का निष्कपट हृदय से कामना करता हूं कि कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट मतवाले अपने मतभेदों को तिलाञ्जलि देकर, कैथोलिक स्वयं पोपद्वार विश्व-शान्ति-सम्मेलन मे अभ्यागत प्रतिनिधियों के लिये तथा सम्भावित एटम युद्ध के रोकने के लिये खोल सकें मैं आश्चर्य करूंगा यदि महापवित्र पोप अपने हस्ताक्षर से प्रोटेस्टेण्ट बौद्ध, हिन्दु, मुसलमान तथा जापानियों सभी के लिये विशेष रूप से निमन्त्रित कर सकें, क्योंकि केवल किंचित मतभेद ही हमारे समक्ष लोहे की दीवार बन कर आज के युग में खड़े रहेंगे अब संसार का भाग्य तराजू की नोक पर है। कितनी हास्यास्पद बात होगी कि रूढ़िगत मतभेद ही हमारे लिये लोहे की दीवार बन कर रहे। यदि एक बार ही महापवित्र पोप इस प्रकार की रैली अथवा सम्मेलन का खुले दिल से आह्वान करते हैं तो यह इतिहास में एक सुधार की महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध होगी जिसका प्रभाव होगा कि रूढ़िगत कुरीतियाँ शतशत खण्ड होती हुई विनष्ट हो जायंगी और यह विश्वशान्ति स्थापना का एक महत्त्व पूर्ण अंग होगा।

[जापानी से अंग्रेजी अनुवाद कर्ता श्री आइ० यमगत। हिन्दी अनुवादकर्ता श्री 'रतन' पहाड़ी। प्रेषक—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी शान्तिनिकेतन]

शांति की खोज

रेवरेंड माइकेल स्कॉट दक्षिण अफ्रीका

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि दक्षिण अफ्रीका से भारत के लिए मंगल कामनाएं लाने का मुझे अवसर मिला। यहां थोड़े से समय में मैं उस घनिष्ठ संबंध की चर्चा करना चाहता हूं, जो दक्षिण अफ्रीका और सेवाग्राम के बीच बना हुआ है। लेकिन मैं समझता हूं, इससे पहले संक्षेप में मुझे उन बातों पर प्रकाश डालना चाहिए जो संयुक्त राष्ट्र-संघ में हो रही है।

आप शायद जानते होंगे कि मैं संयुक्त राष्ट्र-संघ में एक डर के कारण सम्मिलित होने गया था और वह डर दक्षिण अफ्रीका के शासकों को इस बात से था कि कहीं दक्षिण अफ्रीका की जनता के कुछ लोगों की आवाज लेकसक्सेस में, जन्मभूमि के भविष्य के संबंध में निर्णय होने के अवसर पर, सुन न ली जाय। मैं यह सोच कर गया कि यदि अफ्रीकावासियों की न्याय की अपील प्रो० जवाबू जैसे उन्हीं के अपने आदमी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न सुनी जा सके तो वह परोक्ष रूप से तो सुन ही ली जाय। चूंकि संसार में ऐसे बहुत से सदाशयी लोग हैं, जो शान्ति में अत्यधिक विश्वास रखते हैं, अतः अफ्रीकावासियों की अपील वहां सुनी गई। इसके लिए कुछ हद तक संयुक्त राष्ट्रसंघ बधाई का पात्र है। कारण कि अनेक बाधाओं के रहते हुए भी अफ्रीका के मूल निवासियों का मामला भली प्रकार सुना गया।

यहां पर यह कह देना भी उचित ही होगा कि उन सारे वाद-विवादों में, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ में हो रहे थे, एक बहुत बड़ा डर समाया हुआ था। वह डर यह था कि कहीं विश्व के लोगों का शांति स्थापन का यह कार्य असफल न हो जाय। असफलता की संभावना पर हमारी सभ्यता के जीवन-मरण का प्रश्न अवलम्बित था और यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ में आशंका का वातावरण मौजूद था, तथापि हम संघ को इसके लिए दोष नहीं दे सकते। लेकसक्सेस में ऐसे बहुत से व्यक्ति थे, जो मानव-जाति के लिए शांति की बहुत ही अधिक आवश्यकता अनुभव करते थे और चाहते थे कि दुनिया में ऐसे स्त्री और पुरुष हों, जो विश्व के उन प्रदेशों में, जहां अन्याय और संघर्ष का साम्राज्य है, तन मन से शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्न करें। ऐसे निःस्वार्थ और कार्य के प्रति सच्चे व लगनशील व्यक्तियों

के बिना शांति और सभ्यता की रक्षा के लिए अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष नहीं किया जा सकता। मैं जानता हूँ कि संसार के करोड़ों मनुष्यों की तरह संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रतिनिधि भी हमारे इस विश्व शांति सम्मेलन की ओर इस आशा से देख रहे हैं कि इसमें से कोई नई शक्ति उत्पन्न हो। मैंने कहा है कि संसार नई भावना की तलाश कर रहा है; लेकिन यहां, जहां हमें शांति की खोज में आये हैं, हमें उन बातों का स्मरण हो आता है, जो हमारी सभ्यता जितनी पुरानी हैं। हमें इस बात की भी याद आती है कि इसी दिन (२५ दिस०) तमाम बुरी बातों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली प्रतिरोध की एक नई शक्ति का जन्म हुआ था। वह शक्ति बिना किसी रुकावट के ठीक समय पर अवतरित हुई। यद्यपि वह तिमिराच्छन्न थी, तथापि कतिपय बुद्धिशालियों को, सम्भवतः हमें कहना चाहिए कि तत्कालीन वैज्ञानिकों को, उसका आभास मिल गया था। शहर के बाहर पहाड़ियों पर गड़रियों ने ये शब्द और संगीत सुना: "सर्वोच्च स्वर्ग में प्रभु की महिमा और पृथिवी पर मानव-जाति के प्रति शांति और सद्भावना का उदय हो।' आज तो सम्भवतः संसार और हम भी यह समझते हैं कि इस बारे में हम सब कुछ जानते हैं, लेकिन हमें सावधान रहना चाहिए। चूंकि प्रभु का सृजनात्मक ध्येय विश्व में प्रेम की भावना पैदा करना था, इसलिए तमाम बुराइयों के प्रति प्रतिरोध की भावना से प्रेरित होकर ही बैथलेहम के अस्त-बल पर भी सलीब की छाया छा गई। और इसके पहले कि हममें सर्वज्ञानी होने का भ्रम पैदा हो, हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमें उस प्रकाश को उस समय, जब कि दक्षिण अफ्रीका में जातीय संघर्ष तेज हो रहा था, फिर से खोजना पड़ा था। तब यहां गांधी के द्वारा वह शक्ति प्रकट हुई; लेकिन उस समय उसका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया। तमाम पीड़ा आपदाओं के बावजूद भी उसे नहीं पहचाना जा सका। वह शक्ति थी सत्याग्रह की शक्ति, जिसने असंख्य आत्मा का उद्धार किया और समस्त संसार को, जिसमें अंग्रेज भी शामिल थे, अहिंसा के द्वारा न्याय-युद्ध के बारे में, जिसे अच्छाई और सत्य का पवित्र युद्ध भी कह सकते हैं, एक नई दृष्टि दी। यह सब उस समय हुआ जब कि घृणा, अन्याय और भ्रष्टाचार की भयंकर शक्तियां चारों ओर फैली हुई थीं।

दक्षिण अफ्रीका द्वारा सेवाग्राम को यह श्रद्धांजलि अर्पित करते समय वहां की तमाम जातियों में विद्यमान उन व्यक्तियों का स्मरण करना उचित होगा, जो हमारे बीच शांति और सद्भावना के लिए उन्मुख और प्रयत्नशील हैं, अर्थात् वे लोग जो कष्ट पाते हुए भी चुपचाप वहां काम

में लगे हैं और जिनका नाम शायद ही कभी प्रकाश में आता हो। उन लोगों में दीनबंधु एन्ड्रयूज का स्मरण सहज ही हो आता है, जो यद्यपि आज इस दुनिया में नहीं है, तथापि उनका हृदय और उनकी आत्मा सदा इसी काम में संलग्न रही थी और आज भी संलग्न है।

आज ऐसे बहुत से व्यक्तियों की नितांत आवश्यकता है जो अपना सर्वस्व त्याग कर और आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन न्यौछावर करके मानव-जगत की शांति के लिए अहिंसा के द्वारा हिंसा और अन्याय को रोकने का सतत प्रयत्न करें। ऐसे लोगों को अपने कार्य के परिणामों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि दुनिया में शान्ति के असफल होने के डर की अपेक्षा दूसरा कोई भी डर अधिक भयकर नहीं हो सकता।

इस सम्मेलन के सामने संसार के संघर्ष पूर्ण प्रदेशों में ऐसे विशेष कार्य हैं, जिन्हें उसे करना है और इसके लिए हमें इस देश के प्रत्येक व्यक्ति की प्रार्थना की आवश्यकता है।

इस संसार में दूसरे देश भी हैं, जहां हमारे जीवन की प्रिय से प्रिय वस्तुओं की परीक्षा हो रही है। हम चाहते हैं कि लोग यहां आकर उनकी स्वयं परीक्षा करें और पता लगावें कि किस प्रकार शक्ति और विनम्रता द्वारा उस सृजनात्मक ध्येय की पूर्ति हो सकती है।

अंग्रेज कवि टी० एस० इलियट ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

इसलिए प्रत्येक साहस है नया प्रारंभ।
जीतना जो कुछ हमें है शक्ति से अपनी विनय से
वह अनेकों बार पाया जा चुका है,
उन जनों द्वारा कि जिनके अनुगमन की आश भी है दूर हमसे।
किन्तु इसमें होड़ का है प्रश्न ही क्या!
है यहां संघर्ष केवल प्राप्त करने का उसे फिर
जो कि पहले खो चुका है और पाया जा चुका है,
और कितनी बार फिर-फिर खो चुका है!
आज की मंगल-घड़ी में है हमारा यत्न ही अधिकार
शेष का अपने लिए क्या अर्थ और विचार!

गान्धी जी का सन्देश

यूरोप के शान्तिवादियों को बड़ा हर्ष है कि वे महात्मा गान्धी के देश में आ सकें और यीशु-जयन्ती उस ग्राम में मना सके जो गान्धी जी का क्रीड़ा क्षेत्र रहा।

यीशु-जयन्ती का सन्देश युग-युग से दिव्य रहा है। उसकी दिव्यता का कारण यह है कि वह प्रेम, सेवा और त्याग का सन्देश है। लेकिन हम तब तक ईसा के सच्चे अनुयायी नहीं हो सकते जब तक हम उनके आदेशों का पालन नहीं करते। हम प्रभु के आभारी हैं कि उसने पूर्व में फिर एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न किया जिसने हमें याद दिलाया कि 'गिरि प्रवचन' (Sermon on the mount) बहुत महत्व की वस्तु है। वह व्यक्ति गान्धी जी थे और उनके सत्याग्रह तथा अहिंसा के सिद्धान्त हमें यीशु के सन्देश की याद दिलाते रहते हैं।

एक दिन गान्धी जी ने एक मिशन से कहा था—"ईसाइयों को ईसा जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये।" यूरोप को गान्धी जी का यही सन्देश था। यदि दुनिया में शान्ति स्थापित करनी है तो हमें गान्धी जी से यह समझना और सीखना होगा कि यीशु का मार्ग सत्य, प्रेम और अहिंसा का मार्ग था।

हम यूरोप के लोग भारत की ओर बड़ी आशा से देखते हैं, क्यों कि आज जब कि तीसरा महायुद्ध हमारे सर पर मंडरा रहा है, गान्धी जी का सन्देश ही हमारे लिये आशा की किरन के समान है।

मैं प्रार्थना करता हूँ कि हमारा यह सम्मेलन आप भारतवासियों को यह याद दिलावे कि वर्तमान स्थिति में आपका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है कारण कि गान्धी जी के सिद्धान्तों द्वारा ही दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकती है।

मैं यह भी प्रार्थना करता हूँ कि हम, यूरोप के ईसाई, भी अपने उत्तरदायित्व को समझें और यीशु के व्यावहारिक सन्देश को अपने जीवन में उतारने का पूरा प्रयत्न करें। मुझे यीशु की शक्ति में विश्वास है। मुझे यह भी विश्वास है कि यीशु की कृपा से शान्ति स्थापित हो सकती है। मैं आशा करता हूँ कि प्रभु की सहायता से हम अपने हृदय को और जीवन को बदलेंगे और सामूहिक रूप से शान्ति के मार्ग पर चलते हुए स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की नींव पर एक नया समाज स्थापित करेंगे।

—श्री जे० जे० बस्केस हालैंड

शांति का उपाय : प्रेम

सब देशों के लोग यही कहते हुए सुनाई देते हैं कि हम युद्ध नहीं चाहते। भारत में भी यही सुनाई पड़ता है कि संसार में शांति स्थापित होनी चाहिए। जब मैं अपने न्यूजीलैण्ड के निवासियों से शांति की चर्चा करता हूं तो वे कहते हैं कि हमें तो युद्ध नहीं चाहिए, परन्तु आप जर्मन, रूसी और जापानी लोगों से शांति रखने के लिए क्यों नहीं कहते? जर्मन, रूसी अथवा जापानी लोग युद्ध दिल से चाहते हैं, ऐसी बात नहीं है। उनकी दशा विचित्र है। ऐसे बहुत से आदमी हैं, जो बीमार नहीं पड़ना चाहते; परन्तु फिर भी वे स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करते। इसी प्रकार हम लोग लड़ाई तो नहीं चाहते, लेकिन हम या तो दूसरे देशों की समस्याओं से अलिप्त रहना चाहते हैं या ऐसी चीजें चाहते हैं, जैसे ऊंचा जीवन-स्तर व राष्ट्रीय अभिमान, जिनसे युद्ध का वातावरण बन जाता है। इस प्रकार मनुष्य जीवित रहने की इच्छा रखते हुए भी जीवन से दूर हटता और मृत्यु की ओर बढ़ता जाता है।

ईसा ने जिसका दिन आज मनाया जा रहा है, जीवन का बिलकुल भिन्न मार्ग बताया है। उन्होंने जीवन को अमर कहा है। यदि मनुष्य सब से प्रेम करे तो उसका जीवन नई दिशा की ओर झुक जायगा। सब से प्रेम करने वाला व्यक्ति सब में बांट कर और सब के साथ रह कर जीवन निर्वाह करता है। आज संसार में बड़ा असंतोष और अव्यवस्था है। इसका मुख्य कारण दरिद्रता, भय और सामाजिक कुरीतियां हैं। इसलिए प्रत्येक देश को अनाज, कपड़ा, मकान का अधिक निर्माण करना चाहिये। हमारे देश न्यूजीलैंड में औसत उम्र ६७ वर्ष है, परन्तु भारत में औसत उम्र केवल २७ वर्ष ही है। न्यूजीलैंड में प्रत्येक के लिये औषधि और उपचार का प्रबंध है। वहां न कोई भूखा है, न नंगा, न अनपढ़, न बिना मकान का। भारत में ऐसी ही व्यवस्था होनी चाहिए। हमारा देश इस दिशा में कुछ सहायता कर सकता है।

अंत में हमें प्रत्येक देश के नागरिकों को एक आवाज से यह कहने के लिये तैयार करना है कि वे युद्ध नहीं चाहते और वे अपने आचरण से इस दावे को सिद्ध करने के लिये तैयार हैं। हमें एक दूसरे से प्रेम करना है, नहीं तो हमें मौत के मुंह में चला जाना होगा।

—श्री ए० मी० बेरिंगटन न्यूजीलैंड

शांतिसम्मेलन की फलश्रुति

विश्व-शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए जो प्रतिनिधि आये थे, वे ३५ विभिन्न देशो से सबध रखते थे। उनके अलग-अलग कार्यक्षेत्र और अलग-अलग पृष्ठ-भूमियाँ थीं। पहला अधिवेशन शांतिनिकेतन में हुआ, जिसमें मुख्यत तथ्य और सूचनाओ को लेकर पारस्परिक विचार-विमर्श हुआ। विदेशी प्रतिनिधियो को विशेष रूप से गाधीजी के आदर्शों, सिद्धान्तो और उनके रचनात्मक कार्यक्रम का, जिसमें बुनियादी तालीम भी सम्मिलित है, अध्ययन करना आवश्यक था। उसी प्रकार भारतीय प्रतिनिधियो को यूरोप, चीन, जापान, अमरीका और अफ्रीका के शांतिवादियो की स्थिति का ज्ञान पा लेना जरूरी था। ऐसी जानकारी के पश्चात् ही हम समस्त विश्व के शांतिवादियो से सबध रखनेवाली समस्याओं पर विचार कर सकते थे। इस दृष्टि से हम लोग छोटी-छोटी समितियों में विभक्त हो गये, जिनमे से प्रत्येक में अधिक सदस्य नहीं थे। यह बहुत ही दिलचस्प बात थी कि ऐसा हो जाने से सदस्यों की मनोवृत्ति में किस प्रकार मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो गया। बडी बैठकों में किसी समझौते पर पहुचना प्राय: असभव था और प्रत्येक प्रस्तावित वाक्य पर पृथक्-पृथक् अनगिनत विचारों को सुनने में जो समय लगता, वह बहुत अधिक होता। इसके विपरीत छोटी-छोटी समितियो में थोडे से विचार-विनिमय के बाद ही प्राय: सभी बातों पर हम जिस प्रकार एकमत हो जाते थे, वह निश्चय ही बहुत आश्चर्यजनक था। इतना ही नहीं, जब छोटी समितियो के निर्णय बड़ी समितियो के आगे आते थे तो वहाँ भी, थोड़ी-बहुत प्रारंभिक आलोचना के बाद, हम लोगो में अद्भुत एकमतता दिखाई देती थी। ऐसा कहने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि वहां इस प्रकार की पूर्ण सहमति थी कि जो निर्णय किये गये वे प्रत्येक सदस्य के लिए अनुकूल थे, बल्कि विश्व भर के शांतिवादियों के लिए ऐसे बहुत से सुझाव स्वीकार किये गये थे, जिनमें वे अपने देश में जाकर वहां की स्थिति के अनुसार परिवर्तन कर सकेंगे।

इस सब के अतिरिक्त सामान्य ध्येय की भावना, व्यक्तिगत मित्रता, और असख्य नये-नये विचार जो वहां पैदा हुए, वे समस्त विश्व में शांति के उद्देश्य के लिए अकल्पनीय रूप से लाभदायक सिद्ध होंगे, विशेषत: विदेशी प्रतिनिधि गांधीजी के विचारों और कार्य प्रणाली को सारी दुनिया में फैला देंगे, और वे न केवल भारत की प्रतिष्ठा में ही चार चांद लगावेंगे, अपितु कालांतर में शांति की प्रगति को तीव्र गति प्रदान करेंगे।

—श्री रिचार्ड बी० ग्रेग

विकेन्द्रीकरण आवश्यक है

जब से औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई, पाश्चात्य सभ्यता की प्रवृत्ति प्रकाश के आन्तरिक साधनों के विनाश की ओर ही लगी रही। इस क्रान्ति ने ब्रिटिश शहरों तथा गांवों का सौन्दर्य नष्ट कर दिया है और उच्च कला-कौशल के स्थान पर यांत्रिकता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ह्रास हुआ है और साथ ही मानव स्वभाव का पतन।

जब मशीनों की संख्या में वृद्धि के साथ कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी तो संसार के विभिन्न देशों में व्यापार फैलाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता होने लगी और १९वीं सदी के अन्त तक औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशों ने संसार के बाजारों पर अधिकार जमा लिया। इन पर कब्जा करने के लिए जो संघर्ष हुआ उसका परिणाम ही अन्त में प्रथम विश्व-युद्ध के रूप में प्रकट हुआ। अप्रत्यक्ष रूप से इस संघर्ष ने सैद्धान्तिक विरोध को जन्म दिया। वही विरोध अन्त में दूसरे महायुद्ध के रूप में परिणत हुआ। पश्चिमी देशों में जन-शक्ति की कमी से पाश्चात्य देश दूसरे देशों के उद्योगपतियों की ओर देखने लगे। इस प्रकार भारत तथा दूसरे देशों में जो कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर आधारित थे, इन लोगों ने औद्योगिक क्रान्ति का समावेश करने का प्रयत्न किया। इससे तनातनी अधिक बढ़ने की सम्भावना है, क्योंकि ब्रिटेन जैसे देश, जो कि विदेशों में अपने व्यापार तथा पूंजी-विनियोग को खो चुका है, उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिए पहले से अधिक प्रयत्न करने वाले हैं।

इस औद्योगिक क्रान्ति का मानव के स्वभाव पर भी बुरा असर हुआ है। आज ब्रिटेन के मजदूर अपने आमोद-प्रमोद के रूप में लाखों पौंड तम्बाकू, शराब आदि पर खर्च करते हैं। विकेन्द्रीकरण से ही मानव-समाज अपने मूलभूत सिद्धान्तों पर फिर आ सकता है और तभी ग्रामों का पुन-र्निर्माण हो सकता है।

सत्तात्मक राष्ट्रीयता का स्थान आध्यात्मिक राष्ट्रीयता को लेना चाहिए। शान्तिवादियों को चाहिए कि वे उन उपायों को सोचें, जिनसे युद्ध को जन्म देने वाली सामाजिक तनातनी दूर हो।

—श्री विल्फ्रेड विलॉक, इंग्लैंड

सेवाग्राम शान्ति सम्मेलन

श्री विष्णु प्रभाकर

युग युगान्त से विश्व में शान्ति की खोज जारी है। जिस घड़ी मानव ने सर्वप्रथम नेत्र खोल कर इस संसार को देखा, निस्सन्देह उसी घड़ी उसके मन में एक चाह पैदा हुई। वही चाह शान्ति का पूर्व रूप है। वह चाह सुख सुविधा की चाह है। इसी सुख सुविधा का आध्यात्मिक रूप है शान्ति। कहते हैं राह चलते व्यक्तियों को रोक कर सुकरात पूछा करता था—"क्या तुमने सचमुच सत्य को जान लिया है?" यदि राह भूल कर सुकरात आज यहाँ भटक पड़े तो निःसन्देह वह भी सत्य की बात भूल कर पूछ बैठेगा —"क्या तुमने कहीं शान्ति को देखा है? क्या सचमुच शान्ति कहीं मिल सकती है?" और यदि बीसवीं सदी का बुद्धिवाद उसे पागल न बना दे तो वह एक और प्रश्न भी पूछ सकता है "क्या तुम सचमुच शान्ति चाहते हो?"

गान्धी के देशवाले इस प्रश्न से झुंझला सकते हैं? कैसा बेहूदा प्रश्न है। अरे हमने तो अनादि काल से शान्ति का आह्वान किया है। वेद शान्ति पाठ के मन्त्रों से भरे हैं। शास्त्र और उपनिषद् शान्ति का गान करते हैं। जैन धर्म का आधार शान्ति है। बौद्ध शान्ति के उपासक हैं। शान्ति की खोज में महावीर और बुद्ध ने राज त्याग किया था। शान्ति के लिये आर्य मुनियों ने तपोवन-जीवन की सृष्टि की थी। और उसी परम्परा में इस युग में गान्धी का अवतरण हुआ जिसने युद्ध की भीषण ज्वालाओं के बीच शान्ति की पुकार मचाई। शान्ति के लिये उसने अहिंसा के अमर प्रयोग किये और नोआखाली, बिहार तथा दिल्ली आदि स्थानों पर उन प्रयोगों का प्रदर्शन करते हुये उसने हिंसा की बलिवेदी पर अपने प्राणों का का उत्सर्ग कर दिया।

सब कुछ हुआ, बहुत सुन्दर हुआ, परन्तु सुकरात की धृष्टता देखिये पूछे चला जा रहा है—"क्या तुम सचमुच शान्ति चाहते हो?" आपको क्रोध आ रहा है। सुकरात ने आपकी आँखों में झाँका और सिर हिलाते हुआ आगे बढ़ गया। आप यदि कुछ भी बुद्धि रखते हैं तो उसका मौन एक बड़े "नकार" रूप में आपकी आँखों के आगे उभर आयेगा।

सेवाग्राम में इकट्ठे होने से पहिले प्रतिनिधिगण भारत के विभिन्न भागों में घूमने के लिये तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिये चले गये थे। उनसे मिलने पर जब हमने भारत के बारे में उनकी राय पूँछी तो प्रायः सभी ने एक स्वर में इस देश को महान और अद्भुत बताया। सच तो यह है "महान और अद्भुत" शब्द सुनते सुनते हम ऊब उठे थे। ऐसा लगता था मानो यह सब एक शिष्टाचार मात्र है पर उसके लिये उन्हें दोष भी कैसे दें? आते-जाते, घूमते-फिरते, हर कहीं हर कोई इन बेचारों से यही पूछता था---"कहिये भारत आपको कैसा लगा?" दूसरा प्रश्न जिसे सुनते सुनते वे लोग निस्सन्देह ही उकता गये होंगे यह था---"आपकी राय में शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?" इसका उत्तर भी प्रायः एक था---"इसी बात का पता लगाने के लिये तो हम इकट्ठे हुये है?" तीसरे प्रश्न से सम्मेलन की स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। जब उनसे यह पूछा जाता था---"आप किस सस्था के प्रतिनिधि हैं" तो प्रायः उनका उत्तर यही होता था---"किसी का भी नहीं। मैं तो व्यक्तिगत हैसियत से आया हूँ।" निस्सन्देह उनमें बहुत ही कम ऐसे लोग थे जो अपने देशकी किसी शान्तिवादी संस्था के प्रतिनिधि थे। व्यक्तिगत रूप से उनमें से बहुतों ने अपनी मान्यताओं के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहे थे, उनका चरित्र भी बहुत ऊँचा था परन्तु उनके पीछे न जन शक्ति थी न राज्य और इसीलिये उनका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया था। उनकी यह कमजोरी ही उनका सब से बड़ा बल थी। सहारे के अभाव मे उन्हें अकेला चलना था; यह शुभ था क्यो कि अक्सर सहारा चलने की शक्ति कुण्ठित कर देता है।

एक बात और जिसका पता उन लोगों से बात करने पर लगा वह यह थी उन लोगों के सामने कोई निश्चित मार्ग नहीं था। उनके विचार भी भिन्न भिन्न दिशा में दौड़ते थे। कोई युद्ध का विरोधी था तो कोई साम्य-वाद का। कोई पूंजीवाद का शत्रु था तो कोई विश्वसंघ का समर्थक। कुछ लोग सेवाग्राम की रचनात्मक संस्थाओं और उनको चलाने वालों से इतने प्रभावित हुये कि उनका गुण गान करते नहीं थकते थे। हमें कुछ ऐसा लगा कि उन पर पड़ने वाला यह प्रभाव ऊपरी अधिक था। फिर भी एक बात स्पष्ट थी कि वे लोग ईमानदारी से मानवता और शान्ति के उपासक थे और सच्चे दिल से यह चाहते थे कि संसार में शान्ति की स्थापना हो। आज के अशान्त युग में यह भावना भी बहुत बड़ी वस्तु है क्यों कि यह जीवित रही तो किसी न किसी दिन वे लोग अशान्ति का मूल कारण

सामाजिक और आर्थिक विषमता को पहिचान कर उसका अन्त करने में समर्थ होंगे। मानवमूल्य सामाजिक और आर्थिक विषमता के रहते कभी नहीं पनप सकते।

सेवाग्राम सम्मेलन भी शान्ति-निकेतन सम्मेलन की भाँति जनता के लिये खुला हुआ नहीं था। सम्मेलन के संयोजक श्री हारेस अलेकजैन्डर ने इसका जो कारण हमें बताया वह निश्चित ही उचित था। उनका कहना था कि जनता को देख कर सदस्यगण भाषण देने के लिये लालायित हो" उठेंगे और शान्ति के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार न हो सकेगा। इतना ही नहीं मतैक्य के लिये वे छोटी से छोटी कमेटी बनाते थे। उनका यह विश्वास था कि जितने कम आदमी होंगे उतनी ही मुखरता कम होगी और एक दूसरे को समझने की सुविधा रहेगी। इसलिये २५ और ३१ दिसम्बर के प्रारम्भिक और अन्तिम अधिवेशनो को छोड़ कर शेष अधिवेशन बन्द कमरो में हुये। वैसे सेवाग्राम में बन्द कमरे जैसा कोई स्थान नहीं है फिर भी वे अधिवेशन दीवारों के पीछे हुए और वहाँ सदस्यो के अतिरिक्त और कोई नहीं जा सकता था। हाँ, उनकी कार्यवाही के बारे में समय समय पर बुलेटिन छपती रहती थी।

सम्मेलन का आरम्भ शान्ति की उस अपील से हुआ जो डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने २४ दिसम्बर की रात को साढ़े आठ बजे संसार के जन साधारण के नाम रेडियो पर प्रसारित की। उस दिन जनता सन्ध्या से ही सेवाग्राम जाने लगी थी। हम लोग विशेष कारणो से सवा आठ बजे रवाना हो सके। यद्यपि चाँदनी रात थी परन्तु चन्द्रमा तेजी से अस्ताचल की ओर जा रहे थे। शुक्र को भी शान्ति से विशेष प्रेम नहीं था। देवगुरु बृहस्पति पहिले ही डूब चुके थे। चारों ओर अन्धकार छाने लगा। बापू का सेवाग्राम उस अन्धकार में भी मौन नहीं था। दीपकों के प्रकाश में शान्ति का सन्देश सुननेवाले कुछ न कुछ आहट कर ही देते थे। राजेन्द्र बाबू बापू की कुटिया के भीतर से बोल रहे थे। वे बापू के सूने आसन के पास बैठे थे। बापू का सभी सामान सदा की तरह रखा था पर बापू नहीं थे। आज बापू होते तो न जाने यह सोच कितने हृदय भर आये होंगे कितनी आँखें रोई होंगी। कुछ लोग बाहिर खड़े थे परन्तु अधिकांश जनता और सदस्य मिट्टी, बाँस और फूंस के बने एक बड़े हाल में मेजों की एक लाइन के दोनों ओर बैठे थे। वहाँ भी कुछ लोग खड़े थे। उनमें स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध सभी थे। सभी जातियों और सभी वर्णों तथा प्रायः सभी देशों के प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे। लालटेनों का धुंधला प्रकाश फैल

रहा था। उसीके समान रेडियो का स्वर भी अस्पष्ट था। परन्तु अस्पष्ट स्वर के पीछे जो अपील थी वह पूर्णतया स्पष्ट थी। उसमें कहा गया था —"यदि मनुष्य परिग्रह के बजाय त्याग, घृणा के बजाय प्रेम, भय के बजाय विश्वास, अधिकार के बजाय कर्तव्य और शोषण के बजाय सेवा को अपने जीवन में स्थान देने को उद्यत हो जाय तो दुनिया का चेहरा ही बदल जाय और पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित हो जाय।" दुनिया के राष्ट्रों से उस अपील में शोषण का अन्त करके अपने नैतिक और भौतिक साधनों का उपयोग रचनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति में करने को कहा गया था। वह अपील संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं में रात के साढ़े दस बजे तक प्रसारित की जाती रही थी। शान्ति के एक अमर दूत (गान्धीजी) की कुटिया से शान्ति के एक राजकुमार (यीशू) के जन्मदिन के अवसर पर की गई अपील इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी।

२५ ता० का कार्यक्रम क्रिसमिस (यीशु जयन्ती) की प्रार्थना से आरम्भ हुआ। उसमें लगभग सत्तर विदेशी प्रतिनिधियों (जो प्रायः ईसाई थे) के अतिरिक्त भारतीय शान्तिवादियों और गान्धी जी के साथियों ने भी भाग लिया। उससे पूर्व सामूहिक चर्खा यज्ञ और गान्धी जी तथा यीशू की स्मृति में दो मिनिट का मौन धारण किया गया। प्रार्थना दुनिया के चारो कोनों के प्रतिनिधियों की भाषा में की गई थी। उनमें अंग्रेजी, हिन्दी, लातानी, संस्कृत, गुजराती, पाली, मराठी, और उर्दू मुख्य भाषायें थी। प्रार्थना का आरम्भ "यशायाह की वाणी" की "पुकार" से हुआ और अन्त वेद के प्रसिद्ध "शान्तिमंत्र" से। बीच में, लातानी भजन, वैदिक प्रार्थना मंत्र, ईश, श्वेताश्व० तथा कठोपनिषत् के मंत्र, गान्धी जी का प्रसिद्ध गुजराती भजन वैष्णवजन, महायान सूत्र, मेत्तीसुत्त, धम्मपद के मैत्री मन्त्र, मराठी के अभंग, न्यू टेस्टामेन्ट की कहानी, कुरान शरीफ में हजरत ईसा की शान में कही गई आयतें गाई गईं। रुग्ण होते हुये भी श्री विनोबा भावे ने प्रार्थना का संचालन बडी सुन्दरता से किया। यद्यपि धूप की तेजी बढ़ रही थी और विदेशी नर नारी उससे बचने के लिये रंगीन रूमालो और अखबारों का प्रयोग कर रहे थे तो भी प्रार्थना का वातावरण शान्त बना हुआ था। कभी कुरसी पर बैठे हुये विदेशी उठते और सामूहिक स्वर में गीत गाने लगते तो कभी आश्रम के निवासी नरनारी भजन और अभंग सुनाने लगते। कभी विनोबा वेद मंत्रों को सस्वर पढ़ते तो कभी कुरान की आयतें गूंज उठतीं। यह दृश्य निस्सन्देह प्रभावोत्पादक था और यद्यपि वह केवल धार्मिक कृत्य था तो भी वह मानव एकता का एक सुन्दर प्रतीक था।

इस प्रार्थना की एक विशेष बात हमें याद है। दक्षिण अफ्रीका के अव-सर प्राप्त नीग्रो डा० डेविडसन जाबाबू ने "हजरत ईसा की शान में" पढ़ने से पहिले उपस्थित जनता को बताया कि मेरे देश में यीशु जयन्ती का दिन बस केवल छुट्टी का दिन है। एक युवक बड़े गर्व से कहा करता है कि मैं आज के दिन शराब पीता हूँ इतना पीता हूँ कि बेहोश हो जाता हूँ और लोग मुझे उठा कर ले जाते हैं। एक दूसरे युवक ने इस दिन खूब शराब पी और फिर बोला—"मुझे क्षमा कर दो। आज भी क्षमा न करोगे तो कब करोगे आज तो क्षमा का दिन है।" क्षमा का दिन। पाप करते और क्षमा माँगने का दिन!! नियति भी कितना क्रूर व्यंग्य करती है पर क्या यह व्यंग्य हमारे धर्मगुरुओं के लिये एक गम्भीर चेतावनी नहीं है।

दोपहर को प्रीति भोज का आयोजन किया गया था, उसमें सभी अति-थियों और आश्रमवासियों ने भाग लिया था। इसके अतिरिक्त अपना भोजन लानेवाला कोई भी व्यक्ति उसमें शामिल हो सकता था। उस प्रीतिभोज की विशेषता यह थी कि उसमें विदेशी लोगों ने वही भोजन खाया था जो आश्रमवासी खाते है, उसी प्रकार खाया था जिस प्रकार हम खाते हैं। एक थाली, दो कटोरियां, उनमें साग, रोटियां, पापड़, केला यही सब कुछ था। वे लोग बरामदे में पैर नीचे किये बैठे थे और उनके घुटनों पर थालियां रखी हुई थी। उनके सामने फर्श पर पंक्तिबद्ध आश्रमवासी थे। प्रार्थना हुई और फिर भोजन विदेशियों के लिये सब कुछ विदेशी था परन्तु उनकी भावना एकता के लिये तड़प रही थी। वे भारतीय रीति से भारतीय भोजन कर रहे थे। उनमें से अनेको ने भारतीय वस्त्र भी पहिन रखे थे। गांधी टोपी प्रायः सभी लगाते थे परन्तु 'खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र' और 'अहिंसा की शक्ति' आदि पुस्तकों के लेखक गान्धी जी के परम भक्त, अमेरिका के शान्तिवादी श्री रिचार्ड बी० ग्रेग ने तो खद्दर की धोती, कुरता, जवाहरजाकेट और गान्धी टोपी लगाई हुई थी। एक दूसरे अमेरिकन प्रतिनिधि खद्दर के कुरते पाजामे और गान्धी टोपी में बड़े सुन्दर भारतीय युवक की तरह लगते थे। कई स्त्रियों ने साड़ियां पहिनी हुई थी। यह सब सद्भावना का सूचक था। वे सब लोग बराबर सेवाग्राम की कुटियों में रहे। ऐशियाई सम्मेलन की भांति उनके ठाठ राजसी नहीं थे। वे बापू के भारत के अतिथि थे। ग्रामीण भारत के अतिथि थे। वे अपना सब काम अपने हाथों से करते थे; बरतन तक स्वयं साफ करते थे। जब कभी हम लोगों में से कोई उनकी सहायता करना चाहता तो वे कृतज्ञता पूर्वक मुस्करा कर इन्कार कर देते थे। वे आश्रम की घण्टी के साथ उठते, कुँये पर

जाकर हाथ मुँह धोते, प्रार्थना करते, फिर लाइन में खड़े होकर नाश्ता लेते, खाते और फिर बर्तन साफ करके दूसरे कामों में लगते। उनमें अधिकतर लोग साधारण स्थिति के थे उनके वस्त्र साधारण थे और झूठी टीमटाम उनके लिये विदेशी थी। एक बन्धु पतलून को तह करके उसे घुटनों के ऊपर चढ़ाये रहते थे तो दूसरे भाई के सुनहरे पर रूखे बाल सदा हवा में उड़ते रहते थे।

उसी दिन तीन बजे से महादेवभवन के सामने के विशाल मैदान में सम्मेलन का खुला अधिवेशन हुआ। उपस्थिति २००० से अधिक थी। लगभग सभी शान्तिवादी प्रतिनिधि, गान्धी जी के सभी संगी साथी (रचनात्मक कार्यकर्त्ता) वहां उपस्थित थे। बंगाल के श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष, मध्य-प्रान्त के गवर्नर श्री मंगलदास पकवासा भी आये थे। डा० राजेन्द्रप्रसाद सभापति थे। अधिवेशन का आरम्भ श्री बिनोवा के उद्घाटन भाषण से हुआ। अस्वस्थ होने के कारण श्री बिनोवा स्वयं नहीं आये थे। उनका भाषण श्री आर्यनायकम् ने पढ़ा था। (उनका भाषण अलग से इस अंक में प्रकाशित है) उन्होंने शान्ति प्राप्ति के साधनों पर प्रकाश डाला। बताया कि विनाशात्मक कार्यों से डरना ही अहिंसा नहीं है। वह तो रचनात्मक कार्यों में प्रकट होती है। उन्होने एक बहुत सुन्दर मौलिक बात यह कही थी कि मैं विश्वयुद्धों से नहीं डरता। वे हमें अहिंसा की ओर ले जा सकते हैं। डर तो छोटी छोटी लड़ाइयो और रोज के संघर्षों से है जो अहिंसा को पीछे फेंक देते हैं।

भाषण से पूर्व सामूहिक प्रार्थना भी हुई थी परन्तु भाषण के बाद का वह दृश्य बहुत सुन्दर और प्रिय था जब जनता को प्रतिनिधियो का परिचय दिया गया। श्री हारेस अलेकजेण्डर बारी बारी प्रतिनिधियों के नाम पढ़ते, वे मंच पर आते, घुटने टेक कर बैठ जाते, बापू के प्रिय शिष्य और साथी स्व० मगनलाल गान्धी की पत्नी वयोवृद्धा श्रीमती काशीबेन उनके तिलक लगाती, श्री मणिलाल गान्धी की पुत्री उन्हें सूत की एक गुण्डी भेंट करती, वे उठते, मुड़ते और और जनता को हाथ जोड़ कर, झुक कर प्रणाम करते और चले जाते। उस दृश्य में एक पवित्रता थी, स्नेह था, स्निग्धता थी लोगों के दिल भर आये। वे एक साथ रोये और मुस्कराये। 'आज बापू होते'.....यह प्रश्न तो वहां के वातावरण में प्रतिक्षण प्रति अणु अणु से उठता रहता था—"आज बापू होते तो.......।" प्रतिनिधि भी उस समय आनन्द और हर्ष से विभोर थे। ईरानी प्रतिनिधि नमस्ते करना भूल गये तो लौटे और झुक झुक कई बार प्रणाम किया। एक बन्धु तो इतने खुश थे कि उन्होंने कूद कर प्रणाम किया। दूसरे बन्धु गदगद हो कर बोले—फेयर वेल।' बेलजियम और कनाडा के प्रतिनिधियों ने उच्छ्वासित हो कर

अपने हाथों का चुम्बन किया मानो उन्होंने अपने देश की रीति के अनुसार चुम्बन द्वारा अपने स्नेह को प्रकट करते हुये हमें प्रणाम किया।

उसके बाद सर्वश्री मंगलदास पकवासा, और डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने प्रतिनिधियों का स्वागत किया। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने शान्तिवादियों से कहा कि आप हमारे कथन और कार्य में असंगति देख सकते हैं। उसे दूर करने वाले गान्धी जी आज हमारे साथ नहीं हैं। हम निर्बल यंत्र के समान उनके कार्य को पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी दृष्टि से आप हमें देखें। हमारी सेना और पुलिस से डरें नहीं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि भारत का हृदय अहिंसात्मक है। प्रतिनिधियों की ओर से चेकोस्लोवाकिया के डा० कारेल हुजर, हालैण्ड के श्री जे० जे० बस्के, न्यूजीलैण्ड के श्री ए० सी० बेरिंग्टन, तथा दक्षिण अफ्रीका के रेवरेंड माइकेल स्काट ने भारत के प्रति सद्भावना प्रकट की और सम्मेलन के महत्त्व पर प्रकाश डाला। वे सब गान्धी जी की महत्ता से निश्चय ही प्रभावित थे। विशेष कर सेवाग्राम की सादगी और स्वालम्बन से उन्हें बहुत प्रेरणा मिली। उन्होंने हम बताया कि अपने हाथो से काम करके उन्हें बेहद खुशी होती है।

२६ दिसम्बर से ३० दिसम्बर तक सम्मेलन अनेक समितियों, उप-समितियों और परिषदों में बंट कर काम करता रहा। बीच बीच में यीशु जयन्ती के उत्सव भी हुये, गाव वालों ने उनका स्वागत किया, (वह निस्सन्देह एक भव्य दृश्य था), उन्हें गान्धी जी की फिल्म दिखाई गई। उन्हें अनेक प्रकार की भेंटें भी दी गईं परन्तु उन सब में नोआखाली के गान्धी जी के साथी श्री निर्मल कुमार बोस की भेंट सर्वश्रेष्ठ थी। उन्होंने सुन्दर कार्ड छपवा कर गान्धी का एक मंत्र-तावीज (Talisman) उन्हें भेंट किया। वह इस प्रकार था—'मैं तुम्हें एक तावीज (मंत्र) देता हूँ। जब कभी तुम्हें शंका हो, तुम्हारा अहम् तुम्हें तंग करे तब तुम उस निर्धन से निर्धन और लाचार से लाचार व्यक्ति के चेहरे को अपने दिल में याद करो जिसे तुमने कभी देखा हो, और फिर अपनी आत्मा से पूछो कि जो कदम तुम उठा रहे हो क्या उससे उस व्यक्ति का कोई लाभ होगा, क्या उससे उसे अपने जीवन को सुखमय बनाने में कोई सहायता मिलेगी। दूसरे शब्दो में क्या इससे हमारे देश के भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से लाखो मूक व्यक्तियों को स्वराज्य या स्वशासन प्राप्त होगा।.....तब तुम्हें तुम्हारी शंकायें, तुम्हारा अहम् मिटता दिखाई देगा।" शान्ति-निकेतन सम्मेलन में भी गुरुदेव का एक सन्देश बांटा गया था—"सारी दुनिया एक हो गई है, सभी देशों की दूरी प्रतिदिन खत्म हो रही है। पहले जो प्रत्येक

देश की सीमायें थी, वे अब हट गई है। इसके कारण राजनीतिज्ञ दूसरे देशों को लूसने के लिये संघर्ष कर रहे हैं—व्यापारिक सम्बन्धों के द्वारा। मगर मेरा सन्देश (मिशन) संसार भर में बुद्धि, हृदय, सहानुभूति और एक दूसरे को समझने का व्यापार करने का सन्देश देता हूं। मैं व्यक्तिगत लाभ के बाजारो में सस्ते दामो इस व्यापार के करने का पक्षपाती नहीं हूं। क्यों कि ऐसा करने में पारस्परिक नाश की प्रतियोगिता जोर करेगी।"

इन दोनों सन्देशों में अशान्ति के मूल कारणों और शान्ति के मूल साधनों का स्पष्ट संकेत है। परन्तु क्या हिंसा से प्रताड़ित संसार इन्हें अपने जीवन में उतार सकेगा। शंकाओं के इस युग में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता केवल आशा ही की जा सकती है।

शान्ति-निकेतन सम्मेलन की भांति इस सम्मेलन में भी जिन विषयो पर विचार हुआ उनमें कुछ ये थे—आदर्शों का संघर्ष, साम्यवाद के प्रति दृष्टिकोण, भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध, बुनियादी शिक्षा, विश्व सरकार, रचनात्मक कार्यक्रम, युद्धबन्दी और गिरफ्तार शान्तिवादी, जातिभेद और साम्राज्यवाद, सत्याग्रहियो की सेना, भूमि का बँटवारा, एक नये अर्थशास्त्र का निर्माण, भोजन और जनसख्या, उद्योगोकरण, युद्ध-उन्मूलन, एक शान्तिपूर्ण समाज की स्थापना के लिये आधारभूत सिद्धान्त। इस विस्तृत विचारविनिमय का पूर्ण विवरण यहा देना सम्भव नहीं है। सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में प० जवाहरलाल नेहरू भी आये थे। जसा कि उन्होंने स्वय कहा था वे शान्तिवादी नहीं है फिर भी वे युद्ध रोकने मे पूरी दिलचस्पी रखते हैं। उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के संघर्ष का उल्लेख किया तथा एशिया और अफ्रीका में यूरोप की अपेक्षा अधिक खतरा बताया। उन्होने चेतावनी दी कि भारत को एशिया का नेता मानना गलती है और कि केवल सेवाग्राम में ही भारत नहीं बसता। उन्होने उपदेश न देकर कार्य करने पर जोर दिया। उन्होने यह भी कहा कि शान्तिवादी "हिंसा" के अर्थों पर फिर विचार करें। कुछ ऐसे शान्तिवादी भी है जो अपने चारो ओर हिंसा का वातावरण बनाये रखते हैं। यह एक अर्थपूर्ण चेतावनी थी।

सन्ध्या को जो अन्तिम खुला अधिवेशन वर्धा में हुआ वह मात्र एक शिष्टाचार और सम्मान का प्रदर्शन था। नेहरू के कारण अपार भीड़ एक बजे से ही कामर्स कालेज के मैदान में जमा होनी शुरू हो गई थी और नेहरू के आते ही उखड़ने लगी थी। उस सभा में नेहरू ने देश की आन्तरिक अशान्ति पर प्रकाश डाला। जापान, फिलीपाइन, अमेरिका और चीन के प्रतिनिधियों ने गान्धी जी की प्रशंसा की और शान्ति प्राप्ति के लिये भारत के नेतृत्व में विश्वास प्रकट किया।

और सेवाग्राम सम्मेलन भी समाप्त हो गया। सेवाग्राम में बापू नहीं थे तो भी सात दिन तक ऐसा लगा मानो बापू की आत्मा वहां शासन कर रही है। उस पुण्यभूमि की तीर्थयात्रा नेत्रों के लिये ही नही मन और प्राण के लिये भी सुखदायक थी। उनकी कुटिया तो सबके लिये शान्ति की गोद बन गई थी। जब तब हमने वहां बैठ कर सन्तोष पाया है। अनेक विदेशी प्रतिनिधियों को हमने वहां डोलते और सुदूर शून्य में चिन्तन करते देखा है। एक रात चीनी प्रतिनिधि कुटिया की पैड़ियों पर इस प्रकार निर्मुक्त से लेटे हुये थे जैसे बच्चा माँ की गोद में लेटा रहता है।

परन्तु प्रश्न यह है अब क्या? सम्मेलन ने क्या निश्चित किया? वैसे तो जो निश्चय की बात करते हैं वे भ्रम में हैं। ये लोग तो शान्ति-निकेतन और सेवाग्राम से प्रेरणा लेने आये थे और उनका उद्देश्य गान्धी जी के सन्देश को व्यावहारिक रूप में देखना था। तो क्या कई लाख रुपये इसी बात के लिये खर्च किये गये? हर किसी बात का मूल्य रुपयों की शक्ल में नहीं आंका जा सकता और फिर शान्तिसम्मेलन का। शान्ति अपने आप में कुछ नहीं है वह अन्य परिस्थितियों का परिणाम है। इसलिये यह सम्मेलन शान्ति स्थापित कर सकेगा यह कहना बड़ा कठिन है परन्तु शान्ति का जो स्वर घोष सेवाग्राम से उठा है वह प्रतिक्षण प्रबल होगा और मनुष्य की शोषण प्रवृत्ति पर चोट करेगा। शोषण के उन्मूलन होने पर ही सामाजिक और आर्थिक विषमता का अन्त हो सकता है और मानवता सबल हो सकती है। परन्तु फिर भी इस सम्मेलन के कुछ निश्चित परिणाम अवश्य होंगे। प्रतिनिधियों के साथ गान्धी जी के विचार पहिले से अधिक स्पष्टता के साथ विश्व में फैलेंगे, विशेष कर उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियां विश्व का ध्यान अपनी ओर खींचेगी। बुनियादी शिक्षा के प्रति उन लोगों की विशेष दिलचस्पी रही है। इसी प्रकार भारत के लोग भी अब पश्चिमी शान्ति-वादियों के दृष्टिकोण अच्छी प्रकार समझ सकेंगे। इस प्रकार विश्व के शान्तिवादियों में मैत्री बढ़ेगी, अन्तर्राष्ट्रियता बढ़ेगी और जाति, रंग राष्ट्र की क्षुद्र सीमायें कमजोर पड़ेगी।

यद्यपि हम बहुत आशावादी नहीं है तो भी हमारा विश्वास है कि सम्मेलन के प्रयत्न विफल नहीं जायेंगे। शर्त यही है शान्ति के लिये वे शान्ति का सहारा न लेकर संघर्ष करें उसी प्रकार जिस प्रकार अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में बापू ने किये थे।

शान्ति-परिषद् के सभापति

"सुशील"

देखने में स्वस्थ, बन्द गले का लम्बा कोट, धोती, फुल स्लीपर, कन्धे पर चादर, एक निश्चित कोण बनाती हुई टोपी, हाथ में बेंत, एक सुघड़ता, एक गाम्भीर्य—मन में प्रश्न उठा दमें के रोगी होते हुये इतना सुन्दर स्वास्थ्य? और इतनी सुघड़ता? उत्तर भी स्वयं ही दिया—विधान सभा के अध्यक्ष जो है। कि सहसा उन्होंने चश्मा उतारा, खांसी उठी और उनकी आंखो से चश्मे के पीछे छिपी हुई थकान जैसे बिखरती चली गई।

पास से: ३० दिसम्बर १९४९

हम लोग उनके पास फर्श पर जा बैठे। वे गद्दे पर बैठे हुये थे और उनके पीछे दो बड़े तकिये थे एक गोल, दूसरा चौडा। उनके चारो ओर कागज बिखरे पडे थे। वे सम्भवतः अपने किसी भाषण की तैयारी में लगे थे। उन्होंने पुराने फैशन की कत्थई रंग की बडी पहिनी हुई थी। उनके बाल खिचडी थे, न बड़े न छोटे। उनकी मूँछे छँटी हुई थी। उनकी तनी हुई गोलाकार भौंहो और नीचे नाक के पास उभरे हुये मास ने उनकी आंखो के चारो ओर एक चक्र बना दिया था। उनके सावले मुख पर एक अन्तर्मुखी मुस्कान झलक रही थी। उनका कद लम्बा और शरीर भरा हुआ था। उनके गले में ताबीज और हाथ में चांदी की अंगूठी थी।...

उन्होंने सप्रश्न हमें देखा। वे मित्र से कुछ परिचित थे। उन्हें बताया गया। कि समय होने पर आपने कुछ लिखा देने को कहा था। उन्होंने फिर ऊपर देखा, बोले कि मैंने कहा था मेरे पास समय नहीं है। मैं इतना व्यस्त हूँ........उनके मत्री ने कुछ कहना चाहा। मित्र भी कुछ बोले। हमें लगा कि अब लौटना पड़ेगा। क्षण बीता वे फिर बोल उठे.....अच्छा बैठिये।........

और उन्होंने बोलना शुरू किया। वे कभी तकिये का सहारा लेते, कभी आगे झुकते, कभी हाथों का सहारा लेते, कभी ऊपर देखते तो कभी दूसरे हाथ से अंगूठी को घुमाने लगते। बीच में किसी ने आकर प्रणाम किया तो सहज भाव से बोले—"बैठिये।" कुछ पूछा फिर लिखाने लगे। कहा—जो ठीक करना हो कर लेना।" और हस्ताक्षर बना दिये। मित्र

बोले—'पढ़ कर सुनाऊँ।' तो उत्तर दिया—'नहीं। क्या करना है। कुछ बात हो तो ठीक कर लेना।........

हमने प्रणाम किया और लौट आये।

सेवाग्राम में होने वाली शान्ति-परिषद् के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद के ये दो चित्र उन्हीं दिनों के है। ये अपनी कहानी कहते है और इस प्रकार कहते है कि प्रयत्न करने पर भी कोई इन चित्रो को भुला सकने में समर्थ नहीं हो सकता। चश्मे के भीतर रहने वाली उनकी आंखों और अन्तर्मुखी मुस्कान के पीछे से सरलता और सच्चाई कुछ इस प्रकार आपको झांकती है कि एक क्षण आप पानी पानी होते है तो दूसरे क्षण ऐसा लगता है कि जैसे आप किसी अलौकिक लोक में जा पहुँचे है। राजेन्द्रबाबू बालक की तरह सरल, साधु की तरह सीधे और मां की तरह कोमल है। उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी काम करने की अद्भुत शक्ति लोगों को अक्सर भ्रम में डाल देती है। उनके चारों ओर न राजाजी की तरह बुद्धिगम्य रहस्यका, न पटेल की तरह शक्ति-जन्य भय का और न नेहरू की भांति अद्भुत व्यक्तित्व से उत्पन्न महत्ता का वातावरण बना रहता है। उनकी आकृति, रहन सहन, वेश भूषा और डीलडौल में बड़प्पन की छाया नहीं है फिर भी वे महान् है। उनकी गम्भीरता, प्रतिभा, नियंत्रण शक्ति और सचालनक्षमता अपूर्व है। वे स्वाधीनता संग्राम के वीर सेनानी और परम आस्तिक पुरुष है। वे सच्चे अर्थों में गुदड़ी के लाल है। वे बिहारियो के परम्परागत सब सद्गुणो के पुंज है। वे विदेहराज जनक, तथागत बुद्ध और चक्रवर्ती सम्राट् देवताओ के प्रिय अशोक की परम्परा के एक अमूल्य रत्न है। उनके विनोद में भी उनके हृदय की कोमलता छलकती है।

विद्वान् होते हुये भी उनमें राजाजी की बौद्धिक विचक्षणता नहीं है। कार्यक्षमता होते हुये भी वे नेहरू की स्फूर्ति से रहित है। सफल सेनानी होते हुये भी पटेल की धाक उनसे बहुत दूर है परन्तु वे 'विद्या विनयेन शोभते" के उपासक है। उन्होने सरस्वती को शक्ति से नही, सेवा और प्रेम से प्रसन्न किया है; इसीलिये वे विनम्र है। इसीलिये उनकी विजय-यात्रा का मार्ग सब से भिन्न है। वे विरोधी को राजाजी की तरह अपने ज्ञान के बोझ से नहीं कुचलते, न पटेल की तरह निर्मम होकर उस पर चोट करते है और न नेहरू की भांति झुंझलाते है। वे विरोधी को पूरी ढील देते हैं, उसकी बात सुन कर उसे अपनी ईमानदारी का विश्वास दिलाते है और इस प्रकार उसे निःशस्त्र करके अपना काम बना ले जाते है। वे बड़े से बड़े संकट काल में शान्त और गम्भीर बने रहते है। इसी-

लिये जब जब देश के राजनीतिक जीवन में संकट काल आया तब तब जनता की आंखें उनकी ओर उठी हैं। ऐसे अवसरों पर उनकी गम्भीरता और शान्ति ने उन्हें सदा ऊपर उठाया है। १९३५ में जब गान्धी जी द्वारा एकाएक सत्याग्रह समाप्त कर देने पर देश में एक ओर तो पराजय का क्षोभ उठ रहा था, दूसरी ओर युवक दल साम्यवाद की ओर बढ़ रहा था तथा कम्यूनल अवार्ड को लेकर मालवीय जी जैसे राष्ट्र नेता हिन्दू-राष्ट्रीयता का स्वर घोष उठा रहे थे; १९३९ में जब गान्धी-सुभाष संघर्ष के कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा पर निरन्तर चोटें की जा रही थीं तथा १९४७ में जब कांग्रेस के शासन की बागडोर संभाल लेने पर; अन्दर और बाहिर के दोनो दल एक दूसरे से बहुत दूर हो चले थे, यहां तक तत्का-त्कालीन राष्ट्रपति आचार्य कृपालानी ने विक्षुब्ध होकर गद्दी त्याग दी थी तब बिहाररत्न राजेन्द्रबाबू ने ही देश और कांग्रेस की प्रतिष्ठा की रक्षा की थी। और फिर जब विनाशकारी भूकम्प के कारण उनका अपना प्रान्त तड़प रहा तब और अभी भारत जन-तंत्र के विधान का निर्माण करने वाली विधान-परिषद् में उन्होंने जिस कुशलता और सद्भावना के साथ सबका आदमी बन कर काम किया, वह उनकी विलक्षण सूझ-बूझ और शक्ति का परिचायक है। यह शक्ति उन्हे गान्धी के सेवामार्ग से प्राप्त हुई।

लोग कहते हैं राजेन्द्रबाबू गान्धीजी के अन्ध भक्त हैं। एक बार उन्होंने बड़े गर्व से इस आक्षेप को अपना गुण माना था। वे निस्सन्देह गान्धी जी के निकटस्थ साथी और भक्त रहे हैं और उन्हें गान्धी नीति का सुमधुर परिणाम कहा जा सकता है। जैसा कि बड़े नेहरू ने एक बार कहा भी था कांग्रेस में गान्धी-नीति के अनेकों आचार्य हैं और उनके आचार्यत्व में शंका नहीं की जा सकती पर इतना निस्सदेन्ह कहा जा सकता है कि गान्धी-नीति को जीनेवाले बहुत कम हैं। उन बहुत कम लोगों में ही राजेन्द्र बाबू हैं पर उनको मात्र गान्धी-नीति का ही परिणाम कहना अन्याय होगा। वस्तुतः गान्धी मार्ग के लिये जिस स्वभाव और साधना की आवश्यकता होती हैं राजेन्द्रबाबू उसी स्वभाव और साधना का मूर्त रूप हैं। गान्धी-नीति से कहीं अधिक उनकी सफलता का श्रेय इस स्वभाव और साधना को है। इस दृष्टि से वे केवल ठेठ भारती ही नहीं हैं बल्कि भारत की ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि है, वे भारतीय मानस के सुन्दर प्रतीक हैं। दमे ने उनके शरीर को झकझोरा है परन्तु उनके मानस को वह ऊपर ही उठा सका है।

यद्यपि वे शान्त हैं और नाटकीयता उनके लिये विदेशी है पर तो भी वे अपने विश्वासों की सीमा जानते हैं। कोई शक्ति, कोई प्रलोभन

उन्हें अपनी मान्यता से विचलित नहीं कर सकते। इन्हीं गुणो के कारण वे शासन में ऊंचे से ऊंचे पद पर रह चुके हैं। अब सर्वतंत्र स्वतंत्र भारत के सब से पहिले राष्ट्रपति भी वे ही बनने जा रहे हैं। यह एक अपूर्व गौरव है, महत्ता की चरम सीमा है परन्तु इस महत्ता का कारण मात्र उनका मस्तिष्क ही नहीं है उनका हृदय भी है; हृदय कुछ अधिक है। सच पूछा जाय तो उनकी महत्ता हृदय और मस्तिष्क के अद्‌भुत समन्वय और सन्तुलन का स्वाभाविक परिणाम है।

राजेन्द्रबाबू एक सुन्दर भावनाशील लेखक हैं पर फिर भी वे न कवि हैं न कथाकार ! परन्तु जहां उन्होंने "खण्डित भारत" जैसी गवेषणा पूर्ण पुस्तक लिखी है वहां अपनी आप बीती (आत्मकथा) भी लिखी है। उनकी आत्मकथा के प्रत्येक पन्ने से विनम्रता और साधुता, सरलता और सौम्यता, स्नेह और स्निग्धता, उमडी पड़ती है। अपने भाई के पौत्र की मृत्यु पर विवश से वे लिखते है, "इन बच्चो को चले जाना ही होता है तो आते ही क्यों है।" पुत्रवधू अचानक चल बसी और वे घर तक नहीं जा सके।' उन्हींके शब्दो में "मै पटना जिले के गावों में हिन्दू-मुस्लिम दंगा रोकने में लगा रहा। जहा इतने लोग मारे गये थे और इतने घरो मे शोक और कोलाहल था वहां अपना शोक एक प्रकार से शर्मा कर दब सा गया।" विनम्रता और सरलता का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या होगा कि जब कि विधान-परिषद् के अध्यक्ष चुने गये तो उन्होंने लिखा—"यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया जैसा अभी तक रहा है तो ईश्वर चाहेगा तो विधान-परिषद् के अध्यक्ष का काम भी किसी तरह चला ले आऊँगा।" गोखले की समिति का सदस्य बनने के लिये उन्होंने अपने बड़े भइया को जो पत्र लिखा था वह विचार और भावना की दृष्टि से साहित्य की सम्पत्ति है। वह वस्तुतः राजेन्द्रबाबू का वास्तविक चित्र है।

राजेन्द्रबाबू अजातशत्रु है, लोकप्रिय है पर फिर भी उनके चारो ओर शोर नहीं उठता। नेहरू की तरह जनता उनके दर्शनों को नहीं उमड़ती। लेकिन वे किसी के लिये दुर्लभ नहीं है। बावजूद उनके जागरूक मंत्रियो के उनके पास जाना बड़ा सरल है। इसलिये उनके चारों ओर जो शक्ति है उसमें अपनत्व है समीपता है। नेहरू के जय जयकार मे दूरी है, नेहरू के पास पहुंचना प्रायः असम्भव है। नेहरू, पटेल, राजाजी ये सब बड़े है पर राजेन्द्रबाबू बड़े होने के साथ साथ अच्छे भी है ऐसे अच्छे जैसी मां होती है। सन्तान मा की जय नहीं पुकारती, उसके प्रेम का शोर भी नही मचाती। वह तो उसकी गोदी में बैठ कर मचलती है।

फिर भी यह बात नहीं कि लोगों को राजेन्द्रबाबू से कोई शिकायत नहीं है। वे कहते हैं राजेन्द्रबाबू इतने भोले क्यों हैं? तर्क किया जा सकता है कि भोले न बने तो दूसरे को समझें कैसे और फिर ठगे जांय ऐसे भोले वे नहीं हैं। भोले बन कर विरोधी को ठगने वाले हैं और अपना बनानेवाले हैं। विरोधी के लिये यह बात ठीक है पर उसमें कोई सन्देह नहीं कुछ अपने लोग उनके भोले स्वभाव का लाभ उठा कर उन्हें ठग ले जाते हैं। चन्द्रमा के कलंक की तरह उस कमजोरी को, जो उनकी शक्ति भी है, हमें सहना ही चाहिये। उन पर एक और आक्षेप है कि उनका दृष्टिकोण सीमित है। हो सकता है यह आक्षेप ठीक हो पर समझने की बात यह है कि ग्रामीण (वास्तविक) भारत का प्रतिनिधि अपने दृष्टि कोण को व्यापक बना कर चले तो क्या जनता से दूर नहीं पड़ जावेगा। उसे साथ रखने को ही वे पीछे रहते हैं। इसी कारण अपने प्रान्त में वे जितने लोकप्रिय हैं उतना कोई नेता किसी प्रान्त में नहीं हैं। फिर भी वे समाज सुधारक रहे हैं। बिहार जैसे पिछड़े प्रान्त में उन्होंने अपनी पत्नी को परदा त्याग कर बाहिर आन्दोलन करने की प्रेरणा दी थी। उन्होंने स्वय डा० गणेशप्रसाद के घर, जिन्हें इंगलैण्ड यात्रा के कारण जातिबहिष्कृत कर दिया गया था, भोजन करके प्रान्त भर में तूफान पैदा कर दिया था।

लेकिन एक बात सबको समझ लेनी है कि वे जानबूझ कर कुछ नहीं करते वे जो कुछ हैं स्वभाव से हैं। यही उनकी सब से बड़ी शक्ति है। इसी में उनकी महत्ता है। इसीमें उनकी सफलता है। वे मनुष्य की क्षुद्रताओं से बहुत ऊंचे हैं। उनके बाहिर भीतर सब एक हैं। उनका चरित्र गंगा की तरह पवित्र, उनकी देशभक्ति हिमालय की भांति महान् और उनकी प्रतिभा आकाश के समान विस्तृत है। उनके हाथों में का सब कुछ सुरक्षित है।

रचनात्मक शांतिवाद

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

भारत में गणराज्य-स्थापना का अवसर एक ऐसा अवसर है जब यहां की जनता को एकबार फिर विश्व-शान्ति में योग देने का संकल्प करना चाहिए।

युद्ध का अंत करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उस दानवी अस्त्र का अंत करें, जो शक्तिशाली राष्ट्रों के शस्त्रागार को वैज्ञानिको की नवीनतम देन है। अणु बम के रूप में वैज्ञानिको ने एक संहारकारी पिशाच को जन्म दिया है और आज इस नाशक शस्त्र की तैयारी के लिए ससार के बडे-बडे राष्ट्रों में होड लगी हुई है। मार्के की बात तो यह है कि जहां एक ओर इस प्रकार की होड़ लगी हुई है वहां दूसरी ओर यह प्रचार किया जा रहा है कि यह नया घातक शस्त्र शान्ति का सहायक है, क्यो कि इसकी भयंकरता कुकर्मी राष्ट्रों को एक दूसरे को चुनौती देने से रोकेगी और साथ ही साथ उन्हें समराग्नि में कूदने से भी बचायेगी। इसके अतिरिक्त यह भी प्रलोभन दिया जाता है कि अणु के शोधस्वरूप उसके अनेकानेक रचनात्मक उद्योगों का भी पता लग सकेगा। ये तर्क ठीक नहीं जंचते क्यो कि युद्ध की स्पर्द्धात्मक तैयारी करते समय सभी लोग यही कहा करते हैं कि इन तैयारियो से युद्ध रुकेगा। अणु में कीटाणु-युद्ध की समस्त भयंकरताएं समाविष्ट हैं और साथ-ही-साथ उसमें तात्कालिक और व्यापक संहार की एक ऐसी शक्ति निहित है जो पहले की युद्ध-प्रणालियो में नहीं थी। इसमें उन वीरतापूर्ण भावनाओं और चमत्कारो के लिए स्थान नहीं जो पुरानी युद्ध-प्रणालियों की विशेषताएं थीं। आज के राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति अतिशय अविश्वास और भय की भावना भरी हुई है।

यदि वैज्ञानिकों को अणु की शक्ति में विश्वास है और वे उसके आधार पर कार्य करना चाहते हैं, तो आवश्यकता इस बात की है कि दूसरे लोग आत्मा में विश्वास करें और उसी आधार पर कार्य करें। जहां एक ओर शक्ति में विश्वास करने वाले लोग 'सर्वोच्च सत्ता' के अस्तित्व में विश्वास न करते हुए अपने ही ढंग पर कार्य करते हैं, वहां दूसरी ओर के लोग

जिन्हें यह विश्वास है कि समाज के हित अथवा अहित के लिए मानव चाहे जैसी कोई भी रासायनिक अथवा भौतिक शक्ति क्यों न उपलब्ध करें इन सब के ऊपर एक उच्च सत्ता का नियंत्रण है, उन्हें चाहिए कि वे प्रभु-प्रार्थना की शक्ति पर भरोसा रखते हुए कार्य करें। भक्तों को सदा यह विश्वास है कि किसी न किसी रूप में सत् की ही विजय होगी। हमें उसी विश्वास का सहारा लेना चाहिए। यही विश्वास तो अनन्त काल से मानव-समाज का रक्षण और पोषण करता आया है।

भारत का जो कोई भी व्यक्ति--चाहे वह दार्शनिक हो, चाहे राजनीतिज्ञ या कोई और--विश्व-शांति की बात करेगा तो उससे सबसे पहले यही प्रश्न किया जायेगा--"आप काश्मीर के बारे में क्या कहते हैं ? और भारत और पाकिस्तान के बारे में आपकी क्या राय है?"

भारत ने काश्मीर में आक्रमण के लिए प्रवेश नहीं किया। जब निश्शस्त्र काश्मीरियों पर सहसा पठानों ने हमला बोल दिया तो काश्मीर ने भारत से सहायता की अपील की। ऐसी दशा में उसकी प्रार्थना को स्वीकार करना भारत का कर्तव्य था। इसके बाद पता चला कि पाकिस्तान भी लुक-छिपकर काश्मीर में प्रवेश कर रहा है। इसके फलस्वरूप एक साधारण रक्षात्मक प्रबन्ध ने दो उपनिवेशों के बीच जटिल युद्ध का रूप धारण कर लिया। पाकिस्तान से फिर युद्ध करने की बात भारत को नापसंद है। युद्ध से बचने के लिए वह बहुत कुछ करने को तैयार है, चाहे उसकी इस नीति के कारण पाकिस्तान को कूटनीतिक लाभ ही क्यों न पहुँचे।

संसार में शान्ति स्थापित करने और मानव समाज को युद्ध के भय से मुक्त करने का एकमात्र उपाय एक ऐसे संयुक्त विश्व-शासन की स्थापना करना है जिसमें युद्ध अधिक से अधिक विद्रोह या नागरिक जुर्म का रूप ले सके। उस विश्व-सरकार में इतना होना चाहिए कि वह शांति को भंग करनेवालों को दण्ड दे सके। शांतिवाद का इतना पतन नहीं होने देना चाहिए कि वह अन्याय या आक्रमण के समक्ष सिर झुकाने के सिद्धांत में परिवर्तित हो जाय। और न हमें युद्ध के स्थान पर किसी ऐसी विरोध-प्रणाली को स्थान देनेकी कल्पना करनी चाहिए जो रक्तहीन होती हुई भी युद्ध से कम कष्टकारी न हो। हमें केवल रक्तपात नहीं बल्कि सब प्रकार की मानवी यातनाओं को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका एकमात्र उपाय वही विश्व-सरकार होगी जो समस्त झगड़ों को शांतिपूर्ण युक्तियों से उचित अदालतों द्वारा तय कराने की व्यवस्था करेगी। उस अदालत के निर्णय

को—चाहे वह ठीक हो या गलत—उसी तरह स्वीकार करना होगा जिस तरह हम युद्ध के अंतिम परिणाम को स्वीकार करते हैं, चाहे उससे हमें गहरी शक्ति ही क्यों न पहुंची हो। स्वतंत्र पंच-फैसले के सिद्धांत को गांधीजी ने बराबर अपनी अहिंसा-योजना का आवश्यक अंग कहकर पुकारा था।

विश्व-संघ की स्थापना के लिए केवल प्रत्यक्ष प्रकार से लाभ नहीं हो सकता। आज हर राष्ट्र में अपनी स्वतंत्र सार्वभौमता की एक लहर-सी दौड़ गई है। इस सार्वभौमता में कमी करने की चर्चा करते समय सभी राष्ट्र दूसरों की बात सोचते हैं, अपनी नहीं और सम्भवतः ये वादविवाद राजनैतिक दलबदी का रूप ले लेते हैं। अतः विश्व-संघ की स्थापना में योग देने वाला सबसे पहला रचनात्मक कदम यह होगा कि किसी न किसी ढग के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य आरम्भ करें जिनमें विश्व के समस्त राष्ट्रों का सयुक्त योग हो। उदाहरण के लिए एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय पुल, या महान् अन्तर्राष्ट्रीय अस्पताल या कालेज या अजायबघर की स्थापना। यदि एक ऐसा उच्च कोटि का विश्व-व्यापी समाचार पत्र निकाला जाय जो जल्दीसे जल्दी संसार के विभिन्न देशों में पहुंचाया जा सके, जिसके संवाद-दाता विश्व के कोने-कोने में फैले हों और जिसका एकमात्र ध्येय विश्व-सघ की स्थापना हो, तो उससे इस सत्कार्य में जितनी सहायता मिल सकती है उतनी उन कार्यों से नहीं मिल सकती जो आज किये जा रहे हैं।

विश्व-शांति जैसे महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ये युक्तियाँ छोटी छोटी मालूम हो सकती हैं, किंतु मैं विश्वास करता हूं कि एकसाथ मिल कर किये जाने वाले छोटे-छोटे कार्य आगे चल कर जल्दी ही बढ़ जायेंगे, वे राष्ट्रीय द्वेषों और भय की दीवारों को तोड सकेंगे और महत्तर कार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त कर देंगे।

[हिन्दुस्तान से]

गान्धी जी के देश का कर्त्तव्य

विश्व-शान्ति सम्मेलन के आयोजन का विचार महात्मा गान्धी के जीवन काल में ही हुआ था और उन्होंने भारत में इसके लिये आयोजन करने का आदेश दिया था; पर दुर्भाग्यवश यह उस समय नहीं हो सका। उनके स्वर्गवास के बाद सोचा गया कि इसका करना अब और भी आवश्यक हो गया, यद्यपि उनकी वाणी सम्मेलन को सुनने को न मिलेगी। इस सम्मेलन में ऐसे लोग आमंत्रित किये गये हैं और वे संसार के ३४ देशों से आये हैं। इसका पहिला अधिवेशन १ दिस० से ८ दिस० तक शान्ति-निकेतन में हुआ और दूसरा सेवाग्राम में २४ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर तक। जो लोग सम्मेलन में आये हैं, वे विश्व-शान्ति के पुजारी हैं और अपने अपने देश में बहुतेरो ने अपनी इस धारणा के लिये सत्याग्रह करके अनेक प्रकार के कष्ट सहे हैं। संसार आज युद्ध से ऊब गया है पर उसे अभी भी उससे बचने का कोई रास्ता नहीं दीखता। इसलिए वह चारों तरफ इस खोज में आंखें दौड़ा रहा है कि कोई भी ऐसा रास्ता निकले, जो इस अभिशाप से उसे मुक्त कर सके।

आज उसकी आंखें बहुत करके गांधी जी और उनके सिद्धान्तों की ओर लगी हुई है और वे इस देश में इसी आशा से आये है कि यद्यपि गान्धी जी के दर्शन न भी मिलेंगे तो भी उनकी कृतियो और कार्यों को देख कर वे प्रेरणा ले सकेंगे और अधिक दृढ़ संकल्प होकर अपने अपने स्थानों को लौटेंगे तथा काम करेंगे। गान्धी जी के देश का अब यह कर्त्तव्य है कि यथासाध्य वह इस महान् उद्देश्य की सिद्धि में जो कुछ उससे हो सके करे।

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

शान्ति और रचनात्मक कार्यक्रम

श्री जे० सी० कुमारप्पा

मौजूदा लड़ाइयों के कारणों को यदि हम गहराई से ढूंढ़े तो पता लगेगा कि कुदरती संपत्ति या साधन पर कब्जा पाना और उससे आर्थिक लाभ उठाना यही सब लड़ाइयों की जड़ में है। जब कोई राष्ट्र केंद्रित उत्पादन पर जोर देता है तब उसके लिये तो इस प्रकार कुदरत के साधन-संपत्ति पर कब्जा पाना निहायत जरूरी हो जाता है। क्योंकि वैसी अवस्था में उसका उत्पादन एक ओर रहता है, उसके लिये आवश्यक कच्चा माल तथा यांत्रिक शक्ति का जरिया दुनिया के सुदूर कोनों से प्राप्त करना होता है और तैयार माल भी दूर-दूर के देशों में खपाना पड़ता है। इस आर्थिक अवस्था में उत्पादन, वितरण और उपभोग एक ही हुकूमत के नीचे होना जरूरी रहता है। भौगोलिक दृष्टि से यदि ये तीनो क्षेत्र अलग-अलग हों तो उन्हें एक ही हुकूमत के नीचे लाना और भी जरूरी हो जाता है ताकि तीनों जगह एक ही नीति, एक ही ध्येय से बरती जावे। यह साध्य करने का सब से आसान तरीका यही है कि जोर-जबरदस्ती से इन तीनों क्षेत्रों को एक ही हुकूमत के नीचे लाया जाय।

इसलिए यदि हम सचमुच लड़ाइयों में होनेवाले नुकसान और हत्या को टालना चाहते हैं तो हमें दिलोजान से इस आर्थिक समस्या का हल निकालना होगा। लड़ाइयां, आर्थिक स्पर्धा—लालच और विभिन्न चीजों पर कब्जा पाने की होड का परिपाक ही है। इस लिये इन लड़ाइयों को यदि हमें टालना है तो हमें इन कारणों को दूर करना होगा। ऐसा करने में उत्पादकों और वितरकों का तो कुछ-कुछ संबंध आयगा ही, पर उपभोक्ताओं का सबसे ज्यादा संबंध आवेगा, क्योंकि वे अधिक तादाद में रहते हैं। फिलहाल समाज के पहले दो वर्गों ने हर देश की सरकारों पर अपनी काफी धाक जमा रखी है ताकि जोर-जबरदस्ती से वे अपने उत्पादनों के लिये बाजार निर्माण कर सकें। वे ऐसा रवैया अख्तियार करेंगे कि चाहे वे युद्ध के लिये उत्पादन करें चाहें शान्ति के लिये, उनकी पांचों अंगुलियां घी में ही रहें, और शान्ति के काल में भी वे अपना उत्पादन इस तरह संघठित करते रहेंगे कि लड़ाई छिड़ने पर वे फौरन लड़ाई के लिये आवश्यक शस्त्र

तथा साहित्य बनाने लग सकें। इस किस्मकी व्यवस्था कायम रखना इन लोगों की हस्ती के लिये निहायत जरूरी है। इसलिए ये स्वेच्छा से इस व्यवस्था में कोई रद्दोबदल करेंगे यह सोचना बेकार है।

बहुत से लोग लड़ाइयां न हों यह दि ोजान से चाहते हैं, पर वे यह नहीं महसूस करते कि उनका दैनिक जीवन ही इन लड़ाइयों की जड़ है और इस रोजमर्रा की जिन्दगी में ही काफी रद्दोबदल करना उनके युद्ध-विरोधी कार्यक्रम में एक मद होनी चाहिये। हमारा शांततावाद और युद्ध विरोध बंद इधर-उधर की लड़ाइयों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये, पर उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन में जो हिंसा निर्माण करनेवाली बातें हैं उन तक पहुंच जाना चाहिये। इसके लिये हमें बहुत सी उपभोग्य वस्तुओं के इस्तेमाल पर अंकुश रखना होगा, और ऐसी ही चीजों तक उसे सीमित रखना होगा जिनके उत्पादन में, वितरण में और उपभोग में किसी को अन्याय या नुकसान न पहुंचता हो।

बहुत से लोग लड़ाई से नफरत करते हैं, पर वे यह नहीं समझते कि उनकी रोजमर्रा की जीवनी के मार्फत वे ऐसी शक्ति निर्माण कर रहे हैं कि जो आगे चल कर लड़ाई का कारण बन जायगी। लड़ाइयां अकस्मात उपस्थित नहीं होतीं। मिसाल के लिये हम ऐसा नहीं कह सकते कि पहले और दूसरे विश्व-युद्ध के बीच के बीस साल 'शांति' के थे। उन दिनों दूसरे विश्व युद्ध की तैयारी हो रही थी। सच्ची शांति का तभी निर्माण हो सकता है जब हम हमारे रोजमर्रा के जीवन में से लड़ाई के कारण हटा दें। ऐसा हम जब तक नहीं करते तब तक हमारी तथाकथित शांति लड़ाई की सुप्तावस्था ही है। हमारे रोजमर्रा के जीवन में के लड़ाई के बीज का नाश कर देने से ही सच्ची शांति स्थापित होगी।

सच तो यह है कि हमारी अपनी तथाकथित शांतिमय गृहस्थियां चलाने के तरीकों में ही लड़ाई की जड़ें छिपी हुई हैं। दुनिया के सुदूर कोने में बनी हुई चीजों का जब तक हम अपने अपने घरों में इस्तेमाल करते रहेंगे, हम एक किस्म से लड़ाई को न्यौता ही देते रहेंगे। हमारे खाद्य पदार्थों की सूची का मांद हम विवेक से परीक्षण करें तो हम देख सकेंगे कि हम विश्व-शांति के पक्ष में है या विपक्षमें।

जब हम इस दृष्टि से सोचने लग जाते हैं तब हमें एक तैयार कार्यक्रम-मिल जाता है। और दुनिया में शांति कायम करने की जिम्मेदारी दुनिया के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के सिरों से हट कर मामूली नागरिकों के सिरों पर आ पड़ती है। यदि यह जिम्मेदारी मामूली नागरिक महसूस करने लग

जायें तो ही समय-समय पर छिड़ने वाले जंग बंद होंगे, अन्यथा ये जंग इन्सान को दुनिया से नष्ट कर देंगे। (मामूली नागरिकों को यह जिम्मेवारी महसूस करने के लिये उनमें आत्मानुशासन पैदा करना होगा।) इसके लिये आज का 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' का कार्यक्रम रद्द कर देना होगा। विश्व-शांति कायम करने के लिये गांधीजी ने यही रास्ता बताया था। उन्होंने जो कार्यक्रम बनाया था, और जो आजकल रचनात्मक कार्यक्रम के नाम से पुकारा जाता है, उसका मकसद यही था। अपने रोजमर्राके जीवन में सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए एक अदना से अदना नागरिक विश्वशांति के लिये ऐसा अनुकूल वातावरण बनायेगा जैसा कि सुरक्षा के तहनामें और उत्तरोत्तर निरस्त्रीकरण नहीं बना सकेंगे।

हमें उम्मीद है कि जो लोग दिलोजान से विश्व-शांति चाहते हैं वे इस सकरे मार्ग की कठिनाइयों से नहीं घबड़ायेंगे। जो लोग आये दिन विश्व-शांति कायम करने का दम भरा करते हैं उनमें से देखना है कि कितने इस कार्यक्रम को अपनाते हैं।

"जब सारी दुनियां आग में झुलस रही थी तब गान्धीजी अपने सिद्धान्तों पर चट्टान की तरह अडिग रहे, तनिक भी न झुके, न विचलित हुए और जब वे मृत्यु की बलिवेदी पर शहीद हो गए तो सारी दुनियां स्तम्भित हो गई, रोई और शोक में डूब गई क्यों कि देश देशान्तर के लोगों ने यह महसूस किया कि एक महान् नैतिक शक्ति जो उनके और विपत्ति के बीच दीवाल बन कर खड़ी रहती थी अब इस संसार में नहीं रही।.... दुनिया बहुत तेजी से बदल रही है। प्रत्येक देश में नई नई समस्याएं खड़ी हो रही हैं और उनको हल करने के लिए नये-नये उपायों का आश्रय लिया जा रहा है। अहिंसा और असहयोग का सर्वोत्तम सिद्धान्त अब भी कायम है। और गान्धीजीने हमें सबसे आवश्यक जो शिक्षा दी है वह निर्भयता है।"

—डॉ० कैलाशनाथ काटजू

[शान्ति सम्मेलन शान्तिनिकेतन के स्वागत भाषण से]

साम्राज्यवाद और विश्वशान्ति

स्वामी सत्यभक्त

विश्वशान्ति को नष्ट करने में सब से बड़ा कारण साम्राज्यवाद है, पुराने जमाने में भी, और आज भी। पर आज के साम्राज्यवाद में दम्भ और शोषण बढ़ गया है और समन्वय घट गया है। पुराने जमाने के साम्राज्यवादी जहाँ जाते थे वहीं बस जाते थे इससे देश की आर्थिक अवस्था बिगड़ नहीं पाती थी और कुछ दिनों बाद जब वहीं घुलमिल जाते थे तो साम्राज्यवाद प्रायः समाप्त हो जाता था। आज के साम्राज्यवाद में इस प्रकार जनता का सम्मिलन नहीं होता; सम्पत्ति देश के बाहर खींची जाती है; शासन कार्य शोषण का सहायक बना दिया जाता है और अब तो हालत यह है कि बिना शासन के भी पूँजी का साम्राज्यवाद खड़ा किया जाता है। कहने के लिये शासन सत्ता देशवासियों के पास रहती है पर पूँजी के जाल में फँस कर वे गरीब और गुलाम बने रहते हैं। इससे विश्व-शान्ति तो भंग होती ही है, पर साथ ही विश्व-शान्ति के भंग का एक जबर्दस्त कारण यह उपस्थित हो जाता है कि शोषण के लिये अनेक बलवान देशों में प्रतिस्पर्द्धा होने लगती है। वे अपने अपने गुट्ट बनाते हैं और मौका पाकर लड़ पड़ते हैं, इससे सारी दुनिया में आग लग जाती है। सन १४–१८ का महायुद्ध इसी कारण हुआ था, ३९।४५ का महायुद्ध भी इसी कारण हुआ, और तीसरे महायुद्ध के लिये भी ऐसे ही कारण मिल रहे हैं। अगर हम इन युद्धों की जड़ उखाड़ना चाहते हैं तो हमें निम्नलिखित नीति से काम लेना चाहिये।

किसी भी देश की जनता या सरकार, किसी दूसरे देश पर राजनीतिक या आर्थिक प्रभुत्व न रक्खे।

आजकल राजनीतिक या आर्थिक प्रभुत्व रखने के लिये ट्रस्टीशिप का रिवाज चला है, यह पूरा दंभ है। ट्रस्टीशिप की अगर कहीं जरूरत हो तो उसकी पूर्ति तभी हो सकती है जब हमारे पास एक ऐसी अन्ताराष्ट्रीय संस्था हो जो राष्ट्रीयता के पक्षपात से परे हो। जिसके पास ऐसे कार्यकर्ता हों जो अपने को किसी राष्ट्र का न मानते हों, सिर्फ मानवराष्ट्र का मानते हों। वे किसी राष्ट्र की तरफ से नहीं, किसी राष्ट्र के स्वार्थ के लिये नहीं, सिर्फ मानवता की दृष्टि से वहाँ काम करें। आज हमारे पास न ऐसी संस्था है, न ऐसे आदमियों को हम ढूँढ पाये या बना पाये हैं, इसलिये आज

ट्रस्टीशिप सफल नहीं हो सकती। हाँ, इसके लिये हमें प्रयत्न करना है। वैसी संस्था बनाना है वैसे आदमी ढूंढ़ना है।

पिछड़ी हुई जातियों के आर्थिक विकास के लिये ऐसे नये काम करना चाहिये जिससे आसपास के लोगों की जीविका को धक्का न लगे। अर्थोत्पादन के जो कार्य वहाँ बढ़ाये जायँ उनमें आसपास के लोगों को भी इस प्रकार शामिल कर लेना चाहिये जिससे उनकी भी जीविका चल सके। यह काम पूंजीपतियों के द्वारा नहीं किन्तु उस देश की सरकार के द्वारा होना चाहिये, जिससे उनका शोषण न होने लगे। अगर ऐसी पिछड़ी जाति किसी सम्पन्न देश की सीमा में नहीं आती तो वह यह कार्य उस अन्ताराष्ट्रीय संस्था को करना चाहिये जो राष्ट्रीयता से परे है और निष्पक्ष है।

उनके साथ हमारा व्यवहार, मालिक के समान या विजेता के समान नहीं होना चाहिये। किन्तु सहयोगी या सेवक के समान होना चाहिये। उन्हे सभ्य संस्कृत और सम्पन्न बना कर हर तरह से मिला लेना है इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

कुछ लोग पिछडी जातियों में या दूसरे देशों में अपने मजहब और संस्कृति का प्रचार करते हैं। यद्यपि इस प्रकार के प्रचार करने का हर एक को अधिकार है बशर्ते कि वह शान्तिमय तरीके से किया जाय, छल बल का उपयोग इस कार्य में न किया जाय, पर आज तक इस दिशा में जो काम हुआ है उससे विश्व की अशान्ति ही बढ़ी है क्योंकि ये काम अपना राजनैतिक और आर्थिक साम्राज्य फैलाने की दृष्टि से किये गये हैं और इन प्रयत्नों से देश की जनता के टुकड़े किये गये हैं, फूट फैलाई गई है यहाँ तक कि देश के राजनीतिक टुकड़े भी किये गये हैं। इसलिये धर्म प्रचार या संस्कृति-प्रचार के ये तरीके छोड़ देने चाहिये।

राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद की छाया को भी दूर रखकर मानवता के विकास की दृष्टि से कुछ प्रचार किया जाना चाहिये। मनुष्य में संयम, सदाचार, धर्मसमभाव, जातिसमभाव, और विश्वशान्ति की भावना आदि बढ़ाने के लिये ही प्रचार होना चाहिये। इसके लिये मिशन बनाना चाहिये। पुराने धर्म इसके लिये उपयोगी नहीं हैं।

दुनिया में जहाँ खाली जमीनें पड़ी हैं उन्हें आबाद करने का हक मानव जाति को है। ऐसे स्थानो पर उन लोगों को बसाया जाय जो किसी तरह का जातिवाद या राष्ट्रवाद नहीं मानते। वहाँ का दरवाजा सब मनुष्यों के लिये खुला रहना चाहिये।

हाँ! इसमें बात का हम ख्याल रखना है कि स्थानीय लोगों की जीविका को इससे धक्का न लगे। आस्ट्रेलिया और आफ्रिका में इस तरह की

बहुत सी जमीन है जिन्हें इसी ढंग से आबाद करना चाहिये। अमेरिका महाद्वीप में भी इस प्रकार की बहुतसी गुंजाइश है।

जब तक एक मानवराष्ट्र और एक मानव भाषा नहीं बन जाती तब तक इन देशों में निम्नलिखित शर्तों के साथ प्रवासियों की व्यवस्था होना चाहिये।

क—जो लोग आयें वे पूरी तरह वहीं के नागरिक बन जायें।

ख—मूल निवासी और प्रवासी सब के नागरिक अधिकार समान हों।

ग—सब जगह सब को बसने का अधिकार हो।

घ—एशिया और यूरोप की सभ्यता संस्कृति का समन्वय हो।

ङ—प्रत्येक प्रदेश में एक एशिया की भाषा और एक यूरोप की भाषा की मुख्यता मान ली जाय।

च—रंगभेद की सीमा को तोड़ कर अन्तर्जातीय विवाहों को उत्तेजन दिया जाय।

यद्यपि हमें विश्व की एक नागरिकता बनाना है, फिर भी जब तक वह नहीं बन जाती, तब तक प्रवासियों की समस्या इस तरह हल करना है जिससे राष्ट्रों को किसी विशेष संकट में न पड़ना पड़े और न प्रवासियों के कारण राष्ट्रों के भीतर नई नई समस्याएँ खड़ी हो सकें।

भिन्न भिन्न देशों में जो जमीनें ऐसे लोगों के हाथ में हैं जो उनका ठीक ठीक उपयोग नहीं कर पाते, उन जमीनों की पुनर्व्यवस्था करनी चाहिये और वे जमीनें ऐसे कृषकों के हाथ में सौंपनी चाहिये जो उसमें अधिक से अधिक अन्न पैदा कर सकते हैं।

मनुष्य मात्र के लिये अन्न की समस्या जटिल से जटिल होती जाती है, ऐसी हालत में किसी के पास फालतू जमीन नहीं छोड़ी जा सकती।

दिव्य-साधना

क्या जग का कल्याण करोगे ?
किस बल से ?
क्या सैन्य-शक्तिका सर्जन कर ?
क्या अस्त्र-शस्त्र-बल-अर्जन कर ?
क्या तोपो का घन-गर्जन कर ?
क्या नभयानो का तर्जन कर ?

नही,
नही तुमसे यह होगा
असुर-शक्ति पर क्या विश्वास ?
क्या ज्वाला से शान्त हुआ है
कही मनुज का जलता तन ?
रक्त-धार से कही घुला है—
अरे ! रक्त-रंजित भाजन ?

*

मानवता का सच्चा दीपक
ज्ञान-वर्तिका से आलोकित
स्नेह-स्नेह से होगा पूरित
जल जल कर नव-जीवन देगा
जग की आँखे चकाचौध हो
देखेंगी उस ओर !
कितना प्रेम भरा होगा—
उस अवलोकन मे ?

सोचो तुम !
वह आत्म-शक्ति का जय होगा
वह जय नैतिक बलमय होगा
हिंसा का शान्त-विलय होगा
मावन को फिर क्यो भय होगा ?

सर्वत्र शान्ति !
सर्वत्र क्षेम !
जग मे होगा सर्वत्र-प्रेम !
जग का नव-मानस बोल उठेगा—
"धन्य, धन्य है मानव-साधक !
धन्य तुम्हारी दिव्य-साधना
धन्य तुम्हारी अमर-साधना !"

—मोहनलाल मेहता 'सिद्धान्त प्रभाकर'

विश्व-शान्तिवादी सम्मेलन और जैन परम्परा

पं० सुखलाल संघवी

[विश्वशान्तिवादी सम्मेलन के प्रतिनिधियों के स्वागतार्थ जैन सभा
कलकत्ता द्वारा आयोजित सम्मान समारोह में पठित]

मि० होरेस अलेक्जेन्डर-प्रमुख कुछ व्यक्तियो ने १९४६ मे गांधीजी के सामने प्रस्ताव रक्खा था कि सत्य और अहिंसा में पूरा विश्वास रखने वाले विश्व भर के इने गिने शान्तिवादी आप के साथ एक सप्ताह कहीं शान्त स्थान में बितावें। अनन्तर सेवाग्राम में डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के प्रमुखत्व मे विचारार्थ १९४९ मे मिली हुई बैठक में जैसा तय हुआ था तदनुसार दिसम्बर १९४९ में विश्व भर के ७५ एकनिष्ठ शान्तिवादियों का सम्मेलन मिलने जा रहा है। इस सम्मेलन के आमन्त्रणदाताओ मे प्रसिद्ध जैन गृहस्थ भी शामिल है।

जैन परम्परा अपने जन्मकाल से ही अहिंसावादी और जुदे-जुदे क्षेत्रों में अहिंसा का विविध प्रयोग करने वाली रही है। सम्मेलन के आयोजको ने अन्य परिणामो के साथ एक इस परिणाम की भी आशा रक्खी है कि सामाजिक और राजकीय प्रश्नो को अहिंसा के द्वारा हल करने का प्रयत्न करने वाले विश्व भर के स्त्री-पुरुषों का एक संघ बने। अतएव हम जैनो के लिये आवश्यक हो जाता है कि पहले हम सोचें कि शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति अहिंसावादी रूप से जैन परम्परा का क्या कर्तव्य है?

क्रिश्चियन शान्तिवाद हो, जैन अहिंसावाद हो या गांधीजी का अहिंसा मार्ग हो सब की सामान्य भूमिका यह है कि खुद हिंसा से बचना और यथासम्भव लोकहित की विधायक प्रवृत्ति करना। परन्तु इस अहिंसा तत्त्व का विकास सब परम्पराओं में कुछ अंशो में जुदे-जुदे रूप से हुआ है।

शान्तिवाद—

"Thou shalt not kill" इत्यादि बाईबल के उपदेशो के आधार पर क्राईस्ट के पक्के अनुयायिओं ने जो अहिंसामूलक विविध प्रवृत्तियों का विकास किया है उसका मुख्य क्षेत्र मानव समाज रहा है। मानव समाज की नानाविध सेवाओं की सच्ची भावना में से किसी भी प्रकार के युद्ध में, अन्य सब तरह की सामाजिक हित की जवाबदेही को अदा करते हुए भी

सशस्त्र भाग न लेने की वृत्ति का भी उदय अनेक शताब्दियों से हुआ है। जैसे-जैसे क्रिश्चियानिटी का विस्तार होता गया, भिन्न-भिन्न देशों के साथ निकट और दूर का सम्बन्ध जुड़ता गया, सामाजिक और राजकीय जबाब-देही के बढ़ते आने से उसमें से फलित होने वाली समस्याओं को हल करने का सवाल पेंचीदा होता गया, वैसे-वैसे शान्तिवादी मनोवृत्ति भी विकसित होती चली। शुरू में जहाँ वर्ग-युद्ध (class wor), नागरिक युद्ध (civil wor), अर्थात् स्वदेश के अन्तर्गत किसी भी लड़ाई-झगड़ों में सशस्त्र भाग न लेनेकी मनोवृत्ति थी वहाँ क्रमशः अन्ताराष्ट्रीय युद्ध तक में किसी भी तरह से सशस्त्र भाग न लेने की मनोवृत्ति स्थिर हुई। इतना ही नहीं बल्कि यह भी भाव स्थिर हुआ कि सम्भवित सभी शान्तिपूर्ण उपायो से युद्ध को टालने का प्रयत्न किया जाय और सामाजिक, राजकीय व आर्थिक क्षेत्रों में भी वैषम्य निवारक शान्तिवादी प्रयत्न किये जाएँ। उसी अन्तिम विकसित मनोवृत्ति का सूचक Pacifism (शांतिवाद) शब्द लगभग १९०५ से प्रसिद्ध रूप में अस्तित्व में आया।* गांधीजी के अहिंसक पुरुषार्थ के बाद तो Pacifism शब्द का अर्थ और भी व्यापक व उन्नत हुआ है। आज तो Pacifism शब्द के द्वारा हम 'हरेक प्रकार के अन्याय का निवारण करने के लिये बड़ी से बड़ी किसी भी शक्ति का सामना करने का सक्रिय अदम्य आत्मबल' यह अर्थ समझते हैं, जो विश्व शान्तिवादी सम्मेलन की भूमिका है।

जैन अहिंसा—

जैन परम्परा के जन्म के साथ ही अहिंसा की और तन्मूलक अपरिग्रह की भावना जुड़ी हुई है। जैसे-जैसे इस परम्परा का विकास तथा विस्तार होता गया वैसे-वैसे उस भावना का भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में नाना प्रकार का उपयोग व प्रयोग हुआ है। परन्तु जैन परम्परा की अहिंसक भावना, अन्य कतिपय भारतीय धर्म परम्पराओ की तरह, यावत् प्राणिमात्र की अहिंसा व रक्षा में चरितार्थ होती आयी है, केवल मानव समाज तक कभी सीमित नहीं रही है। क्रिश्चियन गृहस्थों में अनेक व्यक्ति या अनेक छोटे-मोटे दल समय-समय पर ऐसे हुए हैं जिन्होंने युद्ध की उग्रतम परिस्थिति में भी उसमें भाग लेने का विरोध मरणान्त कष्ट सहन कर के भी किया है जब कि जैन गृहस्थों की स्थिति इससे निराली रही है। हमें जैन इतिहास में ऐसा कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता जिसमें देश रक्षा के संकटपूर्ण क्षणों में आनेवाली सशस्त्र युद्ध तक की जबाबदेही टालने का या उसका विरोध करने का प्रयत्न किसी भी समझदार जबाबदेह जैन गृहस्थ ने किया हो।

*Encyclopaedia of Religion (Ed. V. Ferm, 1945) p. 555.

गांधीजी की अहिंसा–

गांधीजी जन्म से ही भारतीय अहिंसक संस्कार वाले ही रहे हैं। प्राणि-मात्र के प्रति उनकी अहिंसा व अनुकम्पा वृत्ति का स्रोत सदा बहता रहा है, जिसके अनेक उदाहरण उनके जीवन में भरे पड़े हैं। गोरक्षा और अन्य पशु-पक्षियों की रक्षा की उनकी हिमायत तो इतनी प्रकट है कि जो किसी से छिपी नहीं है। परन्तु सब का ध्यान खींचनेवाला उनका अहिंसा का प्रयोग दुनिया में अजोड़ गिनी जाने वाली राजसत्ता के सामने बड़े पैमाने पर अशस्त्र प्रतिकार या सत्याग्रह का है। इस प्रयोग ने पुरानी सभी प्राच्य-पाश्चात्य अहिंसक परम्पराओं में जान डाल दी है, क्योंकि इसमें आत्मशुद्धि पूर्वक सब के प्रति न्याय्य व्यवहार करने का दृढ़ संकल्प है और दूसरी तरफ से अन्य के अन्याय के प्रति न झुकते हुए उसका अशस्त्र प्रतिकार करने का प्रबल व सर्वक्षेमंकर पुरुषार्थ है। यही कारण है कि आज का कोई भी सच्चा अहिंसावादी या शांतिवादी गांधीजी की प्रेरणा की अव-गणना कर नहीं सकता। इसीसे हम विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के पीछे भी गांधीजी का अनोखा व्यक्तित्व पाते हैं।

निवृत्ति-प्रवृत्ति–

जैन कुल में जन्म लेने वाले बच्चों में कुछ ऐसे सुसंस्कार मातृ-स्तन्य पान के साथ बीज रूप में आते हैं जो पीछे से अनेक प्रयत्नों के द्वारा भी दुर्लभ हैं। उदाहरणार्थ–निर्मांस भोजन, मद्य जैसी नशीली चीजों के प्रति घृणा, किसी को न सताने की तथा किसी के प्राण न लेने की मनोवृत्ति तथा केवल असहाय मनुष्य को ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र को संभवित सहायता पहुंचाने की वृत्ति। जन्मजात जैन व्यक्ति में उक्त संस्कार स्वतः सिद्ध होते हुए भी उनकी प्रच्छन्न शक्ति का भान सामान्य रूप से खुद जैनों में भी कम पाया जाता है, जब कि ऐसे ही संस्कारों की भित्ति पर महावीर, बुद्ध, क्राईस्ट और गांधीजी जैसों के लोक-कल्याणकारी जीवन का विकास हुआ देखा जाता है। इसलिये हम जैनो को अपने विरासती सुसं-स्कारों को पहिचानने की दृष्टि का विकास करना सब से पहले आवश्यक है जो ऐसे सम्मेलन के अवसर पर अनायास सम्भव है। अनेक लोग संन्यास-प्रधान होने के कारण जैन परम्परा को केवल निवृत्ति-मार्गी समझते हैं और कम समझदार खुद जैन भी अपनी धर्म परम्परा को निवृत्तिमार्गी मानने मनवाने में गौरव लेते हैं। इससे प्रत्येक नई जैन पीढ़ी के मन में एक ऐसा अकर्मण्यता का संस्कार जाने अनजाने पड़ता है जो उसके जन्म-

सिद्ध अनेक कुसंस्कारों के विकास में बाधक बनता है। इसलिये प्रस्तुत मौके पर यह विचार करना जरूरी है कि वास्तव में जैन परम्परा निवृत्तिगामी ही है या प्रवृत्तिगामी भी है, और जैन परम्परा की दृष्टि से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के सच्चे माने क्या है ?

उक्त प्रश्नों का उत्तर हमें जैन सिद्धान्त में से भी मिलता है और जैन परम्परा के ऐतिहासिक विकास में से भी।

सैद्धान्तिक दृष्टि—

जैन सिद्धान्त यह है कि साधक या धर्म का उम्मेदवार प्रथम अपना दोष दूर करे, अपने आपको शुद्ध करे—तब उसकी सत्-प्रवृत्ति सार्थक बन सकती है। दोष दूर करने का अर्थ है दोष से निवृत्त होना। साधक का पहला धार्मिक प्रयत्न दोष या दोषों से निवृत्त होने का ही रहता है। गुरु भी पहले उसी पर भार देते हैं। अतएव जितनी धर्म प्रतिज्ञायें या धार्मिक व्रत हैं वे मुख्यतया निवृत्ति की भाषा में हैं। गृहस्थ हो या साधु, उसकी छोटी-मोटी सभी प्रतिज्ञायें, सभी मुख्य व्रत दोषनिवृत्ति से शुरू होते हैं। गृहस्थ स्थूल प्राणिहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल परिग्रह आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है और ऐसी प्रतिज्ञा निबाहने का प्रयत्न भी करता है। जब कि साधु सब प्रकार की प्राणहिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेकर उसे निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। गृहस्थ और साधुओं की मुख्य प्रतिज्ञा निवृत्तिसूचक शब्दों में होने से तथा दोष से निवृत्त होने का उनका प्रथम प्रयत्न होने से सामान्य समझवालों का यह ख्याल बन जाना स्वाभाविक है कि जैन धर्म मात्र निवृत्तिगामी है। निवृत्ति के नाम पर अवश्यकर्तव्यों की उपेक्षा का भाव भी धर्म संघों में आ जाता है। इसके और भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो मानव प्रकृति में प्रमाद या परोपजीविता रूप विकृति का होना और दूसरा बिना परिश्रम से या अल्प परिश्रम से जीवन की जरूरतों की पूर्ति हो सके ऐसी परिस्थिति में रहना। पर जैन सिद्धान्त इतने में ही सीमित नहीं है। वह तो स्पष्टतया यह कहता है कि प्रवृत्ति करे पर आसक्ति से नहीं अथवा अनासक्ति से—दोष त्याग पूर्वक प्रवृत्ति करे। दूसरे शब्दों में वह यह कहता है कि जो कुछ किया जाय वह यतनापूर्वक किया जाय। यतना का अर्थ है विवेक और अनासक्ति। हम इन शास्त्राज्ञाओं में स्पष्टतया यह देख सकते हैं कि इनमें विरोध त्याग या निवृत्ति के जो विधान हैं वह दोष के निषेध का, नहीं कि प्रवृत्ति मात्र के निषेध का। यदि प्रवृत्तिमात्र के त्याग का विधान होता तो यतना-पूर्वक जीवन प्रवृत्ति

करने के आदेश का कोई भी अर्थ नहीं रहता और प्रवृत्ति न करना इतना मात्र कहा जाता।*

दूसरी बात यह है कि शास्त्र में गुप्ति और समिति—ऐसे धर्म के दो मार्ग हैं। दोनों मार्गों पर बिना चले धर्म की पूर्णता कभी सिद्ध नहीं हो सकती। गुप्ति का मतलब है दोषों से मन, वचन, काय को विरत रखना और समिति का मतलब है विवेक से स्वपरहितावह प्रवृत्तियों को करते रहना। सत्प्रवृत्ति को सत्प्रवृत्ति बनाए रखने की दृष्टि से जो असत्प्रवृत्ति या दोष के त्याग पर अत्यधिक भार दिया गया है उसी को कमसमझ-वाले लोगों ने पूर्ण मान कर ऐसा समझ लिया कि दोष निवृत्ति से आगे फिर विशेष कर्त्तव्य नहीं रहता। जैन सिद्धान्त के अनुसार सच बात तो यह फलित होती है कि जैसे-जैसे साधना में दोषनिवृत्ति होती और बढ़ती जाए वैसे-वैसे सत्प्रवृत्ति की बाजू विकसित होती जानी चाहिए।

जैसे दोषनिवृत्ति के सिवाय सत्प्रवृत्ति असम्भव है वैसे ही सत्प्रवृत्ति की गति के सिवाय दोषनिवृत्ति की स्थिरता टिकना भी असम्भव है। यही कारण है कि जैन परम्परा में जितने आदर्श पुरुष तीर्थंकर रूप से माने गए हैं उन सभी ने अपना समग्र पुरुषार्थ आत्मशुद्धि करने के बाद सत्प्रवृत्ति में ही लगाया है। इसलिए हम जैन अपने को जब निवृत्तिगामी कहें तब इतना ही अर्थ समझ लेना चाहिए कि निवृत्ति यह तो तुम्हारी यथार्थ प्रवृत्तिगामी धार्मिक जीवन की प्राथमिक तैयारी मात्र है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो भी ऊपर की बात का ही समर्थन होता है। शरीर से भी मन और मन से भी चेतना विशेष शक्ति-शाली या गतिशील है। अब हम देखें कि अगर शरीर और मन की गति दोषों से रुकी, चेतना का सामर्थ्य दोषों की ओर गति करने से रुका, तो उनकी गति-दिशा कौन सी रहेगी? वह सामर्थ्य कभी निष्क्रिय या गतिशून्य तो रहेगा ही नहीं। अगर उस सदा-स्फुरत् सामर्थ्य को किसी महान् उद्देश्य की साधना में लगाया न जाय तो फिर वह ऊर्ध्वगामी योग्य दिशा न पाकर

---

* यद्यपि शास्त्रीय शब्दोंका स्थूल अर्थ साधु-जीवनका आहार, विहार, निहार सम्बन्धी चर्चा तक ही जान पड़ता है पर इसका तात्पर्य जीवनके सब क्षेत्रों की सब प्रवृत्तियों में यतना लागू करने का है। अगर ऐसा तात्पर्य न हो, तो, यतना की व्याप्ति इतनी कम हो जाती है कि फिर वह यतना अहिंसा सिद्धान्त की समर्थ बाजू बन नहीं सकती। समिति-शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सब प्रवृत्तियों से है, नहीं कि शब्दों में गिनाई हुई केवल आहार विहार निहार जैसी प्रवृत्तियों में।

पुरानें वासनामय अधोगामी जीवन की ओर ही गति करेगा। यह सर्वसाधारण अनुभव है कि जब हम शुभ भावना रखते हुए भी कुछ नहीं करते तब अन्त में अशुभ मार्ग पर ही आ पड़ते है। बौद्ध, सांख्य-योग आदि सभी निवृत्तिमार्गी कही जाने वाली धर्मपरम्पराओं का भी वही भाव है जो जैन-धर्म-परम्परा का। जब गीता ने कर्मयोग या प्रवृत्तिमार्ग पर भार दिया तब वस्तुतः अनासक्त भाव पर ही भार दिया है।

निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की। ये जीवनके सिक्के की दो बाजुएँ है। पूरक का यह भी अर्थ नहीं है कि एक के बाद दूसरी हो, दोनों साथ न हों, जैसे जागृति व निद्रा। पर उसका यथार्थ भाव यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती रहती है भले ही कोई एक अंश प्रधान दिखाई दे। मन में दोषों की प्रवृत्ति चलती रहने पर भी अनेक बार स्थूल जीवन में निवृत्ति दिखाई देती है जो वास्तव में निवृत्ति नहीं है। इसी तरह अनेक बार मन में वासनाओं का विशेष दबाव न होने पर भी स्थूल जीवन में कल्याणावह प्रवृत्ति का अभाव भी देखा जाता है जो वास्तव मे निवृत्तिका ही घातक सिद्ध होता है। अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि दोषनिवृत्ति और सद्गुण प्रवृत्ति का कोई विरोध नहीं प्रत्युत दोनों का साहचर्य ही धार्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है। विरोध है तो दोषों से ही निवृत्त होने और दोषों में ही प्रवृत्त होने का। इसी तरह सद्गुणों में ही प्रवृत्ति करना और उन्हीं से निवृत्त भी होना यह भी विरोध है।

असत्-निवृत्ति और सत्-प्रवृत्ति का परस्पर कैसा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है, यह भी विचारने की वस्तु है। जो हिंसा एवं मृषावाद से थोड़े या बहुत अंशो में निवृत्त हो पर मौका आने पर प्राणिहित की विधायक प्रवृत्ति से उदासीन रहता है या सत्य भाषण की प्रत्यक्ष जबाबदेही की उपेक्षा करता है वह धीरे-धीरे हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति का संचित बल भी गवाँ बैठता है। हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब अनुकम्पा की एवं सत्य भाषण की विधायक प्रवृत्ति का प्रश्न सामने आता है। अगर मैं किसी प्राणी या मनुष्य को तकलीफ नहीं देता पर मेरे सामने कोई ऐसा प्राणी या मनुष्य उपस्थित है जो अन्य कारणों से संकटग्रस्त है और उसका संकट मेरे प्रयत्न के द्वारा दूर हो सकता है या कुछ हलका हो सकता है, या मेरी प्रत्यक्ष परिचर्या एवं सहानुभूति से उसे आश्वासन मिल सकता है, फिर भी मैं केवल निवृत्ति की बाजू को ही पूर्ण अहिंसा मान लूं तो मै खुद अपनी सद्गुणाभिमुख विकासशील चेतना-शक्ति का गला

घोटता हूँ। मुझमें जो आत्मौपम्य की भावना और जोखिम उठाकर भी सत्य भाषण के द्वारा अन्याय का सामना करने की तेजस्विता है उसे काम में न लाकर कुण्ठित बना देना और पूर्ण आध्यात्मिकता के विकास के भ्रम में रहना इससे बढ़कर कोई अन्य आध्यात्मिक भ्रम नहीं हो सकता। इसी तरह ब्रह्मचर्य की दो बाजुएँ हैं जिनसे ब्रह्मचर्य पूर्ण होता है। मैथुन विरमण यह शक्ति संग्राहक निवृत्ति की बाजू है। पर उसके द्वारा संगृहीत शक्ति और तेज का विधायक उपयोग करना यही प्रवृत्ति की बाजू है। जो जो मैथुन-विरत व्यक्ति अपनी संचित वीर्य शक्ति का अधिकारानुरूप लौकिक लोकोत्तर भलाई में उपयोग नहीं करता है वह अन्त में अपनी उस संचित वीर्य-शक्ति के द्वारा ही या तो तामस वृत्ति बन जाता है या अन्य अकृत्य की ओर झुक जाता है। यही कारण है कि मैथुनविरत ऐसे लाखों बाबा सन्यासी अब भी मिलते हैं जो परोपजीवी क्रोधमूर्त्ति और विविध वहमों के घर हैं!

ऐतिहासिक दृष्टि—

अब हम ऐतिहासिक दृष्टि से निवृत्ति और प्रवृत्ति के बारे में जैन परम्परा का झुकाव क्या हो रहा है सो देखें। हम पहले कह चुके हैं कि जैन कुल में मांस, मद्य आदि व्यसन त्याग, निरर्थक पापकर्म से विरति जैसे निषेधात्मक सुसंस्कार और अनुकम्पामूलक भूतहित करने की वृत्ति जैसे भावात्मक सुसंस्कार विरासती हैं। अब देखना होगा कि ऐसे संस्कारों का निर्माण कैसे शुरू हुआ, उनकी पुष्टि कैसे-कैसे होती गई और उनके द्वारा इतिहास काल में क्या-क्या घटनाएं घटीं।

जैन परम्परा के आदि प्रवर्तक माने जाने वाले ऋषभदेव के समय जितने अन्धकार युग को हम छोड़ दें तो भी हमारे सामने नेमिनाथ का उदाहरण स्पष्ट है, जिसे विश्वसनीय मानने में कोई आपत्ति नहीं। नेमिनाथ देवकीपुत्र कृष्ण के चचेरे भाई और यदुवंश के तेजस्वी तरुण थे। उन्होंने ठीक लग्न के मौके पर मांस के निमित्त एकत्र किए गए सैकड़ों पशु पक्षियों को लग्न में असहयोग के द्वारा जो अभयदान दिलाने का महान् साहस किया, उसका प्रभाव सामाजिक समारम्भों में प्रचलित चिरकालीन मांसभोजन की प्रथा पर ऐसा पड़ा कि उस प्रथा की जड़ हिल सी गई। एक तरफ से ऐसी प्रथा शिथिल होने से मांस-भोजन त्याग का संस्कार पड़ा और दूसरी तरफ से पशु-पक्षियों को मारने से बचाने की विधायक प्रवृत्ति भी धर्म्य गिनी जाने लगी। जैन परम्परा के आगे के इतिहास में हम जो अनेक अहिंसापोषक और प्राणिरक्षक प्रयत्न देखते हैं उनके मूल में नेमिनाथ की त्याग-घटना का संस्कार काम कर रहा है।

पार्श्वनाथ के जीवन में एक ऐसा प्रसङ्ग है जो ऊपर से साधारण लगता है पर निवृत्ति-प्रवृत्ति के विचार से वह असाधारण है। पार्श्वनाथ ने देखा कि एक तापस जो पंचाग्नि तप कर रहा है उसके आस-पास जलनेवाली बड़ी-बड़ी लकड़ियों में साँप भी जल रहा है। उस समय पार्श्वनाथ ने चुपकी न पकड़कर तात्कालिक प्रथा के विरुद्ध और लोकमत के विरुद्ध आवाज उठाई और अपने पर आने वाली जोखिम की परवाह नहीं की। उन्होंने लोगों से स्पष्ट कहा कि ऐसा तप अधर्म है जिसमें निरपराध प्राणी मरते हों। इस प्रसङ्ग पर पार्श्वनाथ मौन रहते तो उन्हें कोई हिंसाभागी या मृषावादी नहीं कहता। फिर भी उन्होंने सत्यभाषण का प्रवृत्तिमार्ग इसलिए अपनाया कि स्वीकृत धर्म की पूर्णता कभी केवल मौन या निवृत्ति से सिद्ध नहीं हो सकती।

चतुर्याम के पुरस्कर्ता ऐतिहासिक पार्श्वनाथ के बाद पंच याम के समर्थक भगवान् महावीर आते हैं। उनके जीवन की कुछ घटनाएँ प्रवृत्तिमार्ग की दृष्टि से बहुत सूचक हैं। महावीर ने समता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मात्र व्यक्तिगत न रखकर उसका धर्म दृष्टि से सामाजिक क्षेत्र में भी प्रयोग किया ह। महावीर जन्म से किसी मनुष्य को ऊँचा या नीचा मानते न थे। सभी को सद्गुण-विकास और धर्माचरण का समान अधिकार एक सा है, ऐसा उनका दृढ़ सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त को तत्कालीन समाज-क्षेत्र में लागू करने का प्रयत्न उनकी धर्ममूलक प्रवृत्ति की बाजू है। अगर वे केवल निवृत्ति में ही पूर्ण धर्म समझते तो अपने व्यक्तिगत जीवन में अस्पृश्यता का निवारण करके सन्तुष्ट रहते। पर उन्होने ऐसा न किया। तत्कालीन प्रबल बहुमत की अन्याय्य मान्यता के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाया और मेतार्य तथा हरिकेश जैसे सबसे निकृष्ट गिने जाने वाले अस्पृश्यो को अपने धर्मसंघ में समान स्थान दिलाने का द्वार खोल दिया। इतना ही नहीं बल्कि हरिकेश जैसे तपस्वी आध्यात्मिक चाण्डाल को छुआछूत में आनखशिख डूबे हुए जात्य-भिमानी ब्राह्मणों के धर्मवाटो में भेजकर गाँधी जी के द्वारा समर्थित मन्दिर में अस्पृश्य प्रवेश जैसे विचार के धर्म बीज बोने का समर्थन भी महावीरानुयायी जैन परम्परा ने किया है। यज्ञ यागादि में अनिवार्य मानी जाने वाली पशु आदि प्राणीहिंसा से केवल स्वयं पूर्णतया विरत रहते तो भी कोई महावीर या महावीर के अनुयायी त्यागी को हिंसाभागी नहीं कहता। पर वे धर्म के मर्म को पूर्णतया समझते थे। इसी से जयघोष जैसे वीर साधु यज्ञ के महान् समारंभ पर विरोध की व संकट की परवाह बिना किए अपने अहिंसा सिद्धान्त को क्रियाशील व जीवित बनाने जाते हैं। और अन्त में उस यज्ञ में

मारे जाने वाले पशु को प्राण से तथा मारनेवाले याज्ञिक को हिंसावृत्ति से बचा लेते हैं। यह अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू नहीं तो और क्या है? खुद महावीर के समक्ष उनका पूर्व सहचारी गोशालक आया और अपने आपको वास्तविक स्वरूप से छिपाने का भरसक प्रयत्न किया। महावीर उस समय चुप रहते तो कोई उन्हें मृषावाद-विरति के महाव्रत से च्युत न गिनता पर उन्होंने स्वयं सत्य देखा और सोचा कि असत्य न बोलना इतना ही उस व्रत के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि असत्यवाद का साक्षी होना यह भी भय-मूलक असत्यवाद के बराबर ही है। इसी विचार से गोशालक की अत्युग्र रोषप्रकृति को जानते हुए भी भावी संकट की परवाह न कर उसके सामने धीरता से सत्य प्रकट किया और दुर्वासा जैसे गोशालक के रोषाग्नि के दुःसह ताप के कटुक अनुभव में भी कभी सत्य संभाषण का अनुताप न किया।

अब हम सुविदित ऐतिहासिक घटनाओं पर आते हैं। नेमिनाथ की ही प्राणिरक्षणकी परम्परा को सजीव करने वाले अशोक ने अपने धर्मशासनों में जो आदेश दिए हैं, वे किसी से छिपे नहीं हैं। ऐसा एक धर्मशासन तो खुद नेमिनाथ की ही साधना-भूमि में आज भी नेमिनाथ की परम्परा को याद दिलाता है। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने प्राणियों की हिंसा रोकने व उन्हें अभयदान दिलाने का राजोचित प्रवृत्तिमार्ग का पालन किया है।

बौद्ध कवि व सन्त मातृचेट का कणिकालेख इतिहास में प्रसिद्ध है। कनिष्क के आमंत्रण पर अति बुढ़ापे के कारण जब मातृचेट भिक्षु उनके दरबार में न जा सके तो उन्होंने एक पद्यबद्ध लेखके द्वारा आमंत्रणदाता कनिष्क जैसे शक नृपति से पशु पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान दिलाने की भिक्षा माँगी। हर्षवर्धन, जो एक पराक्रमी धर्मवीर सम्राट् था, उसने प्रवृत्तिमार्ग को कैसे विकसित किया यह सर्वविदित है। वह हर पाँचवें साल अपने सारे खजाने को लोगो की भलाई में खर्च करता था। इससे बढ़कर अपरिग्रह की प्रवृत्तिबाजू का राजोचित उदाहरण शायद ही इतिहास में हो।

गुर्जर सम्राट् शैव सिद्धराज जैसे को कौन नहीं जानता? उसनें मलधारी आचार्य अभयदेव तथा हेमचन्द्र सूरि के उपदेशानुसार पशु, पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान देकर अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू का विकास किया है। उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल तो परमार्हत ही था। उसने कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों को जीवन में इतना अधिक अपनाया कि विरोधी लोग उसकी प्राणिरक्षा की भावना का परिहास तक करते रहे। जो कर्तव्यपालन की दृष्टि से युद्धों में भाग भी लेता था वही कुमारपाल अमारि-घोषणा के लिए प्रख्यात है।

अकबर, जहाँगिर जैसे मांसभोजी व शिकार शौकवाले मुसलिम बादशाहों से हीरविजय, शान्तिचन्द्र, भानुचन्द्र आदि साधुओं ने जो काम कराया वह अहिंसा धर्म की प्रवृत्ति बाजू का प्रकाशमान उदाहरण है। ये साधु तथा उसके अनुगामी गृहस्थ लोग अपने धर्मस्थानों में हिंसा से विरत रहकर अहिंसा के आचरण का सन्तोष धारण कर सकते थे। पर उनकी सहज सिद्ध आत्मौपम्य की वृत्ति निष्क्रिय न रही। उस वृत्ति ने उनको विभिन्नधर्मी शक्तिशाली बादशाहों तक साहसपूर्वक अपना ध्येय लेकर जाने की प्रेरणा की और अन्त में वे सफल भी हुए। उन बादशाहों के शासनादेश आज भी हमारे सामने हैं, जो अहिंसा धर्म की गतिशीलता के साक्षी हैं।

गुजरात के महामात्य वस्तुपाल का नाम कौन नहीं जानता? वह अपनी धनराशि का उपयोग केवल अपने धर्मपंथ या साधुसमाज के लिए ही करके सन्तुष्ट न रहा। उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए अनेक कामों में अति उदारता से धन का सदुपयोग करके दान मार्ग की व्यापकता सिद्ध की। जगडुशाह जो एक कच्छ का व्यापारी था और जिसके पास अन्न घास आदि का बहुत बड़ा संग्रह था उसने उस सारे संग्रह को कच्छ, काठियावाड़ और गुजरातव्यापी तीन वर्ष के दुर्भिक्ष में यथायोग्य बांट दिया व पशु तथा मनुष्य की अनुकरणीय सेवा द्वारा अपने संग्रह की सफलता सिद्ध की।

नेमिनाथ ने जो पशु पक्षी आदि की रक्षा का छोटा सा धर्मबीज वपन किया था, और जो मांसभोजन त्याग की नींव डाली थी उसका विकास उनके उत्तराधिकारियों ने अनेक प्रकार से किया है, जिसे हम ऊपर संक्षेप में देख चुके। पर यहाँ पर एक दो बातें खास उल्लेखनीय हैं। हम यह कबूल करते हैं कि पिंजरापोल की संस्था में समयानुसार विकास करने की बहुत गुंजाइश है और उसमें अनेक सुधारने योग्य त्रुटियाँ भी हैं। पर पिंजरापोल की संस्था का सारा इतिहास इस बात का साक्षी दे रहा है कि पिंजरापोल के पीछे एकमात्र प्राणिरक्षा और जीवदया की भावना ही सजीव रूप में वर्तमान है। जिन लाचार पशु पक्षी आदि प्राणियों को उनके मालिक छोड़ देते हैं, जिन्हें कोई पानी तक नहीं पिलाता उन प्राणियों की निष्काम भाव से आजीवन परिचर्या करना, इसके लिए लाखों रुपये खर्च करना, यह कोई साधारण धर्म संस्कार का परिणाम नहीं है। गुजरात व राजस्थान का शायद ही कोई ऐसा स्थान हो जहाँ पिंजरापोल का कोई न कोई स्वरूप वर्तमान न हो। वास्तव में नेमिनाथ ने पिंजरबद्ध प्राणियों को अभयदान दिलाने का जो तेजस्वी पुरुषार्थ किया था, जान पड़ता है, उसी का यह चिरकालीन धर्मस्मृति उन्हीं के जन्मस्थान गुजरात में चिरकाल से व्यापक रूप में चली

आती हैं। और जिसमें आम जनता का भी पूरा सहयोग है। पिंजरापोल की संस्थाएँ केवल लूले लंगड़े लाचार प्राणियों की रक्षा के कार्य तक सीमित नहीं हैं। वे अतिवृष्टि दुष्काल आदि संकटपूर्ण समय में दूसरी भी अनेकविध सम्भवित प्राणिरक्षण-प्रवृत्तियाँ करती हैं।

अहिंसा व दया के विकास का पुराना इतिहास देखकर तथा निर्मांस भोजन की व्यापक प्रथा और जीव दया की व्यापक प्रवृत्ति देखकर ही लोकमान्य तिलक ने एक बार कहा था कि गुजरात में जो अहिंसा है, वह जैन परम्परा का प्रभाव है। यह ध्यान में रहे कि यदि जैन परम्परा केवल निवृत्ति बाजू का पोषण करने में कृतार्थता मानती तो इतिहास का ऐसा भव्य रूप न होता जिसमें तिलक जैसों का ध्यान खिंचता।

हम "जीव दया मण्डली" की प्रवृत्ति को भूल नहीं सकते। वह करीब ४० वर्षों से अपने सतत प्रयत्न के द्वारा इतने अधिक जीव दया के कार्य कराने में सफल हुई है कि जिनका इतिहास जानकर सन्तोष होता है। अनेक प्रान्तों में व राज्यों में धार्मिक मानी जाने वाली प्राणिहिंसा को तथा सामाजिक व वैयक्तिक मांस भोजन की प्रथा को उसने बन्द कराया है व लाखों प्राणियों को जीवित दान दिलाने के साथ साथ लाखों स्त्री-पुरुषों में एक आत्मौपम्य के सुसंस्कार का समर्थ बीज वपन किया है।

वर्तमान में सन्तबाल का नाम उपेक्ष्य नहीं है। वह एक स्थानवासी जैन मुनि हैं। वह अपने गुरु या अन्य धर्म-सहचारी मुनियों की तरह अहिंसा की केवल निष्क्रिय बाजू का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर सकता था, पर गांधी जी के व्यक्तित्व ने उसकी आत्मा में अहिंसा की भावात्मक प्रेम-ज्योति को सक्रिय बनाया। अतएव वह रूढ़ लोकापवाद की बिना परवाह किए अपनी प्रेमवृत्ति को कृतार्थ करने के लिए पंच महाव्रत की विधायक बाजू के अनुसार नानाविध मानवहित की प्रवृत्तियों में निष्काम भाव से कूद पड़ा जिसका काम आज जैन जैनेतर सब लोगों का ध्यान खींच रहा है।

जैन ज्ञान-भण्डार, मन्दिर, स्थापत्य व कला—

अब हम जैन परम्परा की धार्मिक प्रवृत्ति बाजू का एक और भी हिस्सा देखें जो कि खास महत्त्व का है और जिसके कारण जैन परम्परा आज जीवित व तेजस्वी है। इस हिस्से में ज्ञान भण्डार, मन्दिर और कला का समावेश होता है। सैकड़ों वर्षों से जगह जगह स्थापित बड़े बड़े ज्ञानभण्डारों में केवल जैन शास्त्र का या अध्यात्मशास्त्र का ही संग्रह रक्षण नहीं हुआ है बल्कि उसके द्वारा अनेकविध लौकिक शास्त्रों का असाम्प्रदायिक दृष्टि से संग्रह संरक्षण हुआ है। क्या वैद्यक, क्या ज्योतिष, क्या मन्त्र तन्त्र, क्या संगीत,

क्या सामुद्रिक, क्या भाषाशास्त्र, काव्य, नाटक पुराण, अलंकार व कथाग्रंथ और क्या सर्वदर्शन संबन्धी महत्त्व के शास्त्र—इन सबों का ज्ञान भण्डारों में संग्रह संरक्षण ही नहीं हुआ है बल्कि इनके अध्ययन व अध्यापन के द्वारा कुछ विशिष्ट विद्वानों ने ऐसी प्रतिभामूलक नव कृतियाँ भी रची हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और मौलिक गिनी जाने लायक हैं तथा जो विश्व साहित्य के संग्रह में स्थान पाने योग्य हैं । ज्ञान भण्डारों में से ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जो बौद्ध आदि अन्य परम्परा के हैं और आज दुनिया के किसी भी भाग में मूलरूप में अभी तक उपलब्ध भी नहीं हैं । ज्ञानभण्डारों का यह जीवनदायी कार्य केवल धर्म की निवृत्ति बाजू से सिद्ध हो नहीं सकता ।

यों तो भारत में अनेक कलापूर्ण धर्म स्थान हैं, पर चामुण्डराय प्रतिष्ठित गोमटेश्वर की मूर्ति की भव्यता व विमलशाह तथा वस्तुपाल आदि के मन्दिरों के शिल्प स्थापत्य ऐसे अनोखे हैं कि जिन पर हर कोई मुग्ध हो जाता है । जिनके हृदय में धार्मिक भावना की विधायक सौन्दर्य की बाजू का आदरपूर्ण स्थान न हो, जो साहित्य व कला का धर्मपोषक मर्म न जानते हों वे अपने धन के खजाने इस बाजू में खर्च कर नहीं सकते ।

व्यापक लोकहित की दृष्टि—

पहले से आज तक अनेक जैन गृहस्थों ने केवल अपने धर्म समाज के हित के लिए ही नहीं बल्कि साधारण जन समाज के हित की दृष्टि से आध्यात्मिक ऐसे कार्य किए हैं, जो व्यावहारिक धर्म के समर्थक और आध्यात्मिकता के पोषक होकर सामाजिकता के सूचक भी हैं। आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षणालय, वाचनालय, अनाथालय जैसी संस्थाएँ ऐसे कार्यों में गिने जाने योग्य हैं ।

ऊपर जो हमने प्रवर्त्तक धर्म की बाजू का संक्षेप में वर्णन किया है, वह केवल इतना ही सूचन करने के लिए कि जैन धर्म जो एक आध्यात्मिक धर्म व मोक्षवादी धर्म है वह यदि धार्मिक प्रवृत्तियों का विस्तार न करता और ऐसी प्रवृत्तियों से उदासीन रहता तो न सामाजिक धर्म बन सकता, न सामाजिक धर्म रूप से जीवित रह सकता और न क्रियाशील लोक समाज के बीच गौरव का स्थान पा सकता । ऊपर के वर्णन का यह बिलकुल उद्देश्य नहीं है कि अतीत गौरव की गाथा गाकर आत्मप्रशंसा के मिथ्या भ्रम का हम पोषण करें और देशकालानुरूप नये-नये आवश्यक कर्त्तव्यों से मुंह मोड़ें । हमारा स्पष्ट उद्देश्य तो यही है कि पुरानी व नई पीढ़ी को हजारों वर्ष के विरासती सुसंस्कार की याद दिलाकर उनमें कर्त्तव्य की भावना प्रदीप्त करें तथा महात्मा जी के सेवाकार्यों की ओर आकृष्ट करें ।

गांधी जी की सूझ–

जैन परम्परा पहले ही से अहिंसा धर्म का आग्रह रखती आई है। पर सामाजिक धर्म के नाते देश तथा समाज के नानाविध उत्थान पतनों में जब-जब शस्त्र-धारण करने का प्रसंग आया तब-तब उसने उससे भी मुंह न मोड़ा। यद्यपि शस्त्र धारण के द्वारा सामाजिक हित के रक्षा कार्य का अहिंसा के आत्यन्तिक समर्थन के साथ मेल बिठाना सरल न था पर गांधी जी के पहिले ऐसा कोई अशस्त्र युद्ध का मार्ग खुला भी न था। अतएव जिस रास्ते अन्य जनता जाती रही उसी रास्ते जैन जनता भी चली। परन्तु गांधी जी के बाद तो युद्ध का कर्मक्षेत्र सच्चा धर्मक्षेत्र बन गया। गांधी जी ने अपनी अपूर्व सूझ से ऐसा मार्ग लोगों के सामने रक्खा जिसमें वीरता की पराकाष्ठा जरूरी है और सो भी शस्त्र धारण किए बिना ही। जब ऐसे अशस्त्र प्रतिकार का अहिंसक मार्ग सामने आया तब वह जैन परम्परा के मूलगत अहिंसक संस्कारों के साथ सविशेष संगत दिखाई दिया। यही कारण है कि गांधी जी की अहिंसामूलक सभी प्रवृत्तियों में जैन स्त्री पुरुषों ने अपनी संख्या के अनुपात से तुलना में अधिक ही भाग लिया और आज भी देश के कोने कोने में भाग ले रहे हैं। गांधी जी की अहिंसा की रचनात्मक असली सूझ ने अहिंसा के दिशाशून्य उपासकों के सामने इतना बड़ा आदर्श और कार्यक्षेत्र रक्खा है जो जीवन की इसी लोक में स्वर्ग और मोक्ष की आकांक्षा को सिद्ध करने वाला है।

अपरिग्रह व परिग्रह-परिमाण व्रत–

प्रस्तुत शान्तिवादी सम्मेलन जो शान्ति निकेतन में गान्धी जी के सत्य अहिंसा के सिद्धान्त को वर्तमान अति संघर्षप्रधान युग में अमली बनाने के लिये विशेष ऊहापोह करने को मिल रहा है उसमें अहिंसा के विरासती संस्कार धारण करने वाले हम जैनों का मुख्य कर्तव्य यह है कि अहिंसा की साधना की हर एक बाजू में भाग लें। और उसके नवीन विकास को अपनाकर कर अहिंसक संस्कार के स्तर को ऊंचा उठावें। परन्तु यह काम केवल चर्चा या मौखिक सहानुभूति से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए जिस एक तत्व का विकास करना जरूरी है वह है अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण व्रत।

उक्त व्रत पर जैन परम्परा इतना अधिक भार देती आई है कि इसके बिना अहिंसा के पालन को सर्वथा असम्भव तक माना है। त्यागिवर्ग स्वीकृत अपरिग्रह की प्रतिज्ञा को सच्चे अर्थ में तब तक कभी पालन नहीं कर सकते जब तक वे अपने जीवन के अंग-प्रत्यंग को स्वावलम्बी और सादा न बनावें। पुरानी रूढ़ियों के चक्र में पड़कर जो त्याग तथा साधकी के नाम पर दूसरों के श्रम का अधिक.धिक फल भोगने की प्रथा रूढ़ हो गई है उसे गांधी जी के जीवित

उदाहरण द्वारा हटाने में व सच्ची महावीर की स्वावलम्बी जीवन प्रथा को अपनाने में आज कोई संकोच न होना चाहिए। यही अपरिग्रह व्रत का तात्पर्य है।

जैन परम्परा में गृहस्थवर्ग परिग्रह-परिमाण व्रत पर अर्थात् स्वतंत्र इच्छा-पूर्वक परिग्रह मर्यादा को संकुचित बनाने के संकल्प पर हमेशा भार देता आया है। पर उस व्रत की यथार्थ आवश्यकता और उसका मूल्य जितना आज है, उतना शायद ही भूतकाल में रहा हो। आज का विश्वव्यापी संघर्ष केवल परिग्रहमूलक है। परिग्रह के मूल में लोभवृत्ति ही काम करती है। इस वृत्ति पर ऐच्छिक अंकुश व नियंत्रण बिना रक्खे न तो व्यक्ति का उद्धार है न समाज का और न राष्ट्र का। लोभ वृत्ति के अनियंत्रित होने के कारण ही देश के अन्दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खींचातानी व युद्ध की आशंका है, जिसके निवारण का उपाय सोचने के लिए प्रस्तुत सम्मेलन हो रहा है। इसलिए जैन परम्परा का प्रथम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य तो यही है कि वह परिग्रह-परिमाण व्रत का आधुनिक दृष्टि से विकास करे। सामाजिक, राजकीय तथा आर्थिक समस्याओं के निपटारे का अगर कोई कार्यसाधक अहिंसक इलाज है तो वह ऐच्छिक अपरिग्रह व्रत या परिग्रहपरिमाणव्रत ही है।

परिग्रह-परिमाण व्रत का फलितार्थ–

अहिंसा को धर्म मानने वाले और विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति अपना कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य समझ कर उसे अदा करने की वृत्तिवाले जैनों को पुराने परिग्रह-परिमाण व्रत का नीचे लिखे माने में नया अर्थ फलित करना होगा और उसके अनुसार जीवन व्यवस्था करनी होगी।

(१) जिस समाज या राष्ट्र के हम अंग या घटक हों उस सारे समाज या राष्ट्र के सर्वसामान्य जीवन धोरण के समान ही जीवन धोरण रखकर तदनुसार जीवन की आवश्यकताओं का घटाना या बढ़ाना।

(२) जीवन के लिए अनिवार्य जरूरी वस्तुओं के उत्पादन के निमित्त किसी-न-किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किए बिना ही दूसरे के वैसे श्रम पर शक्ति रहते हुए भी, जीवन जीने को परिग्रह-परिमाण व्रत का बाधक मानना।

(३) व्यक्ति की बची हुई या संचित सब प्रकार की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसके कुटुम्ब या परिवार का उतना ही होना चाहिए जितना समाज या राष्ट्र का। अर्थात् परिग्रह-परिमाण व्रत के नए अनर्थ के अनुसार समाज तथा राष्ट्र से पृथक् कुटुम्ब परिवार का स्थान नहीं है।

ये तथा अन्य ऐसे जो जो नियम समय-समय की आवश्यकता के अनुसार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से फलित होते हों, उनको जीवन में लागू करके गाँधी जी के राह के अनुसार औरों के सामने सबक उपस्थित करना यही हमारा विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति मुख्य कर्त्तव्य है ऐसी हमारी स्पष्ट समझ है।

युद्ध का अन्त

श्री नागार्जुन—

[तुच्छ राज्य और अधिकार लिप्सा के पीछे सगे भाई चक्रवर्ती भरत और बाहुबलि में मन्त्रियों की सम्मति से सैन्ययुद्ध न होकर दृष्टियुद्ध जलयुद्ध और मल्लयुद्ध हुए। दो युद्धों में बाहुबलि विजयी हुए। तीसरे मल्लयुद्ध में बाहुबलि भरत पर तीव्र मुष्टिप्रहार करना चाहते हैं—कि सहसा उन्हें आत्मबोध होता है और उनका मन युद्ध से विरत हो जाता है। कवि ने इसी समय की विचार-धारा का चित्रण अपनी सुकुमार लेखनी से किया है। —सम्पा०]

मल्लयुद्ध-प्रसगका जब हो रहा था अत
भरतका जब हो चुका था चूर चूर घमड
करना चाहते थे बाहुबलि
आघात जब कि प्रचड
तानकर घूसा उठाकर बाँह
तभी उनको हुआ यह परिबोध
हाय ! किसपर द्वेष किसपर क्रोध !
हम सहोदर एक जननी की सगी सन्तान
ले रहे हैं हम परस्पर जान !
हे विजयलक्ष्मी, तुम्हे धिक्कार
पराजय ही मुझे स्वीकार
सहोदर पर करूगा मैं अब नही आघात
दिन हो जाय चाहे रात
चल जाती पिता पर पुत्रसे तलवार
ओ लक्ष्मी तुझे धिक्कार
भाई भाइयो की जान लेने पर उतारू हो रहे है हाय !
धिक् धिक् व्यक्ति धिक् समुदाय
चाहिए मुझ को नही यह जीत
आह मानव, यही क्या तेरी सदाकी रीत
चाहिए मुझको न तेरा राज
चाहिए मुझको न तेरा ताज
पराजित ही मैं रहूं, नाहक न मुझको छेड़
खड़ा हूँ जिस पर न काटूंगा वही मैं पेड़
साहसी, सम्राट् डाकू चोर
हाय लिप्से, कौन पाएगा तुम्हारा ओर ?

इस प्रकार विमुग्ध औ विक्षुब्ध
बाहुबलि पर छा गया वैराग्य
फिर आघात करने के लिए उद्यत वही भुजदड
(पराक्रमशाली प्रकाड प्रचड)
हो गया नीचे,
चमकने लग गए दृग शान्त स्निग्ध सफेद
भासित हो उठी फिर,
सौम्य स्वाभाविक मुखाकृति वही शिशु की भाति
उत्तरीय उतार
खोल करके रख दिया
एकावली मणिमेखला कुडल तथा केयूर
और उसके बाद तो वह
हो गए निर्ग्रन्थ औ निर्वस्त्र .
"देव, यह क्या ?"—
वृद्ध मत्री शुचिव्रत ने
उठाकर तत्काल दाया हाथ
टोक ही तो दिया—"यह क्या हो गया
है आज तुमको देव ?
नग्न बन कर विजयलक्ष्मी का करो
मत आह, यो अपमान !
देव, तुम पर दैव है अनुकूल
मुकुट लो फिर शीश पर
धारण करो फिर हसलाछित क्षौम पीत दुकूल !"
शान्त मुद्रा मे हिलाकर हाथ
बाहुबलि बोले—"अजी, इन वस्तुओका
लो न मेरे सामने अब नाम
रत्नके बदले बटोरूगा नही अब काच
अब न नाचूगा अरे कठपुतलियो का नाच
न जाने किस पुण्यके बल पा गया यह मानवीय शरीर
लिया अबतक नही इससे काम
आधिभौतिक भावनाओ मे रहा
दिन रात ही मै मग्न !
हाय मानव !
जा रहा तू दौड़ता किस ओर ?
पकड़ पाएगा कभी क्या कामना के छोर ?
विनश्वर ससार !
पिला दी किसने सुरा तुम हो रहे बेभान
काम आता है नही विद्या कि या विज्ञान
भूमि पशु धन धान्य काचन रजत मणि माणिक्य
दास-दासी अश्व गज रथ सारथी औ सैन्य
सभी पर ओ गृद्धदृष्टि मनुष्य, तूने कर लिया अधिकार
ज्योतिरीश्वर महाग्रह,

तेरा सभी पर पड़ रहा प्रतिबिम्ब
किन्तु अन्दर के अन्धेरे को न पाये चीर
किरण के तेरे नुकीले तीर
यह तड़क यह भड़क बाहरकी न आई काम
अन्तःकरण ज्यों के त्यों रहे दिग्भ्रान्त !
स्वजन परिजन
इष्ट मित्र
पड़ोसियों की यह विकट प्राचीर
पड़े हो तुम कैद इसमें ज्यों कि पिंजड़े में बिचारा कीर !
काम आएगें न
औरों के तुम्हें वरदान या अभिशाप
यदि न होगे मुक्त अपने आप !
ओ प्रकृतिके चेतनामय पुत्र, मनु सन्तान
लक्ष्य तेरा एक होना चाहिए, बस एक,
केवल ज्ञान
बाहुबलि ने कहा इतना
हो गये फिर मौन
हो रहे दडायमान विशाल शाल्समान
बाहुबलि सु-महान !
आश्चर्य !
दोनों ओरके दर्शक हुए हैरान
विस्मय का नहीं था अन्त !
किसी ने देखा नहीं था कभी ऐसा दृश्य
भरत घुटने टेक
साश्रु और सविवेक
ऊर्ध्वदृग् बैठा रहा कुछ काल
निकला नहीं मुह से बोल
पहली बार जीवन मे कि यों वह आज
नतमस्तक किसीके सामने
बैठा हुआ है हत !
किसीने भी सिखाई थी
भरतको इतनी बड़ी क्या सीख ?
जुड़ गए फिर हाथ अपने आप
बाहुबलिकी साधुतासे हो गया मन
रागद्वेष विहीन
द्रवित होकर दर्प
दृगोंसे बहने लगा धर आँसुओं का रूप
जीतकर भी विजयलक्ष्मी से पराङमुख
सामने ही खड़ा है यह व्यक्ति—
अपरिसीम उदारताका मूर्तिमान् प्रतीक
अनुज मेरा बाहुबलि !
अथवा उसीके रूपमें यह

देवता या यक्ष किन्नर नाग या गन्धर्व
मेरा हृदयपरिवर्तन कराना चाहता हो हत
पड गए सदेह में राजा भरत
कुछ काल के उपरान्त
अपनी क्रूरता पर गया नृपका ध्यान
अपने आप पर ही घृणा होने लगी
पुजीभूत मेरा पाप धोने के लिए ही
बन्धु, तुमने !
साधु का यह रूप धारण कर लिया है ओह !
म नही पाया तुम्हे पहचान
देव मै अनभिज्ञ मै अनजान
जीतकर चतुरन्त यह भूखण्ड
झुकाने आया तुम्हे मै मूर्ख मै उद्दड
ठीक है मेरे अनुज हो बन्धु
पर, न साधारण मनुज हो बन्धु
तुम्हारा यह बाहुबल है किस प्रकार विशाल
हृदय भी है उसी भाति विशाल
था मुझे इस बात का पहले न कुछ भी भान
तभी तो न पाया तुम को तनिक भी पहचान
चक्रवर्ती कहाने का मोह मेरा हो गया है दूर
सार्वभौमिक गर्व मेरा हो गया है चूर
हाय, मेरे हेतु—
शत शत नृपतियो के मुकुट और किरीट
भूलुठित हुए है हाय !
हाय, मेरे दुरितका व्यय से अधिक है आय !
लाख लाख निरपराधो का बहा खून
ताक पर ही रख दिया सब कायदा-कानून
हो गई सूनी हजारो जननियो की गोद
और तिसपर विजय अरु आमोद और प्रमोद
नृत्य नाटक द्यूत मदिरापान
विरुदावली का गान
विविध उत्सव औ विविध आरम्भ
मान मद छल छद्म मिथ्या दम्भ
रात दिन परछिद्रका सन्धान
हाय रे यह कूटनीतिक ज्ञान
बन्धु, मैने किया है अपराध यह अक्षम्य
आमरण जलता रहूँगा इसीके परितापमें मै मूढ
पर, तुम्हें क्या हो गया यह ?
दृष्टि शीतल भ्रू सरल, मुखकान्ति उज्ज्वल स्निग्ध
तनिक मिलता नही आवेश का आभास
स्वच्छ है अन्त.करण निर्मेघ ज्यो आकाश
चरण कमलों पर तुम्हारे

आज यह मैं डालता हूँ
देव, अपनी विजयिनी तलवार
जिसका बहुत था अब तक मुझे अभिमान
दो मुझे आशीष
जाकर धर्म से शासन करूंगा
दण्ड दूंगा छोड़
सुखी हो राजन्य
फिरसे राज्य पाकर
अब न छीनूंगा किसी की भूमि
लो यह पकड़ता हू कान
उस अनुतप्त अग्रज के लिए
हे देव यों धारण करो मत मौन
श्री मुखसे सुनाओ बोल
दो आदेश कुछ भी
अन्यथा मैं
तुम्हारे ही सामने लो करूंगा अपघात !

"भूप"—
जरा रुककर
अभयमुद्रामे कहा तब बाहुबलि न
"वह ऋषभ भगवान्
विश्व भर का करेंगे कल्याण,
हो गया परिताप से ही पूर्ण प्रायश्चित्त
सद्धर्म का आलोक अब तो—
दीप्त होने जा रहा है
तुम्हारे भी मनोमन्दिर मध्य ....
बाहुबलि फिर हो गये चिर मौन,
अन्तर्लीन
सो गया हो ताल में ज्यों मीन !

विश्वशांति के ये महान् प्रचारक

श्री रतनलाल बंसल—

पिछले दिसम्बर मास में शान्तिनिकेतन एवं सेवाग्राम में विश्व के शान्तिवादियों का जो सम्मेलन हुआ है वह इस तथ्य का प्रतीक है कि एटम बम का आविष्कार और प्रयोग अहिंसा की शाश्वत भावना को नष्ट करना तो दूर उसे किंचित् मात्र निर्बल कर देने की भी क्षमता नहीं रखता। बल्कि प्रकारान्तर से तो उसने अहिंसावादियो की निष्ठा और विश्वास को बल ही प्रदान किया है।

इस सम्बन्ध में यह सूचना प्रमुख रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि विश्व शान्तिवादी कभी भी निष्क्रिय विचारक मात्र नहीं रहे हैं। दुर्भाग्यवश आज प्रचार के साधन जिन शक्तियों के हाथों में हैं, उनके स्वार्थों से शान्तिवादियो का प्रत्यक्ष विरोध रहने के कारण शान्तिवादियो के प्रेरणाशील कार्यों और उनके त्याग बलिदान की ज्वलन्त कथाओं को उतना प्रकाशन नहीं मिल सका, जितना उनको मिलना चाहिये था। यही कारण है कि अधिकांश जनता इनके सगठन और उद्देश्यो से अपरिचितसी है, तथा परिचितों में भी अधिकांशतः इनको ख्याली पुलाव पकानेवाले व्यक्तियों की श्रेणी में शुमार करते रहे हैं। पर वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है।

बीजरूप में यह विश्वास और भावना कि "द्वेष का प्रतिकार द्वेष से नहीं किया जा सकता बल्कि प्रेम से ही किया जा सकता है", पहिले पहल मानव के मन में कब उद्‌भूत हुई, यह नहीं कहा जा सकता। जब जब मानव ने पशुता की परिधि से अपना पैर बाहर निकालने का साहस किया है, तब तब यह सचाई उसके अन्तर को बिना स्पर्श किये नहीं रह सकी है। इसी सचाई ने बुद्ध, महावीर, ईसा और गान्धी को जन्म दिया और आज भी वह लाखों व्यक्तियों को सत्पथ का दर्शन करा रही है।

सन् १९१४–१८ के भयानक महायुद्ध के मध्य कुछ ऐसे महाप्राण व्यक्तियों को, जिन्होंने युद्धज्वर के ताप से अपने मस्तिष्क को सुरक्षित रक्खा था, इस सचाई ने बड़े वेग से प्रभावित किया। स्विटज़रलैंड की एक ग्राम पाठशाला के अध्यापक जान बूदराज को जब तीन मास के लिये अपनी सैनिक टुकड़ी (रेजीमेण्ट) में सम्मिलित होने की आज्ञा मिली, तो उसके सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि क्या जिस बाइबिल का पाठ

वह नित्य प्रति अपने छात्रों को पढ़ाता रहा है, उसके साथ रेजीमेन्ट में आकर मानव हत्या का अभ्यास करने में कोई संगति है? उसने अपनी पत्नी से इस बातपर विचारविनिमय किया और फिर अपने आफिसर कमाण्डिग के पास आकर राइफल समेत अपने सैनिक वेष की समस्त सामग्री उसके चरणों में रख दी। जान बूदराज ने अपने अफसर से कहा- "मैंने ईसा की आवाज सुनी है और मैं अब सैनिक नहीं रह सकता।"

जान को उसके अफसर ने भांति भांति से समझाया पर जान अपनी बात पर अटल रहा। इसके लिये जान को जेल जाना पड़ा। सैनिक अधिकारियों में उसकी इस दृढ़ता से हलचल मच गई। किन्तु अन्त में उन्होंने निर्णय किया कि जान पागल मालूम होता है। कारण, इस देश में न तो लड़ाई का इस समय कोई खतरा है और न स्विस सेना कभी लड़ती ही है। इसलिये कायर अथवा डरपोक होने के कारण उसने सेना से अपनी जान छुड़ाई हो, इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त इस देश में सैनिकों के प्रति जो सम्मान भावना है और उनको जो सामाजिक सुविधायें मिलती हैं; उनसे केवल भावुकतावश अपने को वंचित कर देना और जेल चला जाना पागलपन के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

पर स्विटजरलैंड के एक दूसरे व्यक्ति ने जान की भावनाओं को समझा और उस पर विचार किया। यह व्यक्ति स्विट्जरलैंड के एक अत्यन्त सम्मानी परिवार का सदस्य था और उसके पिता स्विस सरकार में मंत्री रह चुके थे। इस व्यक्ति के एक चचेरे भाई ने सरकारी वकील की हैसियत से जान बूदराज के मुकद्दमे में काम किया था और जान को सजा दिलाई थी। जान को सजा मिलने के कुछ दिन बाद इस व्यक्ति ने, जिसका नाम पेरी सेरी सोल था, सैनिक सेवा करने से इंकार कर दिया और स्वेच्छा से जेल चला गया। यही पेरी सेरी सोल आगे चल कर एक महान् शान्तिवादी नेता बने। उन्होंने 'अन्ताराष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' संगठित किया, जो युद्धग्रस्त देशों के बमबारी से ध्वस्त प्रदेशों में बिना किसी भेदभाव के पुनर्निर्माण का कार्य करता था। बिहार भूकम्प के समय पेरी पेरी सोल भारत भी आये थे और उन्होंने यहां महत्वपूर्ण सेवा की थी। जीवन भर वे इसी प्रकार के कार्यों में लगे रहे और अपने युद्धविरोधी सिद्धान्तों के लिये उनको बार बार जेल जाना पड़ा।

* * *

इंगलैंड में श्रीमती म्यूरिल लिस्टर ने इन शान्तिवादियों का नेतृत्व किया। प्रथम महायुद्ध से वर्षों पूर्व ही वे अपना विलासिता पूर्ण जीवन

त्याग कर लन्दन के एक गन्दे मुहल्ले में गरीबों के बीच आ बसी थीं और वहाँ उन्होंने 'किंग्सले हाल' के नाम से एक आश्रम की स्थापना की थी। गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाग लेने के लिये गान्धीजी जब इंगलैंड गये थे, तब उन्होंने भी इसी आश्रम का आतिथ्य स्वीकार किया था। इंगलैंड के सभी श्रेणी के व्यक्तियों के मन में इस संस्था के प्रति कम मान नहीं है, किन्तु युद्ध के दिनों में यह सम्मान भावना एक दूसरा रूप ले लेती है, कि उस प्रकार, जिस प्रकार गान्धीजी के हिन्दू-मुस्लिम एकता के विचारों के कारण साम्प्रदायिकता के तूफान के समय गान्धीजी के प्रति उनके भक्तों की भावना बदल आया करती थी।

प्रथम युद्ध में भी 'किंग्सले हाल' शान्तिवादियों का प्रमुख केन्द्र बना रहा। अतः उसके सम्बन्ध में भांति भांति की अफवाहें उड़ाई गईं। बहुत से व्यक्ति विश्वास करते थे कि वह जर्मन जासूसों का अड्डा है। इन अफवाहों के कारण किंग्सले हाल पर अनेक बार आक्रमण हुए और उसके सदस्यों को चोट पहुँचाई गई।

प्रथम महायुद्ध में जब जर्मनों ने लुसीटानिया जहाज डुबो दिया, तब अंग्रेज शान्तिवादियों को अत्यधिक कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा। इस जहाज में बहुत बड़ी तादाद में अंगरेज नागरिक थे। जर्मनों के विरुद्ध द्वेष उत्पन्न करने के लिये पत्रों ने जहाज डूबने का बड़ा कारुणिक विवरण प्रकाशित किया। फलस्वरूप लन्दन में एक बलवा खड़ा हो गया। कुछ लोगों की एक भीड़ ने जर्मन व आस्ट्रियन पड़ोसियों की दूकानों को लूट लिया। किंग्सले हाल के पास ही एक जर्मन महिला को घेर लिया गया। स्वभावतः किंग्सले हाल के सदस्यों ने उस जर्मन महिला की रक्षा की। जब उस जर्मन महिला को परेशान किया जा रहा था, पुलिस चुप चाप खड़ी रही। किन्तु उस महिला को बचा लेने पर अकस्मात् पुलिस आई और मिस म्यूरिल लिस्टर को इस बलवे में भाग लेने के अपराध में गिरफ्तार कर ले गई।

यह घटना उस वातावरण की प्रतीक है जिसमें इंगलैंड के शान्तिवादी कार्य कर रहे थे।

शान्तिवादियों के युद्धविरोधी प्रचार के कारण प्रथम महायुद्ध में लगभग पन्द्रह हजार व्यक्तियों को सैनिक सेवा से इंकार करने के कारण अदालतों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इनमें से अनेक को जेलों में भयंकर यातनाएं दी गईं। एक सैनिक की कलाइयों से तो रेतों से भरी हुई बाल्टियां बांध दी गईं और उसे एक जीने से पूरी तेजी से उतरने

लड़ने के लिये कहा जाता था। भाग्यवश इसकी सूचना श्रीमती लिस्टर को मिल गई और उन्होंने उच्चाधिकारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करके उस सैनिक को इस यातना से छुटकारा दिलवाया।

अन्य अन्य देशों में भी युद्धविरोधी आन्दोलन प्रथम महायुद्ध के समय चले थे किन्तु उनका कोई प्रामाणिक लेखा जोखा नहीं मिल सका। श्री जे० चेम्बरलेन ने अपनी पुस्तक "फाइटिंग फॉर पीस" में एक स्थान पर लिखा है—

"यह मालूम है कि जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस, बोहेमिया, अमेरिका, यहां तक कि फ्रांस में भी बहुतेरे आदमियोंने युद्ध में भाग लेने से इंकार किया था, और ब्रिटिश युद्धविरोधियों की ही भांति वे दंडित हुए थे। हंगरी में नाजरिनों की एक बड़ी संख्या थी, जिन्होंने सेना में काम करने से इंकार कर दिया था। ये बिचारे सब के सब गोलियों से भून दिये गये। बोहेमिया में भी युवक जेकों द्वारा सैनिक सेवा का काफी विरोध किया गया और वहां भी जिन्होंने लड़ने से इंकार किया, उनको गोली मार दी गई।"

दूसरे महायुद्ध की भी यही कहानी है। किन्तु किसी भी देश की सरकार इस प्रकार की घटनाओं का प्रकाश में आना उचित नहीं समझती। दूसरी ओर शान्तिवादी इतने साधनहीन हैं और साथ ही यशलिप्सा और विज्ञापन से स्वभावतः इतनी अरुचि रखने वाले हैं कि अभी वर्षों में जाकर द्वितीय युद्ध के समय उठाये गये उनके आन्दोलनों का कुछ विवरण हमको मिल सका है।

* * *

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब जर्मनी तथा अन्य पराजित दलों में फैली हुई भुखमरी के समाचार शान्तिवादियों को मिले, तब उनमें से जो विजयी राष्ट्रों के नागरिक थे, उन्होंने अपने अपने देश में इस बात के लिये प्रदर्शन किये कि भुखमरी से ग्रसित राष्ट्रों को भरपूर सहायता मिलनी चाहिये। प्रसिद्ध पत्रकार श्री एच० डबल्यू० नेविसन ने अपनी एक यात्रा से लौट कर लिखा, "एक आस्ट्रियन अस्पताल में जब मैं गया तो उसके शिशु-विभाग के करुण दृश्यों के सामने मुझ से देर तक खड़ा न रहा जा सका।" इन पंक्तियों ने जहां प्रतिहिंसा से जलते हुए हृदयों को प्रसन्नता और सन्तोष दिया, वहां शान्तिवादियों के हृदयों पर एक भयंकर आघात किया। नेविसन ने अपने इसी लेख में आगे लिखा था, "हर बिस्तरे के पास खड़ा होकर प्रत्येक बच्चे से निर्दयता की वही भयानक कथायें बार बार सुनने का साहस मुझे न हो सका। यह मेरे बर्दाश्त के बाहर था। जब मैं पास जाता, तो प्रत्येक बच्चा अपनी बड़ी बड़ी चमकीली

आखों से मेरी ओर देखता। उनकी इन आखों और पिचके गालों में उनके दुःख की कहानी लिखी हुई थी। वे मेरी ओर उसी आशा और उत्कंठा से देखते थे, जैसे चिड़ियों के बच्चे अपनी माताओं के खाद्य पदार्थ लेके आने पर चोंच खोल कर उनकी ओर देखते हैं। पर मेरे पास तो उनके लिये भोजन न था। एक प्रसूति-गृह (मेटरनिटी होम) में दो-महीने के अन्दर कुल सौ बच्चे पैदा हुए, जिनमें अट्ठानवे दूध के अभाव के कारण मर गये; बेचारी दुर्बल माताओं की छाती में दूध न था।"

पर नेविंसन की यह पंक्तियां लाख प्रयत्न करने पर भी किसी दैनिक पत्र में नहीं प्रकाशित हो सकीं। शांतिवादियों का एक प्रतिनिधि मंडल जब सम्पादकों के पास इस प्रयास में गया, तो उत्तर मिला, "अच्छा हुआ, वे इसी योग्य थे।"

शांतिवादियो ने इस पर प्रधान मंत्री को एक आवेदन पत्र भेजा, जिसकी कुछ पंक्तियां थीं—"हम भूख की पीड़ा से परिचित हैं। इसीलिये हम और हमारे बच्चे यह नहीं चाहते कि दुनियां के किसी भाग में कोई भी भूखा रहे।.......इससे अच्छा तो यह होगा कि यों धीरे धीरे मारने और तिल तिल करके भूख की आग में जलाने की जगह इन बच्चों को बम गिरा कर एक दम खत्म कर दिया जाय। ईश्वर के लिये खाद्य पदार्थों की इस रोक को उठा लीजिये।"

यह पत्र शान्तिवादियों के एक जुलूस ने प्रधान मंत्री को दिया। इस जुलूस में बहुत ही कम व्यक्ति थे, क्योंकि पत्रों ने शत्रु राष्ट्रों के विरुद्ध इतना जहरीला प्रचार किया था कि साधारण नागरिक का मन मानवोचित दया और करुणा से सर्वथा शुष्क हो चुका था। यह स्थिति लगभग वैसी ही थी, जैसी साम्प्रदायिक बलवों के समय पश्चिमी पंजाब के मुसलमानों और पूर्वीय पंजाब के हिन्दू सिक्खों के मध्य थी। आशय यह कि सिवा थोड़े से विशिष्ट व्यक्तियों के लगभग सभी एक दूसरेकी पीड़ायें देख कर प्रसन्न होते थे। किन्तु सच्चाई से भरी हुई पुकार कभी निष्फल नहीं होती। इस मंत्र का भी परिणाम यह हुआ कि "शिशु रक्षण कोष" (सेव दी चिल्ड्रेन फंड) की स्थापना हुई। इस संस्था के घोषणा पत्र में लिखे हुए यह शब्द कितने महत्वपूर्ण हैं:—

"वह कसौटी जिस पर प्रत्येक बात कसी जानी चाहिये, यह है कि अमुक कार्य संसार के बच्चों के सुख और कल्याण को बढ़ाने वाला है या हानिकारक है।" अर्थात्, इन शब्दों में संसार को स्मरण दिलाया गया है हैं कि एक देश और दूसरे देश के बच्चों में भेद नहीं किया जा सकता।

संधि के कुछ दिन बाद ही श्री पेरी पेरी सोल के नेतृत्व में स्वयंसेवकों का एक दल फ्रांस के ऐसे भू-भाग में पहुँचा, जिसे जर्मन तोपों ने बिलकुल बीहड़ बना दिया था। इस दल में जर्मन, स्विस, अंग्रेज और अमेरिकन शामिल थे। एक जर्मन स्वयंसेवक तो ऐसा था, जिसका भाई फ्रान्सीसियों द्वारा युद्ध में मारा गया था। उसीके प्रतिशोध के लिये वह फ्रान्सिसियों की सेवा करने के लिये आया था, जिससे उनके मन में फ्रान्सीसियों के मन में जर्मनों के प्रति जितनी भी कटुता है, समाप्त हो गई और वे जर्मनों को मित्र समझने लगें।

इस दल ने टूटे फूटे घर खड़े करने, सड़कें बनाने और गृहहीनों के लिये आश्रय स्थान तय्यार करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इसके पश्चात् यह स्वयंसेवक दल इसी प्रकार के अन्य स्थानों में भी गया।

इस प्रकार मानव मानव के मध्य राष्ट्र जाति की खाइयों को पाट कर उनमें सच्चे भ्रातृभाव की भावना उत्पन्न करना शान्तिवादियों का प्रमुख कार्य रहा है और उसके लिये वे भारी साधना करते रहे हैं।

* * *

शान्तिवादियों का एक प्रमुख संगठन "युद्ध प्रतिरोधक संघ' (वार रेसिस्टर्स इन्टरनेशनल) है। इसके घोषणा पत्र की कुछ पंक्तियां इस प्रकार है-

"युद्ध मानवता के प्रति एक अपराध है। इसलिये हम दृढ़ हैं कि हम उसका समर्थन न करेंगे, फिर चाहे वह किसी प्रकार का युद्ध हो। हम युद्ध के कारणों को दूर करने की चेष्टा करेंगे।"

"युद्ध मानवता के प्रति एक अपराध है, यह जीवन के प्रति अपराध है और राजनैतिक एवं आर्थिक स्वार्थों के लिये मनुष्य का दुरुपयोग करता है।"

"इसलिये हम मनुष्य जाति के प्रति अपने दृढ़ प्रेम के कारण उसका कदापि समर्थन नहीं करेंगे। स्थल, जल, वा वायु सेना में किसी प्रकार की सेवा करके न तो युद्ध का प्रत्यक्ष समर्थन करेंगे और न युद्ध सामग्री बनाने, युद्ध शिक्षा में हिस्सा बँटाने, और दूसरों को सैनिक सेवा से मुक्त कराने के लिये अपनी श्रम शक्ति का उपयोग करके युद्ध में अप्रत्यक्ष सहायता करेंगे।"

"युद्ध चाहे किसी प्रकार का भी हो, आक्रमणात्मक अथवा रक्षात्मक, क्योंकि हम जानते हैं कि वर्तमान सरकारें केवल रक्षणात्मक युद्ध ही छेड़ती हैं।"

वार प्रतिरोधक संघ ने युद्ध विरोधी प्रचार बड़े जोर जोर से आरम्भ किया। इसके प्रभाव स्वरूप ९-२-३३ को आक्सफोर्ड यूनियन सोसाइटी

ने १५३ मतों के विरुद्ध २७५ मतों से निम्न प्रस्ताव पास किया–

"यह यूनियन किसी भी परिस्थिति में अपने राजा और देश के लिये युद्ध नहीं करेगा।"

इसी प्रस्ताव को मांचेस्टर विश्वविद्यालय ने १९६ के विरुद्ध ३७१ मतों से पास किया।

इस प्रकार के प्रस्ताव का पास हो जाना इंगलैंड के इतिहास में एक सनसनी उत्पन्न कर देने वाली महत्वपूर्ण घटना थी। फलतः ग्लासगो यूनीवर्सिटी यूनियन में यह प्रस्ताव पेश किया गया।

"यह यूनियन राजा और देश के लिये युद्ध करने के लिये तय्यार है।"

किन्तु यह प्रस्ताव ५९८ के विरुद्ध ९३४ मतों से अस्वीकृत हो गया। इसके पश्चात् तो देश भर की यूनीवर्सिटियों और कालेजों में इस प्रस्ताव की धूम मच गई। इंगलैंड से बाहर यूरोप के अन्य देशों तथा अमेरिका के छात्रों ने भी इसी प्रकार के प्रस्ताव पास किये।

किन्तु युद्ध फिर भी हुआ और एक भयानक नर-संहार से संसार को गुजरना पड़ा। अब तीसरे युद्ध की सरसराहट भी वातावरण में है और इससे यह ख्याल किया जा सकता है कि बावजूद अपने सच्चे प्रयत्नों और भारी त्याग तपस्या के शांतिवादी अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके हैं। कुछ आतुर व्यक्ति उनके आदर्शों को अव्यवहारिक भी कह सकते हैं? किन्तु क्या संसार जिस मार्ग पर आ रहा है, वह व्यावहारिक है? जाहिर है कि इस मार्ग पर भी संसार अधिक दिनों तक नहीं चल सकता और अन्त में उसे युद्ध से विरत होकर शांतिवादियो के मार्ग पर ही आना है। तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि शांतिवादी ही सत्य और व्यावहारिक मार्ग पर हैं। उत्तेजना से दूर रह कर वे धैर्य्य पूर्वक उस पथ का निर्माण करने में जुटे हुए हैं। जिस पर अन्त में मानव समाज को आना ही है और इसी लिये उनके प्रयास समस्त विश्व के लिये अनुकरणीय और प्रशस्य हैं।

बापू की कर्मभूमि में भारत में होने वाले शान्तिवादियों का यह सम्मेलन समग्र विश्व के शान्तिवादियों के लिये प्रेरणाशील सन्देशवाहक हो, यही हमारी कामना है।

"अपनी ओर भी"

छत पर धूप में बैठा था कि नीचे कुछ फड़फड़ाने की आहट सुनाई पड़ी। झुक कर देखा कि एक बिल्ली कबूतर का गला दबोच रही है। कुछ पंख तितर बितर पड़े हैं। कबूतर की जान निकल चुकी है। चेतना शान्त हो चुकी है। गाढ़ी सी लाल लम्बी कतार बिल्ली कबूतर के तर तर रक्त से खींच गई। मैं नीचे दौड़ता आया एक लकड़ी खींच कर मारी। बिल्ली कबूतर को छोड़ भागी किन्तु रक्त से सना मुंह कबूतर की ही ओर था।

बिल्ली को देखकर एक कुत्ता उसकी ओर झपटा। बिल्ली जो अभी कबूतर को समाप्त कर चुकी थी अपने पैरों में पंख लगा कर कुत्ते से बचने के लिये जान लेकर भागी। कुत्ते ने बेतहाशा उसका पीछा किया। वह अभी बिल्ली को दबोचने ही वाला था कि बिल्ली पासकी एक मोरी में घुस गई। कुत्ता देखता रहा।

मैं यह सब टकटकी लगाये देखता रहा। विचार-भाव आक्रमण, काल, रक्षा और प्रतिहिंसा की कल्पना एक एक कर मस्तिष्क में हथौड़े की ठोकर मार मार कर कह रही थी: बिल्ली और कबूतर में कुत्ते और बिल्ली में कौन शान्ति पा सका?

मैं यह सब सोच ही रहा था एक सुन्दर ढंग से बुना हुआ मकड़ी का ताना बाना दृष्टिगोचर हुआ। उसमें दसों मक्खियां, पतिंगे उलझे पड़े थे। बड़ी व्यग्रता पूर्वक मैं देखता रहा। अभी दृष्टि हटा ही न सका था कि सामने एक छिपकली किसी पतिंगे का पीछा कर रही थी। पतिंगा आगे को भागता और छिपकली उसका पीछा करती। यह क्रम काफी समय तक चलता रहा। अन्त में छिपकली की ही विजय हुई।

मैं और कुछ न देख सका।

बिल्ली, कबूतर, कुत्ता, मकड़ी तथा छिपकली और पतिंगा एक एक 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' के निकृष्ट रूप मालूम हुए।

मुझे लगा कि काश ये जन्तु एक दूसरे को समझते और सहयोग से समाज बनाते, तो इनके संघर्ष द्वन्द्व हिंसा और युद्ध समाप्त हो जाते? इनका यह 'मात्स्य न्याय' समाप्त हो जाता तो कितना अच्छा रहता?

कि

अन्तस्त से एक आवाज आई "अपनी ओर भी" मैं उद्भ्रान्त हो उठा.... ।

—रतन 'पहाड़ी'

महामानव का महाप्रयाण

दयाशङ्कर पाण्डेय 'हरीश'

हे राष्ट्रपिता, हे महामौन !
तुम माँ के ऋण से उऋण आज हो गये मुक्त
कर के जग को अन्तिम प्रणाम।
यह विश्व-दिवाकर अस्त हुआ,
औ संस्कृति के, मानवता के भग्नावशेष पर
हिंसा की महातमिस्रा में,
निर्वाणोन्मुख आदर्शों की दीप-शिखा
बुझ गई सदा के लिये
और छा गई जगत पर कालरात्रि।
विश्व-गगन का प्रभापुञ्ज वह दीप्त सितारा
अस्त हो गया,
डूब गया रे सत्य अहिंसा की किरणों का कूल किनारा !

हे जगवन्द्य महात्मन् !
तुम चले गये--
जग में पशुता पैशाचिकता का नृत्य देख
छा गया चतुर्दिक निखिल विश्व में तम अपार।
रो उठा गगन
सागर डोले
हिल उठा हिमालय
महाकाल भी काँप उठा कह 'यह कैसा रे वज्रपात !'
युग पर चिर अवसाद जमाने
महाप्रलय का महा प्रलयंकर झोंका आया
रोया हिन्दू-खो कर अपना प्रिय 'मनमोहन'
अपना 'गौतम' अपना बापू'
रो उठा बिलख कर मुसलमान भी
खो कर अपना प्रिय 'पैगम्बर'
अपना सहचर अपना त्राता
महासिन्धु के पार ईसा के पुत्रों ने भी आह छोड़ दी
क्षमा, अहिंसा, सत्य, त्याग की
अब न सुनाई देगी वाणी, चिर कल्याणी !

ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, जिन, को जीते जी किसने पहचाना
तुमको भी जग जान न पाया मेरे बापू !

मेरे दधीचि !
पैशाचिकता और क्रूर पाप के नाश हेतु,
अस्थियाँ होम कर दी तुमने,
धर्म ज्ञान की शुभ पुनीत धारा लहराई
हे मुनिश्रेष्ठ भगीरथ !
आज तुम्हारे महामौन से चूर्ण हो गया
विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का दुर्बल जर्जर
हे भारत के हृदय वीर ध्रुवधीर धनुर्धर !
आज तुम्हारे महामौन से धरा व्यथित है
नभ में छिप रोता प्रकाश है
अग्निभड़क उठने को तत्पर
नदियाँ बिलख बिलख रोती है
अगणित आँखे विधुर बन गई
आज दुःख का सिन्धु अगम है
और बन गई शव भव काया !

हे युगाधार, युग निर्माता !
हे युगविभूति युग संस्थापक
हे युगवाणी के चिद्विलास
हे निराधारके चिर सहचर !
हे चिर अभेद्य
हे चिर अछेद्य
हे चिर अनन्त !
हे चिर महान
दे दिया जाति शव को तुमने चिर प्राण-दान !
जो था सदियों से शोषित पीड़ित औ विजड़ित परतन्त्र देश
उसको तुमने स्वाधीन किया
उसको तुमने कर दिया सबल !
भारत अपना आज
विज्ञेय, अजेय आध्येय हुआ।
तुम्हारी अमृतमय वाणी कल्याणी ने
भारत के जन गण मन में प्रेम सुधा बरसायी
जगा देश, जागी आशायें नूतनता भर आई !
तुम जिधर चले बढ़ चला उधर ही यह जग जय

निर्देश किया जिस ओर बढ चले अगणित जनपद !
जडता, पशुता, पैशाचिकता के तुङ्ग शिखर
झुक गये तुम्हारे चरणों पर फिर कोटि कोटि नग !
तुम अप्रतिहत चल दिये जिधर
बर्बरता का डोला आसन
डोली सत्ता
साम्राज्यवाद, सामन्तवाद कापाँ थर थर
चरणों पर झुके तुम्हारे अगणित स्वर्णमुकुट !

हे प्रेममूर्ति, हे दया रूप
हे धर्मनीति के ज्योतिस्तम्भ !
हे सत्य अहिंसा के साधक
हे दलितों के आधार-शिला
भारत के महिमावान सन्त !
तुम हरिजन के महा-महा परिजन परित्राता
आजीवन तुमने जनहित का तप साधा
दलितों को अपनाया, बढ कर सादर गले लगाया !
तुम्हारी सत्य अहिंसा क्षमा त्याग की वाणी
तुम्हारा दृढ निश्चल अनुराग
भारत के मूढ असभ्य अशिक्षित निर्धन
औ शोषित पीडित जन-गणका त्राण बनी ।
तुमने भारत के बिलबिला रहे
उन कोटि-कोटि नर पशुओ को—
अगणित विकलाङ्ग अपङ्गो को
है जगा दिया दे कर आत्मा का स्नेहदान !
उनके क्षत विक्षत घावों को हे नरवरेण्य,
निज त्याग अहिंसा की औषधि से शान्त किया
दे दिया सदा के लिये
उन्हें चिर प्राण-दान !

हे नीलकण्ठ ! हे मृत्युञ्जय ! !
हे वीतराग हे अविनश्वर
कांपी धरती कांपा अम्बर
मानवता के कल्याण हेतु हँस हँस तुमने पी लिया जहर
हे मेरे प्रभुवर शिवशङ्कर
किया धरा को सुधास्नात अपनी वाणी में
क्षमा अहिंसा सत्य त्याग की

शान्ति एकता औ विराग की
शीतल शुभ धारा बरसायी,
मिटे कलह कोलाहल क्रन्दन,
कितने गिरि मरु निर्जन कानन
हो उठे सजग उर्वर प्रांजल !

हे मन मोहन !
तुम चले गये औ भाग्य हमारा रूठ चला
करुणा के अवतारी का धरती से नाता टूट चला।
देव ! तुम्हारे तिरोधान से
धरती का श्रृंगार लुट चला
देव ! तुम्हारे इस प्रयाण मे
भूतल यह श्री हीन हो चला
पर हे ऋषिवर !
यह शक्ति और समता की स्वर्णिम दीपशिखा
अब और न बुझने पायेगी !
अग जग को आलोकित करती शाश्वत बन जलती जायेगी !
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा बापू कभी न होगा निष्फल
हम अगणित सन्तान तुम्हारी
स्वप्न तुम्हारा सत्य करेंगे !
और तुम्हारे स्वप्नो को हम रूप और आकृति भी देंगे।
कश्मल बर्बरता हिंसा से डट कर हम सग्राम करेंगे।
हे विजय दूत ! हे सिद्धान्तो पर
सदा अडिग वैरागी !
हे युग की संस्कृति के व्यापक मूल
अजर अमर हो गया सनातन सेवाग्राम तुम्हारा !
ऋद्धि सिद्धि साधना बन गया सेवा काम तुम्हारा !
गिरि सा उच्चादर्श और वह हिमसा अक्षय हास तुम्हारा
बन प्रकाश का पुञ्ज युगो तक आलोकित करता जायेगा
अग-जग के जन जन के मन को
बन कर शाश्वत विशद चिरन्तन !
चरण-चिह्न जो छोड गये तुम
आने वाला युग चूमेगा !
इसी धुरी पर भारत ही क्या
निखिल-विश्व सुख से घूमेगा !

[शीघ्र प्रकाशित होनेवाली 'किरणवती' संग्रह से]

दो कल्पनात्मक शब्द-चित्र

गांधी और गोडसे !

श्री 'तन्मय' बुखारिया

[१] गांधी

(१)

तुम मुसलमान के आंसू थे,
हिन्दू के मानस की पीड़ा,
युग-युग पद-दलिता नारी की
तुम मे सस्मित थी मृदु व्रीडा !

(२)

हरिजन-अछूत की अंगडाई,
जो चिर सुषुप्ति-पश्चात् सजग,
तुम कोटि शोषितो की कराह,
तुम लँगडी मानवता के डग !

(३)

भारत-स्वातन्त्र्य-वेदिका के
तुम सतत मूक निस्सीम नमन,
युग-युग पर-शासित भारत की
तुम मूर्तिमान् आत्मा, तन-मन !

(४)

तुम गत युग के विश्वास अमर,
नवयुग की आशा स्वस्थ-काय,
तुम अत्याचारो के समक्ष
निर्बल के तनुधारी उपाय !

(५)

तुम ममता के साकार सहज
चिर-साथी, ममता के सम्बल !
तुम कोटि-कोटि मरणोन्मुखी
मुख में पावन गगा के जल !!

(६)

तुम सत्य-अहिंसा के प्रभात,
करुणा की सध्या लाल-लाल !
तुम सबल शत्रु के सम्मुख भी
क्षमता की कोमल कठिन ढाल !!

(७)

जीवन के भावुक स्पन्दन तुम,
तुम मानवता के मुक्त गीत,
तुम देव और दानव–दोनों
के एक रूप मन्मनोमीत !

(८)

तुम चिर-विरोध के मिलन-बिन्दु,
तुम सतत समन्वय की लकीर !
तुम मात्र दया की झोली में
सज्जित मानवता के फकीर ! !

(९)

तुम जन-जन-गज के कृष्ण-बाहु,
तुम शंकर के तीसरे नयन !
तुम मूकों के शाश्वत मुख-स्वर,
तुम थकितों के विश्राम-शयन ! !

(१०)

तुम कातर के निश्कपट हास्य,
तुम दीनों के निर्जल रोदन,
तुम पथभ्रष्ट के लिए एक
सक्रिय, इंगितमय उद्बोधन !

(११)

तुम काया में चिर चित्र-काव्य,
प्राणों में प्रतिभा के अंकन !
साँसों में राग-रागिनी के
चिर बंधन, भावुक आलिङ्गन ! !

(१२)

तुम चिर विराग में मूर्त्त मोह,
चिर-स्थिरतामें गति के कम्पन !
चिर भोग-भूमि में अजय योग,
चिर जड़ता में चंचल चेतन ! !

(१३)

तुम वयोवृद्धि में चिर-यौवन,
चिर मृत्यु-अंक में अमर पूत;
'कामायनि' महाकाव्य के तुम
ही, अनायास ही अग्रदूत !

(१४)

तुम सागर के गाम्भीर्य, सरित
के चिर प्रवाह अपनी गति पर,
उच्चता निछावर कर बैठा
हिमगिरि तुमपर, निज प्रतिकृति पर !

(१५)

तुम पौरुष के परिमाण पूर्ण,
तुम सुषमा के परिणाम सकल !
तुम सावन नयनों में समेट,
ममता के भार-भरे बादल !!

(१६)

शिक्षा-सम्पन्न, सुसंस्कृत भी,
तुम विश्व लीन सन्यास नवल !
तुम चिंतन, मूर्त्त, वैराग्य अलख,
जग में रमते, फिर भी निश्छल !!

(१७)

फक्कड़ कबीर के अटपट सच,
तुम मीरा के लालित्य मधुर,
तुम तुलसी के पाण्डित्य,
सूर की प्रतिभा के विकसित अंकुर !

(१८)

तुम राम-सौम्य के शुचि साधक,,
मर्यादा के पाषाण-लेख !
सीता के नूपुर से सुलझे,
तुम लक्ष्मण की दुर्द्धर्ष टेक !!

(१९)

तुम सत्य-युधिष्ठिर के श्रीमुख
तुम अर्जुन के गाण्डीव धनुष !
तुम युग-दधीचि, युग-हरिश्चन्द्र,
तुम पुन अवलम्बित एक नहुष !!

(२०)

तुम पाणिनि के व्याकरण-सूत्र,
तुम पातंजलि के महाभाष्य !
तुम माघ महाकवि के कवित्व,
भाषा तुम से -चिर-चिर प्रकाश्य !!

(२१)

राणा प्रताप के आग्रह तुम,
तुम शाहजहाँ के सरल न्याय !
तुम भीष्म पितामह के सयम,
तुम दुर्वासा की क्रुद्ध हाय !!

(२२)

तुम गीता के अनुवाद मूर्त्त,
तुम रामायण के छन्द-बन्द !
तुम कृष्ण-चरित के वरनायक,
तुम वाल्मीकि के मनोद्वन्द्व !!

(२३)

तुम कलियुग के सशरीर तीर्थ
तुम नूतन धर्मकर महान् !
दुर्बल कि तुम्हारी काया में
व्यक्तित्व पा गया स्वयं दान !!

(२४)

उपनिषद-पुराणों के निचोड,
तुम वेदों के ओङ्कार नाद !
गीता के जीवित एक ओर
अध्याय, बाइबिल के प्रसाद !!

(२५)

इस्लाम सस्कृति के प्रतिनिधि
पावन कुरान की आयत-से !
लका-जय करने चले राम,
उस अमर जीवनी सायत-से !!

(२६)

तुम भारत के अध्यात्म सतन,
तुम टाल्सटाय के धर्म-बोल !
तुम मार्क्सवाद की मदिरा में,
निजतामृत के शुचि मधुर घोल !!

(२७)

मनुस्मृति के कायिक पुण्यश्लोक,
तुम मूर्तिमान् से रामराज्य !
संध्या की सीधी सी अजान
तुम प्रातः की भोली नमाज !!

(२८)

मंदिर के स्वर्णिम शिखर-कलश
सी कीर्ति तुम्हारी सदा धवल,
शिव-ओष्ठद्वय की सम्पुट तुम,
जिसमें अमृत हो गया गरल !

(२९)

तुम पूजा के शुभ सजे थाल,
तुम प्रथम प्रार्थना के झुकाव।
तुम महादेव की जटा-स्रवित,
हिमगिरि पर गंगा के बहाव !!

(३०)

तुम आत्म-समर्पण के प्रणाम,
तुम अश्रु-बिन्दु पर सच्चे भाव !
अब आज दिवङ्गत होने पर
तुम कोटि मानसों के अभाव !!

(३१)

तुम ईसा के बलिदान, बुद्ध औ
महावीर के तप-संयम !
पैगम्बर अमर मुहम्मद के
खामोश नूर तुम निस्सम्भ्रम !!

(३२)

तुम सम्प्रति के अवगुंठन थे,
भावी-अंचल के ओर-छोर,
तुम सकल सृष्टि के महासिन्धु
की सदा सुहागिनि मृदु हिलोर !

(३३)

जब तक नभ, नभ पर सूर्य-चन्द्र,
नक्षत्रों की दीवाली है !
आकाश अधार अदृश्य और
धरती पर नित हरियाली है !!

(३४)

तब तक इतिहासों की रग में
तुम रक्त-रूप, मेरे बापू !
जन-श्वासों के सिंहासन पर
तुम अमर भूप, मेरे बापू !!

(१२)

मंदिर के प्रति कुठिन कपाट,
 है पूजा के प्रति कर-निषेध !
  साक्षात् मूर्त्ति के मस्तक पर
   है नास्तिक के पाषाण-वेध !!

(१३)

हे पौरुष के शाश्वत अपयश,
 हे मानवता के तिरस्कार !
  हे हिन्दू के अक्षम्य ह्रास,
   हे भारत के भूले विकार !!

(१४)

हे बापू के घातक पालक,
 हम दोष न तुझको देते हैं,
  धिक्कारकार कर, भाग्य स्वयम्
   हम अपना कोसे लेते हैं !

(१५)

क्यों काँपा तेरा हाथ नहीं
 भुज-मूल न टूट गिरी भू-पर,
  पिस्तौल उलट क्यों चल न गई,
   चंचल हो तेरे ही ऊपर !

(१६)

जन्माध हृदय के, हे पापी !
 तू मूढ़ भला क्या जानेगा ?
  जग की कितनी अनमोल हानि,
   हो गई न तू पहचानेगा !

एकता की सच्ची भूमिका

श्री अरविन्द

वैयक्तिक पूर्णता और जाति के जीवन की पूर्णता मानव की अभीप्सा का लक्ष्य है। इस अभीप्सा में हमें उसके भावी विकास के तत्त्वों और उसके प्रयत्नों की कुछ-कुछ झलक मिलती है; किंतु अपने अर्ध-प्रकाशित ज्ञान की धूमिलता में उनकी स्पष्ट झांकी हमें प्राप्त नहीं होती। हम देखते हैं कि उन आवश्यक तत्त्वों में संगति नहीं है, परस्पर-विरोधी पक्षों पर बल है और है प्रारंभिक असंतोषजनक तथा अनमेल समाधानों की भरमार। वे हमारे आदर्शवाद की तीन प्रधान मान्यताओं के बीच चक्कर काटते रहते हैं मनुष्य का, अपने आप में, पूर्ण एकाकी विकास, व्यक्ति की पूर्णता; समाज का पूर्ण विकास, समष्टि की पूर्णता; और व्यक्ति के व्यक्ति तथा समाज के साथ और समाज के समाज के साथ आदर्श या यथासंभव अच्छे-से-अच्छे संबंध—यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे संबन्धों के लिए अवकाश अपेक्षाकृत परिमित ही है। व्यक्ति समाज और इनके पारस्परिक सम्बन्धों में से कभी तो हम व्यक्ति को ही एकमात्र या सर्वोपरि महत्त्व दे देते हैं, कभी समष्टि या समाज को, कभी व्यक्ति और सामाजिक मानव-समष्टि के ठीक तथा संतुलित संबंध को। एक विचार हमें यह बताता है कि मानव का वर्धमान जीवन, स्वतंत्रता और पूर्णता ही हमारे जीवन का सच्चा अनुसरणीय लक्ष्य है, भले ही हमारा आदर्श हो केवल व्यक्ति की स्वतंत्र आत्म-अभिव्यक्ति या पूर्ण मन, सूक्ष्म एवं समृद्ध प्राण तथा पूर्ण शरीरवाला आत्मवान् अखंड व्यक्तित्व, या आध्यात्मिक सिद्धि एवं मुक्ति। इस विचार में समाज मानव के लिए कर्म तथा विकास का क्षेत्र मात्र है और जब यह उसके विचार, उसके कर्म, उसके विकास, उसकी सत्ता की परिपूर्णता की संभावना को यथासंभव विपुल अवकाश, यथेष्ट साधन, प्रचुर स्वातंत्र्य या विकासार्थ मार्गदर्शन प्रदान करता है तो यह अपना कर्तव्य सुचारु रूप से संपन्न करता है। इसके विपरीत एक और विचार सामाजिक जीवन को प्रमुख या अनन्य महत्त्व प्रदान करता है अर्थात् जाति का अस्तित्व तथा विकास ही सब कुछ है। व्यक्ति को समाज के लिए या मनुष्य-जाति के लिए जीना है, अथवा, यहां तक कि वह समाज का एक अवयव

या कोषाणुमात्र है, उसके जन्म का और कोई उपयोग या प्रयोजन नहीं, प्रकृति में उसके अस्तित्व की और कुछ भी सार्थकता नहीं, और कोई कर्तव्य नहीं। अथवा यह माना जाता है कि राष्ट्र, समाज एवं जाति एक सामूहिक सत्ता है, यह अपनी आत्मा को अपनी संस्कृति तथा जीवन-शक्ति में अपने आदर्शों तथा संस्थाओं में और आत्म-अभिव्यक्ति के सभी साधनों में प्रकाशित करती है। वैयक्तिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को संस्कृति के उस सांचे में ढाले, उस जीवन-शक्ति की सेवा करे, सामूहिक सत्ता की पुष्टि और कार्यक्षमता के लिए यंत्रमात्र बन कर रहना स्वीकार करे। एक अन्य विचार के अनुसार मनुष्य की पूर्णता अन्य मनुष्यों के साथ उसके नैतिक एवं सामाजिक संबंधों में निहित है; वह सामाजिक प्राणी है और उसे समाज के लिए, दूसरों के लिए, जाति के हित के लिए ही जीना है; समाज का अस्तित्व भी सबकी सेवा के लिए है, उन्हें सबका ठीक संबंध, शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक सुअवसर, जीवन की ठीक प्रणाली प्रदान करने के लिए है। प्राचीन संस्कृतियों में समाज पर, समाज में व्यक्ति की उपयुक्त स्थिति पर सब से अधिक बल दिया गया था, परंतु पूर्णता प्राप्त व्यक्ति का विचार भी विकसित हो चुका था। प्राचीन भारत में सर्वोपरि विचार था आध्यात्मिक व्यक्तित्व, परंतु समाज का महत्त्व भी कुछ कम नहीं था; क्योंकि इसमें तथा इसके निर्माणकारी प्रभाव की छत्रछाया में मनुष्य को पहले अपनी रुचि, कामना, ज्ञान-लिप्सा, ठीक जीवन यापन की तृप्ति करते हुए देह-प्रधान, प्राण-प्रधान, मन-प्रधान प्राणी की सामाजिक स्थिति में से गुजरना होता था, इसीसे वह अधिक सच्ची आत्म-उपलब्धि और स्वतंत्र आध्यात्मिक अस्तित्व की योग्यता अधिगत कर पाता था। वर्तमान समय में सारे-का-सारा बल उधर से हटाकर जाति के जीवन पर एवं पूर्ण समाज की खोज पर लगा दिया गया है, और फिर हाल ही में इस बात को महत्त्व दिया गया है कि हमें अपनी सारी शक्ति समूची मानव जाति के जीवन के ठीक संगठन एवं वैज्ञानिक यंत्रवत्करण में लगानी चाहिए। इस युग की प्रवृत्ति व्यक्ति को अधिकाधिक ऐसा समझने की ओर है कि वह समष्टि का अंशमात्र है, जाति की एक इकाई है, जिसकी सत्ता को संगठित समाज के सांझे उद्देश्यों तथा सामूहिक हित के अधीन करना होगा, व्यक्ति को अब ऐसा मनोमय या आध्यात्मिक प्राणी तो बहुत ही कम या बिल्कुल ही नहीं समझा जाता, जो अपने अस्तित्व के लिए कोई निजी अधिकार और सामर्थ्य रखता हो। यह प्रवृत्ति अभी सब जगह अपनी पराकाष्ठा को तो

नहीं पहुंची है, पर सर्वत्र यह वेग से बढ़ रही है तथा अपना अधिकार जमाने के लिए सिर उठा रही है।

इस प्रकार, मानव विचार के उतार-चढ़ावों में, एक ओर तो व्यक्ति को ऐसी प्रेरणा या आमंत्रण प्राप्त होता है कि वह अपने निज अस्तित्व, अपनी आत्मप्रतिष्ठा, अपने मन-प्राण-शरीर के वैयक्तिक विकास, अपनी निजी आध्यात्मिक सिद्धि का अनुसंधान एवं अनुसरण करे; दूसरी ओर उससे यह मांग की जाती है कि वह अपने आपे को मिटा कर समाज के अधीन कर दे तथा समाज के विचारों, आदर्शों, इच्छाओं, प्रवृत्तियों तथा स्वार्थों को ही अपने निज के माने। विश्वप्रकृति उसे प्रेरित करती है कि वह अपने लिए जीये तथा उसके अंदर गहराई में स्थित कोई वस्तु उसे प्रेरित करती है कि वह अपने व्यक्तित्व को दृढ़तापूर्वक संपुष्ट करे; समाज तथा एक प्रकार का मानसिक आदर्शवाद उससे अनुरोध करता है कि वह मानवता के लिए या समाज के अधिक महान् हित के लिए जीवन बिताये। परार्थवाद का सिद्धांत अहं और उसके स्वार्थ के सिद्धांत से टकराता और उसका विरोध करता है। राष्ट्र अपने को ईश्वर की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर उससे आज्ञापालन, अधीनता, वश्यता तथा आत्म-बलिदान की मांग करता है; व्यक्ति के इस अतिशय मांग के विरोध में अपने आदर्शों, अपने विचारों, अपने व्यक्तित्व, अपनी विवेकबुद्धि के अधिकारों को दृढ़ता से स्थापित करना होता है। आदर्शों के इस सब संघर्ष का स्पष्ट ही यह मतलब है कि मनुष्य का अज्ञानग्रस्त मन अपना मार्ग इधर-उधर टटोल रहा है और सत्य के विभिन्न पार्श्वों को ही पकड़ पाता है, किंतु अपने ज्ञान में समग्रता न होने के कारण उनका एक साथ समन्वय करने में असमर्थ है। एकीकारक और समन्वयसाधक ज्ञान ही मार्ग को उपलब्ध कर सकता है, वह ज्ञान हमारी सत्ता के एक अधिक गहरे तत्त्व का निज गुण है, एकता और समग्रता उस तत्त्व के स्वाभाविक धर्म है। उसे अपने अंदर उपलब्ध करके ही हम अपने अस्तित्व एवं जीवन की समस्या हल कर सकते हैं और साथ-ही-साथ वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन यापन की सच्ची प्रणाली की समस्या भी।

क्षमामूर्ति सुभूति

[कहानी]

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

दिन के बारह बज गये थे, पर सूर्य के दर्शन नहीं हुए। निर्जन उद्यान। पानी बरस रहा था। हवा के झोंकों से दिशाएँ सांय सांय कर रही थीं। रनियां अपनी झोपड़ी में प्रसव पीड़ा से छटपटा रही थी। उसे एक एक क्षण दूभर हो रहा था। आज वह बगीचे में बुहारी देने भी नहीं जा सकी। उसे अपनी भावी सन्तति के मुंह देखने की आशा ही जीवित रखे थी। वह बार बार बेहोश हो जाती थी।

उद्यान में शान्तिषेण मुनि के पास सेठ नन्दिमित्र अपनी पत्नी सोमाके साथ बैठे हुए थे। सबने झोपड़ी से रह रह कर आनेवाली कराह सुनी। मुनिराज के आदेशानुसार नन्दिमित्र और सोमा झोपड़ी में गए तो देखा कि नवजात शिशु पास में पड़ा है और रनियां बेहोश है। सेठ रनियां को जानते थे, वह शूद्रा थी। वे बड़ी असमंजस में पड़े। पर निःसन्तान सोमाका मातृत्व फूट पड़ा और उसने तात्कालिक उपचार किया। रनियां ने आखिरी बार आंखें खोलीं और अपने बच्चे की ओर देखा। वह फिर बेहोश हो गई। बेहोशी में ही बड़बड़ाई.....मां.......मां...रक्षा.....रक्षा.. और सदा के लिए उस महाकाल की गोद में समा गई, जहां गोरे काले और ब्राह्मण शूद्र का कल्पित भेद नहीं रहता।

सोमा बालक को पाकर फूली न समाई। उसने उसे बड़े लाड़चाव से पाला पोसा। उसका नाम रखा गया सुभूति। सुभूति के आने से सेठ के भवन में चहल पहल हो गई। वह हरा भरा हो रहा था।

*

सुभूति को मातृत्व देने के सोलह वर्ष बाद सोमा गर्भवती हुई और उसने एक शिशु पाया। चांदनी-सा शीतल, पानी-सा निर्मल, आंखों-सा प्यारा और बुलबुल-सा चुलबुला। आज सेठ के यहां पुत्र का जन्मोत्सव है। सभी प्रतिष्ठित नागरिक सेठ को बधाइयां देने आ रहे हैं। बाजे बज रहे हैं। बधावे गाए जा रहे हैं। एक खासा मेला लगा हुआ है। कुँवर सुभूति बड़े उत्साह से अपने मित्रों के साथ उत्सव के आयोजन में व्यस्त है। उसकी आंखों से जवानी झांक रही थी। वह यौवन की उत्ताल तरंगों को अपने में नहीं समा सक रहा था।

इसी उत्सव में सेठ नन्दिमित्र के अभिन्न सहचर पुष्यमित्र ने सुभूति की शादी की चरचा चलाई। नन्दिमित्र को अब औरस पुत्र प्राप्त हो गया था। वे यह भूल गए कि उनकी जिन्दगी के सोलह वर्षों को सुभूति ने ही हरा भरा रखा था, उनके एक अभाव की पूर्ति की थी। उनने पुष्यमित्र के कान में धीरे धीरे कह दिया कि मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर यह रनियां का ....। चारों ओर खुसखुसाहट होने लगी.... रनियां का लड़का, रनियां का लड़का।

सुभूति मेहमानों को पान बांट रहा था। सहसा किसीने उसके हाथ हाथ से पान की तश्तरी ले ली। सुभूति सारे रहस्य को समझ गया। वह चुपचाप वहां से चल दिया। उसे ऐसा लगा जैसे वे सब मेहमान और वह सारा उत्सव उसे काटने को दौड़ रहे हों। एक क्षण पहिले का कुँवर सुभूति अब रनियां का लड़का था।

वह सीधा उद्यान में आया और पेड़ के नीचे बैठ कर सोचने लगा कि यह संसार कितना भौतिक है, जो इस जड़ हाड़ मांस के द्वारा आत्मा की उच्चता नीचता नापता है। जो पिताजी आज तक मुझे प्राणाधिक प्यार करते थे और सदा गुरुराज शान्तिषेण से जातिवाद की असारता सुनते आए, आज औरस पुत्र होते ही उनने मुझे भरी सभा में अपमानित कर डाला? कल ही तो गुरुराज को हमने आहार दिया था और उनने अपने धर्मोपदेश में बताया था कि—"यह सब जातियों का भेद अपने अपने आचरण से है। किसी में ब्राह्मण आदि जातियां निश्चित नहीं हैं। ये सब व्यवहार मात्र हैं। जातियां गुणों से ही प्राप्त होती हैं और गुणों के नाश से नष्ट हो जाती है।"[१] मनुष्य कितना स्वार्थी है। अपने नवजात पुत्र के उत्तराधिकार की रक्षा के लिए वे सब धर्म-कर्म भूल गए। यह जन्मानुगत आर्थिक व्यवस्था ही इन भेदों की जड़ है। इसने समाज के सैकड़ों टुकड़े कर स्थिर स्वार्थियों की सृष्टि की है। कहां अपरिग्रह और अहिंसा का उपदेश और कहां यह परिग्रहाश्रित विषम व्यवहार! गुरुदेव ने कल ही समझाया था कि—"यह वर्ण-व्यवस्था भोगवादियों के द्वारा रची गई है और वे अपने जन्मजात स्थिर स्वार्थों के संरक्षण के लिए, अपने आभिजात्य अहंकार के पोषण के लिए इसका सम्बन्ध ईश्वर से भी जोड़ते हैं।" उनने कितने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "भगवान् महावीर ने अपने जीवन में एक ही कार्य किया था और वह था जन्मजात वर्ण-व्यवस्था का मूलोच्छेद।

---

१ "आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्। न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी॥ —अमितगति, धर्मपरीक्षा, १७।२४।

उनके समवसरण में प्राणिमात्र अपने कल्पित भेदों को भूलकर समान भूमिका पर बैठते थे और उनकी अर्धमागधी ('जनबोली') भाषा के उपदेश सुनते थे। समवसरण का अर्थ ही यह है कि जहां (सम-समानभावेन अवसरन्ति यत्र प्राणिनः तत् समवसरणम्) सभी प्राणी समानभाव से अपने व्यावहारिक भेदों को छोड़ कर प्राप्त हों वह समवसरण। अपनी भीतरी अयोग्यता या तीव्र मिथ्यात्व के कारण अभव्य या अभद्र मिथ्यादृष्टि भले ही स्वयं वहां न जांय पर समवसरण के द्वार पर यह तख्ती नहीं टंगी थी कि 'अमुक यहां आवें।' वस्तुतः जैनधर्म तो पतितपावन है। जिनके धर्माधिकार और समुन्नति के अवसर स्वार्थी वर्ग ने छीन लिए उन दलित मानवों को इस पावन धर्म ने मानव समझा। उन्हें अपने खोए हुए अधिकार और भूले हुए कर्त्तव्य का भान कराया।"

अब मैं इस भौतिक स्वार्थी संसार में नहीं रहूंगा, नहीं रहूंगा। मैं उस पार जाना चाहता हूँ, जहाँ समता स्वतन्त्रता और शान्ति की उपासना होती है। सुभूति की आंखों से आंसू बह रहे थे। वह भर्राए गले से गुनगुना उठा :—

'चलो चलें उस पार जहा मानव केवल मानव है'

*

आज सुभूति जगत् के परिग्रह को छोड़ कर निर्ग्रन्थ साधु था। अपने अगाध ज्ञान, ओजस्विनी वाणी और निर्मल आचरण से उसने साधु संघ में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। उसके प्रभावशाली प्रवचनों से श्रोता मन्त्रमुग्ध रह जाते थे। उसके इस अल्पकाल में ही जमे हुए प्रभाव और व्यक्तित्व से संघ के ही कुछ साधु भीतर ही भीतर ईर्षा करने लगे। वे आपसी चरचा में श्रमण सुभूति को 'शूद्र' कहने में नहीं चूकते थे। संघ में अमरसेन साधु जन्म से ब्राह्मण थे। श्रमण होने पर भी उनका आत्मभिमान अभी नष्ट नहीं हुआ था। वे सुभूति से विशेष रूप से चिढ़ते थे। आखिर एक दिन भरी सभा में अमरसेन ने सुभूति को 'शूद्र' कह दिया। श्रावकों ने जब अमरसेन के द्वारा सुभूति का यह तिरस्कार देखा तो उनसे न रहा गया और उनने संघाधिपति आचार्य अमितगति से यह सब बात कही। सुभूति उस समय चुप रहे और सोचने लगे कि इस वर्णव्यवस्था की जड़ें कितनी गहरीं हैं, जो आत्मगवेषी साधुओं में भी बद्धमूल हैं। पानी में भी आग लगी हुई है। बाहर भी आग है, भीतर भी आग है, चारों ओर आग ही आग है।

आज आलोचना-प्रतिक्रमण का दिन था। समस्त संघ आचार्य अमित-गति के पास उपस्थित था। सब अपने अपने दोषों को निवेदन कर उनका प्रायश्चित्त लेकर आत्मशोधन कर रहे थे। जब क्रमशः प्रायश्चित्त विधान पूर्ण हो गया और स्वात्मनिवेदन करनेवाला कोई नहीं बचा, तब आचार्य ने अत्यन्त खिन्न चित्त से आवेशक स्वर में पूंछा–'आवुसो, क्या संघ में अब किसीको आलोचना नहीं करनी है?' सब शान्त और निस्तब्ध थे। पुनः आचार्य ने द्वितीय बार पूंछा–'क्या आलोचना विधि पूर्ण की जाय?' तीसरी बार भी यही पूंछा। संघ में कोई भी नहीं बोला। तब आचार्य ने कठोरता पूर्वक कहा—संघ ध्यान से सुने। अभी एक अपराधी की आ-लोचना शेष है। खेद है कि उसे अपने दोष का भी भान नहीं है। श्रमण अमरसेन खड़े हो जांय। इन्होंने संघ का अवर्णवाद (मिथ्या दोष) किया है। इनने आवुस सुभूति को 'शूद्र' कहा है। क्या आवुस अमरसेन अपने इस महादोष को स्वीकार करते हैं?

अमरसेन ने माथा नवाकर आचार्य से कहा—भन्ते, अवश्य मैंने सुभूति को 'शूद्र' कहा है, सो इसलिए कि ये शूद्रा रनिया से उत्पन्न हुए हैं।

आचार्य ने संघ को संबोधित कर के कहा—संघ सुने। साधु दीक्षा लेने के बाद गृहस्थ अवस्था की व्यावहारिक जातियों और वर्णों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। यदि हमारी कोई जाति बची है तो वह है मनुष्य-जाति। इस श्रामण्य महासागर में सब एक रूप हैं। अमरसेन यह भूल जाते हैं कि श्रमण-संस्कृति के सम तत्त्व ने हमें मानव समानता ही नहीं प्राणि मात्र की 'सत्त्वेषु मैत्री' का पाठ पढ़ाया है। हम समस्त परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ हुए हैं। हम सब जातरूप हैं। हममें क्या भेद है? इसके 'शम' तत्त्व ने हमारे समस्त विकारों को जिनमें जाति वर्ण कुल का अहंकार और मद शामिल है, शान्त करने का, इन पर विजय पाने का उपदेश दिया है।

इसके 'श्रम' तत्त्व ने स्वावलम्बी जीवन की शिक्षा दी है। हम अपने जीवन में चरम स्वावलम्बी बनें। हमने कपड़े तक का त्याग इसलिए किया है कि हमारा वस्त्र सम्बन्धी परावलम्बन नष्ट हो जाय। व्यवहार में शूद्र वर्ण की सृष्टि परावलम्बन के निकृष्ट रूप से हुई है। मानव समाज के एक बड़े भाग को इन स्वयं श्रम करने वाले परावलम्बी स्थिर स्वार्थियों ने इसलिए 'शूद्र' बनाया जिससे वह वर्ग इनकी सदा सेवा करता रहे। उसकी उन्नति के सब द्वार रोक दिए गए। उसे जूठा खाने और फटे वस्त्र पहिनने का विवश किया गया और धर्म कर्म के अधिकारों को छीन कर

उसे दीन हीन पदवलित किया। श्रमण-संस्कृति के 'श्रम' तत्त्व ने उस परा-वलम्बन रूप आधार को ही समाप्त किया है जिस पर इस शूद्र वर्ण की सृष्टि की गई। उसकी पवित्र घोषणा है कि सब आत्माएँ स्वतन्त्र हैं, एक का दूसरे पर कोई जन्मजात स्वामित्व नहीं है। अपना काम स्वयं करो। कोई भी काम बुरा नहीं है।

अमरसेन यह भी भूल गए कि—किसी साधु को 'शूद्र' कहना संघ का अवर्णवाद है। शास्त्र में संघ के अवर्णवादको अनन्त मिथ्यात्व के कारणों में गिनाया है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट लिखा है (शूद्रत्वा-शुचित्वाद्याविर्भावना सघावर्णवाद.) कि साधु को शूद्र कहना अशुचि आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। कोई व्यक्ति गृहस्थावस्था में व्यवहारार्थ शूद्र कहा भी जाता हो पर श्रमण-संघ में दीक्षित होने पर उसका वह वर्ण समाप्त हो जाता है। वह उच्च गोत्री हो जाता है। संयम से गोत्र में परिवर्तन हो जाता है। साधु को परस्पर तो वर्ण-भेद मूलक व्यवहार करना ही नहीं चाहिए पर वह श्रावकों में भी यह भेद नहीं रख सकता। क्या हम सब व्रती शूद्र के यहां आहार नहीं लेते? अतः अमरसेन ने आवुस सुभूति को 'शूद्र' कहकर संघ का अवर्णवाद किया है और स्वयं अपने दोष को स्वीकार न कर दूसरा अपराध भी किया है। क्या आवुस अमरसेन अपने दोष को स्वीकार करते हैं?

आचार्य के इन मर्मस्पर्शी वचनों को सुन कर समस्त संघ गद्गद हो रहा था, सब की आंखों से आंसू बह रहे थ। अमरसेन पानी पानी हो रहे थे। उनने भरे हुए गले से कहा—क्षमा, आचार्य क्षमा! मिच्छामि दुक्कडं —मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। मैं आर्य सुभूति से क्षमा मांगता हूँ। आर्य मुझे क्षमा करें। यह कह कर वे सुभूति के पैरों पर गिर पड़े।

सुभूति किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहे थे। इतनी मानवता, समता, वीतरागता और अहिंसा के जीवन्त दर्शन उन्हें आज ही हुए थे। उनने अमरसेन को उठाते हुए कहा—तात, आप यह क्या कर रहे हैं, मै आप से लघु हूँ। आचार्य ने अमरसेन को प्रायश्चित्त दिया। अमरसेन की आत्मा उससे भी तुष्ट नहीं थी। उनने आचार्य से कहा कि—यद्यपि मै संघ में ज्येष्ठ हूँ पर आज से मैं सुभूति को प्रथम नमस्कार करूंगा।

सुभूति का जीवन वीतराग हो गया। उनने अमरसेन को कभी प्रथम नमस्कार नहीं करने दिया और न स्वयं उनसे 'तात' कहना ही छोड़ा।

क्षमामूर्ति सुभूति संघ में उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

विश्वशान्ति और कामायनी

प्रो० पद्मनारायण आचार्य

विश्वशान्ति में विश्वसाम्य, विश्वबन्धुत्व और विश्व-स्वातन्त्र्य का होना आवश्यक माना जाता है। इसीलिए इस एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तीन प्रकार के प्रयत्न हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। बुद्धिवादी शान्ति-सेवक विश्व को एक सारस्वत नगर बना कर पूरे विश्व को एक समतल बनाना चाहते हैं। कवि विश्वप्रेम के प्रचार और प्रसार से विश्व भर को एक कुटुम्ब बनाना चाहते हैं। और राजनीतिक नेता सभी राष्ट्रों को राजनैतिक स्वातन्त्र्य दे कर विश्व को एक समृद्ध और शान्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं। इस प्रकार सभी विजयवादी सेवक दृढ़ता के साथ यत्न करते और कहते हैं कि विश्वशान्ति शीघ्र स्थापित हो जावेगी।

दूसरी ओर विश्व की वेदना और विषमता देख कर मनुष्य घबड़ा उठे हैं। जितनी ही ऊंची पुकार हम शान्ति की सुन रहे हैं उतनी ही अधिक अशान्ति विश्व में बढ़ रही है। इसलिए एक बात हमने स्थिर कर ली है कि तर्क वितर्क छोड़ कर हमें अनुभवी सेवकों के अनुभवों पर विचार करना और देश-काल-पात्रानुसार यथाशक्ति विश्वशान्ति के मार्ग से चल कर देखना है कि विश्वशान्ति का स्वरूप क्या है। हमें यह भी मालूम है कि इस कर्मयोग के मार्ग में उत्साह और आनन्द सदा हमारे साथ रहते हैं।

इतनी भूमिका के साथ हम कामायनीकार विश्व-कवि जयशंकर प्रसाद के अनुभवों पर विचार करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि उन्होंने विश्व को मौन सेवा का मार्ग दिखाया है। कामायनी "मौन सेवा का महाकाव्य है"।

मौन सेवा इस युग का सब से ऊंचा आदर्श है। उसमें सरलता, स्वास्थ्य, सौंदर्य और प्रेम सभी कुछ है। वह स्वयं सेवा का पूर्ण रूप है। यद्यपि इस मौन सेवा के पथ में वेदना और आत्मसमर्पण से ही सफलता मिलती है तो भी उसमें आनंद और आत्म-विकास का अधिक से अधिक अवसर मिलता है। इसकी यही सब से बड़ी विशेषता है कि यहाँ विश्व-सेवा और आत्म-सेवा का समन्वय हो जाता है। 'एकै साधै सब सधै।'

संक्षेप में मौन सेवा का साध्य होता है विश्वशान्ति और अखंड आनन्द, उसका साधन है आधुनिक युग का वेदनावाद अर्थात् वेदना का रहस्य

पहचान कर उसको वरदान मानना। सिद्धान्त है आनन्दवाद जिसके अनु-सार मानव का आदि मध्य और अन्त आनन्द में होता है। और इस सिद्धान्त का अनुसरण वही मनुष्य कर सकता है जिसे अपना व्यस्त जीवन सुलझाना है। अर्थात् इस मौन सेवा का साधक विश्व का कोई भी मनन-शील अथवा श्रद्धालु प्राणी हो सकता है। जिसे कुछ करना है वह या तो स्वयं चिन्तन करके आगे बढ़ता है अथवा विश्वास करके श्रद्धा के मार्ग पर चलता जाता है।

मौन सेवा के जिन चार तत्वों का इस प्रकार कामायानी में प्रतिपादन हुआ है उनका यदि ध्यान से स्वाध्याय किया जाय तो सेवाव्रती को इस युग की सभी उलझनों का सुलझाव मिल जायगा। सीधे-सीधे देखने से संसार में विषमताएं, जटिलताएं और उलझनें अनेक और अनन्त है पर कर्मशील व्यक्ति जब कर्मपथ में आरूढ़ हो जाता है तब मुख्य उल-झनें केवल पांच रह जाती हैं। (१) सब से पहले साधक और सेवक को जड़ता और विलंब का अनुभव होता है उससे वह बार बार यही सोचने लगता है कि मेरा आरंभ बिन्दु ही ठीक नहीं है। इसीलिए कामायनी के कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि सफलता सब को मिलती है। तपस्या, श्रद्धा, बुद्धि, कर्मयोग, आदि किसी भी बिन्दु से आरंभ कर दो। उत्साह के साथ बढ़े चलो। सफलता मिलना पहले से ही स्थिर है। मनु ने तपस्वी जीवन से आरंभ किया, श्रद्धा ने हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य से अध्यास बढ़ाया, इड़ा ने बुद्धि के मार्ग से राष्ट्रयज्ञ आरंभ किया और मानव ने 'अभयकर्म' को माँ की आज्ञा से अपनाया। पर पहुंचे सभी एक ही आनन्द लोक में। सभी अन्त में सफल होते हैं। अतः संकल्पवान् होना चाहिए। एक बार सेवा का संकल्प ले लिया तो आगे का मार्ग दृढ़ से दृढ़तर बनाते चलना चाहिए। पीछे के बिन्दु पर विचार करना व्यर्थ होता है। और इसी प्रकार सफलता के भविष्य की चिन्ता करना भी अनुचित होता है। क्यों कि सफलता तो ध्रुव सत्य है—सब की नियति है। हमें विलंब, कुटि-लता अथवा अभाव का अनुभव तभी होता है जब हम सफलता के आनन्द के योग्य अधिकारी नहीं होते हैं। जो योग्य होते हैं उन्हें सफल होने में विलंब नहीं होता। उनका मार्ग बहुत सरल हो जाता है और उनके जीवन में कोई सच्चा अभाव रहता ही नहीं।

दूसरी उलझन होती है साध्य की। अपने-अपने आदर्श की व्याख्या और मीमांसा कर के हम अपने साथियों को साथ ले चलना चाहते हैं। यहीं पर संसार के सब वादों का जन्म और संघर्ष होता है। हमारे वाद

की विशेषता यह है कि आनन्द सब का स्वीकृत साध्य है। भौतिकवादी भी किसी न किसी रूप में आनन्द की ही खोज में हैं और अध्यात्मवादी सभी आनन्द चाहते हैं। आनन्द के स्वरूप में मतभेद हो सकता है पर उसके पाने की इच्छा सभी में विद्यमान है चाहे जान में अथवा अनजान में। हमारे 'मौन सेवा के अनुभवी कवि प्रसाद इतना ही अधिक कहते हैं कि आनन्द की प्रेरणा से ही प्रत्येक मानव विकास कर रहा है अतः आनन्द सब का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह आनन्दवाद का सिद्धान्त आज अनुभवी दार्शनिकों और सेवकों को एक स्वर से ग्राह्य है। सरल सभ्य जन भी इसको सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।'

तीसरी उलझन होती है साधन की। हम सभी लोग सरल और सुगम साधन खोजते हैं। कवि ने अपने पूर्वज ऋषियों और स्वयं अपने निजी जीवन का अनुभव लिखा है कि 'वेदना' सरलता से मिलती है और वह छिपा हुआ वरदान है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सेवा के बदले वेदना (मूल्य में) चाहने लगे तो संसार में विशेष कर आधुनिक युग में किसी को धन की कमी नहीं रहेगी। वेदना की धारा गंगा के समान अखंड रूप से बह रही है। अतः वेदना का मूल्य पहचानना ही सेवा की योग्यता है।

चौथा प्रश्न है सिद्धान्त का। उपनिषद् से लेकर कामायानी तक के महापुरुषों ने जिस आनन्दवाद की व्याख्या की है उसमें दो विशेषताएँ हैं—(१) उसमें आधुनिक युग के राष्ट्रवाद, यथार्थवाद, भौतिकवाद आदि का पूरा समन्वय होता है और (२) साथ ही उसमें भारतीय परंपरा से भी मेल बैठ जाता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में वह तरलता और जीवन्त शक्ति है जो सब की बुद्धि को तृप्त कर देती है, क्यों कि वह कल्याण मार्ग के पथिक के अनुभवों से बना है।

पाँचवीं उलझन स्वयं सेवक अथवा मौन-सेवक की यह होती है कि वह दो संदेहों से कभी कभी ग्रस्त होता है; पहला संदेह यह कि क्या यह मौन सेवा का मार्ग ठोस व्यवहार में आ सकता है? सभी सिद्धान्तों और वादों में यही दोष आता है कि उसके विश्वव्यापक व्यवहार और फल का इतिहास हमें मालूम नहीं है। दूसरा संदेह यह होता है कि क्या यह मार्ग व्यक्तिगत है? यदि यह व्यक्तिगत नहीं है तो इससे विश्वशान्ति का लक्ष्य पूर्ण होने तक क्या व्यक्तिगत विकास की स्वतन्त्रता नष्ट करनी पड़ेगी। ये दोनों संदेह मौन-सेवा में नहीं है क्योंकि इस मार्ग में सेवा का 'प्रयोग' नहीं, 'अनुभव' होता है। अपने संकल्प में दृढ़ रह कर सेवक जितना अनुभव करता है उससे आगे बढ़ता है। बढ़ने में वह बड़े पुरुषों के अनुभव

से दो बातें स्मरण रखता है कि मनुष्य 'नियति का दास' है और 'प्रकृति का अनुचर' है।

उपसंहार में दो बातें समझ लेना चाहिए। एक तो इस मौन सेवा का संकल्प लेनेवाला मनुष्य एक रहस्य जानता है।

'कल्याणभूमि है लोक यही' इसी श्रद्धा के रहस्य को जानने से वह संसार में सब को अच्छा कहता और मानता है।

'सम रस है जो कि जहाँ है।'
'यही (विश्व) भूमा का दान।'

और वह विश्व का रहस्य इस प्रकार खोजता हुआ आगे बढ़ता है कि उसे दुख का विष भी अमृत का फल देता है। ऐसे मधुर जीवन के व्यक्ति का विश्वास हो जाता है कि मेरे साथी सिखाने और सुधारने से अच्छे नहीं हो सकते। वे अच्छे हैं, मुझे प्रिय लगते भी हैं। अब मुझे इतना अभ्यास करना है कि मैं मौन हो कर सद्व्यवहार करता चलूं। आप से आप सहज में ही प्रेम और मेल का बंधन दृढ़ होता जायगा। वह जानता है कि आज तक जितने लोगों ने विजय प्राप्त की है वे सब मौन होकर आगे बढ़ते जाते हैं उन्हें दूसरों का विचार करने का अवकाश कहाँ।

अब दूसरी बात अर्थात् अंतिम प्रश्न है कि मौनसेवा का ज्ञान और अनुभव कैसे हो। बहुत से उपाय हैं। जिसे कुतूहल होता है उसे कुतूहल शान्ति का मार्ग मिल जाता है। मनु को मनन से मिला, श्रद्धा को ललितकला के ज्ञान और प्रकृति निरीक्षण से मिला, इडा को कामायनी के सत्संग से मिला और मानव को माँ की पुकार सुनने से मिला। पर इन चार उपायों से सरल उपाय है चुने हुए साहित्य का अनुशीलन-स्वाध्याय का जीवन। प्रसाद के अनुसार कामायनी वह महा-साहित्य है जिसे पढ़ कर हमें अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार मौनसेवा का प्रथम बिन्दु मिल सकता है। यह आलोचना दिग्दर्शन मात्र है।

विषमता की पीडा से व्यस्त
रो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान

शान्ति की राह

श्री विष्णु प्रभाकर

(१) अहंकार का नाश

विश्व के कोने कोने से शान्ति के उपासक शान्ति-दूत की कुटिया में आकर इकट्ठे हुये। वे संसार के युद्ध और संघर्ष से ऊब उठे थे और शान्तिकी राह खोज निकालना चाहते थे। उनके साथ दर्शक भी आये, सम्बाददाता भी पहुँचे। वे शान्तिका सन्देश घर-घर पहुंचा देना चाहते थे। उन्हें सामग्रीकी आवश्यकता थी। लेकिन शान्ति के लिये संघर्ष करना पड़ता है। एक बेचारे सम्पादक सुबहसे शाम तक उपासकों की उपासना करते, परन्तु उत्तर यही मिलता, 'समय नहीं है।'

शान्ति के उपासक और समय का अभाव उन सम्पादक ने उस तर्क को मानने से इन्कार कर दिया। संघर्ष और भी तीव्र हुआ। सम्पादक को कुछ सफलता भी मिली; परन्तु इसी बीच उन्हें एक फोटोकी आवश्यकता आ पड़ी। उसमें सभी उपासक एक स्थान पर उपस्थित थे। वे अधिकारी के पास पहुंचे और एक प्रतिकी मांग की। अधिकारी ने उत्तर दिया मेरे पास प्रतिनिधियों की प्रतियां हैं, उसके अतिरिक्त नहीं।

सम्पादकने फिर प्रार्थना की, पर व्यर्थ, वे बड़े अधिकारीके पास पहुँचे। उसका उत्तर भी आश्वस्त करनेवाला नहीं था फिर भी उन्होंने छोटे अधिकारीको लिखा कोई अतिरिक्त प्रति हो तो इन सम्पादक को दे दो।

यह पत्र पाकर छोटा अधिकारी और भी अशान्त हो उठा। उसने कहा, "मेरे पास कोई प्रति नहीं है।"

सम्पादक बोले, "देखिये तो।"

"मैं देख चुका" छोटे अधिकारीने धैर्य खोकर कहा, "मेरे पास गिनी हुई प्रतियां आई थीं।"

"पर कोई ऐसे भाई भी तो होंगे जो फोटो नहीं लेना चाहेंगे।" सम्पादकने फिर तर्क किया।

"ऐसा कोई नहीं है।"

"तो आप हमारे लिये एक प्रति मँगवा दीजिये।"

"यह हम नहीं कर सकते। आप ले जाइये। फोटोग्राफर शहरमें रहता है।"

"पर उसका पता.......?"

निश्चय ही छोटा अधिकारी तब तक बिल्कुल धैर्य खो चुका था। उसने

झुंझला कर कहा "आप मुझे परेशान कर रहे हैं। मेरे पास एकदम समय नहीं है। पता फोटो के माउन्ट पर लिखा होगा। देख लीजिये।"

सम्पादक सम्भवतः इस उत्तर के लिये तैयार नहीं थे। कुछ तीव्र होकर बोले, "आप कैसी बातें करते हैं? क्या हमारे पास ही फालतू समय है?"

अधिकारीने और भी तीव्र होकर कहा, "मैं आपसे अधिक बातें नहीं कर सकता। मुझे शान्ति-सम्मेलन का काम करना है।"

"तो क्या आप समझते हैं, फोटो मुझे अपने घर में टांगना है। मैं भी शान्ति-सम्मेलन के लिये काम करने आया हूँ। मैं आपके कामका प्रचार करना चाहता हूँ। मैं अपने पत्र का 'विश्व शान्ति अंक' निकाल रहा हूँ।"

लेकिन यह तर्क थके हुये अधिकारीको शान्त न कर सका और संघर्ष बढ़ता चला गया और कुछ ही क्षण में उस संघर्ष से उत्पन्न कड़वे धुंए ने वातावरण को ढक लिया लेकिन बातें आगे बढ़ें कि मित्र लोग सम्पादक बन्धु को बाहर ले आये। अधिकारी को काम करना ही था, झुंझलाता हुआ वह टाइप की मशीन पर जा बैठा।

जैसे बात बीत गई। जो लोग वहां इकट्ठे हो गये थे वे मुस्कराते हुये चले गये। निश्चय ही वे सोच रहे थे "शान्ति के लिये घोर संघर्ष करना होगा।" सम्पादक बन्धु बहुत देर तक बाहिर एक प्रतिनिधि से शान्ति की चर्चा करते रहे। कर चुके तो वे फिर अन्दर की ओर मुड़े। मित्रो को डर हुआ कि कहीं यह संघर्ष फिर न शुरू हो जाय; लेकिन हुआ यह कि अधिकारी के पास जाकर उन्होंने कहा "अच्छा, मैं अब जा रहा हूँ। लाओ, मुझे अपना हाथ दो.......।"

और उन्होंने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। अधिकारी की कुछ समझ में नहीं आया। चकित होकर उसने कहा "नहीं, नहीं......!"

"नहीं कैसे?" सम्पादक ने स्नेहपूरित स्वर में कहा, "हमें मित्र की तरह विदा होना चाहिये। मुझे खेद है, मैं तेज हो गया था।"

"नहीं नहीं, मैं इस योग्य नहीं हूँ, मैं थका हुआ हूँ......।"

पर सम्पादक ने उनकी बात नहीं सुनी। आगे बढ़कर उनका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उसे स्नेह से हिलाया और कहा, "अब ठीक है। हम मित्र हैं, प्रिय मित्र!"

अधिकारी मुस्कराने लगा, उसकी आंखो में कृतज्ञ स्नेह उमड़ आया था और मित्र उस पुनर्मिलन से पुलकित हो उठे थे।

(२) घृणा पर विजय

बेल्जियम की वीरता कहावत बन गई है। पहिले विश्वयुद्ध में उसने रक्त की अन्तिम बूंद बहा कर शत्रु को अपने देश में आने दिया था।

दूसरे विश्वयुद्ध में भी वह उसी अनुपम वीरता से लड़ा; परन्तु रक्त की आखिरी बूंद गिरने से पूर्व ही बर्बर जर्मन सैनिकों ने उसे आत्मसमर्पण के लिये विवश कर दिया। उसके बाद जर्मन सैनिकों ने उस घायल देश पर जो अत्याचार किये, उनकी कल्पना करके दानवता भी सिहर उठती है।

देश के नेताओं ने यह सब कुछ देखा और वे तड़प कर रह गये। प्रसिद्ध जन-नेत्री श्रीमती मान्चा यूरस युद्धसे घृणा करती थीं। वे शान्ति की उपासिका थीं; पर जर्मनों के इस अत्याचार ने उन्हें बुरी तरह त्रस्त कर दिया, वे अपने देशवासियों का पलायन देख कर घृणा से भर उठीं। उस दुरवस्था में वे पीड़ितों के आंसू पोंछती हुई इधर उधर घूमा करती थीं। एक दिन उन्होंने एक घायल सिपाही को देखा। वह जर्मन था, उनके देश का शत्रु। वे घृणा से मुंह मोड़ कर आगे बढ़ गईं, लेकिन घायल की करुण पुकार निरन्तर कानों में आ रही थी। उस पुकार में वही पीड़ा थी, वही दर्द था जो बेल्जियम के नागरिकों की पुकार में था। वे जैसे कांपीं, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने गरदन को जोर से झटका दिया, नहीं नहीं, इसे मरना ही चाहिये, मरना ही चाहिये। मैं इसके लिये कुछ नहीं कर सकती।

और वे आगे बढ गईं; पर मन पीछे लौट रहा था! उसका स्वर वैसा ही है। वह उसी तरह मर रहा है! क्या उसके मरने से मेरे देश का भला होगा? क्या अत्याचार रुक सकेगा?

श्रीमती ने फिर भी जोर से कहा–"नहीं–नहीं, मैं कभी नहीं लौटूंगी....।"

"न लौटो! वह एक मनुष्य है।" एक मनुष्य के मरने से संसार का क्या बिगड़ता है। हां, कोई अन्तर नहीं पड़ता! विचार वे ही रहेंगे। अत्याचार उसी तरह चलता रहेगा......।"

श्रीमती यूरस सहसा ठिठकी, "मनुष्य.......संसार.......विचार"

वे फुसफुसाईं–"विचार वैसे ही बने रहेंगे। वैसे ही.......।"

"हां! विचार वैसे ही रहेंगे। नाजियों का जुल्म उसके मरने से नहीं मिटेगा।"

"तो........!"

"कुछ नहीं! तुम जाओ! उसके मरने से तुम्हें सुख होगा.....!"

न जाने क्या हुआ? श्रीमती यूरस चिल्ला उठीं–"मैं अपना सुख नहीं चाहती। मैं शान्ति चाहती हूँ। मैं इस अत्याचार का, इस शोषण का अन्त चाहती हूँ.......।"

और तभी घायल की करुण पुकार फिर उनके कानों में पड़ी। अचरज से उन्होंने देखा कि वे तब वहीं घायल सैनिक के पास खड़ी हुई अपने ही मन से तर्क कर रही थीं। बस फिर तो वे वहीं उस घायल के पास बैठ गईं और देखने लगीं, उसे कैसे सहायता पहुंचाई जा सकती है?

जर्मन ने उन्हें देखा तो पीड़ा में भी विस्मित होकर बोल उठा—"आप !"
स्नेह पूरित स्वर में श्रीमती मूरस ने कहा, "बोलो नहीं। तुम्हें अभी अस्पताल पहुंचाने का प्रबन्ध करती हूं, तब तक जरा मुझे पट्टी बांध लेने दो। हां, तनिक ऐसे.....बस, बस तुम ठीक हो जाओगे......।"

(३) अपरिग्रह

वे सब लोग वायु के पंखों पर बैठ कर आये थे और सुन्दर से सुन्दर सुन्दर होटोलों में उनके रहने का प्रबन्ध किया गया था। वे उस देश के अतिथि थ और शान्ति की राह खोज लेना चहते थे। उनमें सभी विद्वान थे, चिन्तक थे, साधक थे। उनमें शासक वर्गके लोग थे शासित श्रेणी के मनुष्य थे, उनमें वृद्ध थे, प्रौढ़ थे, युवक थे। उनमें नर थे और नारियां भी थीं। वस्तुतः उसमें नानावर्ण, नाना राष्ट्र और नाना जातियों के व्यक्ति थे और वे सब शान्ति के उपासक थे। बेशक उनकी राह भिन्न हो सकती है, पर वे युद्ध से ऊब उठे थे और रोज-रोज का संघर्ष उन्हें पीड़ा देता था। उन्हींमें एक युवक भी था। वह सुदूर विश्व के उत्तर के देश स्वीडन से चल कर आया था। वह कभी चित्रकार था, परन्तु आज तो उसका पेशा बागवानी था; क्योंकि वह युद्ध का विरोधी था और उसका देश उसकी कला का उपयोग युद्ध में करना चाहता था।

औरों की तरह उसका स्वागत भी हुआ। उस बम्बई के ताजमहल होटल में, जहां लक्ष्मी वैभव लुटाती है और जहां ऐश्वर्य अंगड़ाई लेता है ले जाया गया। उसे देख कर चित्रकार का मन चकित रह गया। वह खुली आंखों से उस वैभव को ताकता रहा—"क्या यही भारत है ? क्या यहीं रह कर शान्ति-दूत शान्तियुद्ध का संचालन करता था......?"

"नहीं—नहीं।"—वह कई क्षण इसी भूलभूलैया में उतराता हुआ—बोल उठा, "नहीं, यह भारत नहीं है। मैं भारत देखने आया हूँ, सच्चा भारत.......।"

और यह कह कर वह रुका नहीं। अपना बैग उठा कर चला ही गया। वह वहां गया, जहां भारत के सामान्य जन रहते हैं। उन्हीं के साथ वह ठहरा। उन्होंने गदगद होकर उसके लिये स्थान खाली किया; लेकिन वह बोला, "मुझे केवल उतनी ही जगह चाहिये जितनी में एक मनुष्य रह सकता है।"

वे उसके लिये विशेष खाने का प्रबन्ध करने चले पर उसने कहा—"मैं वहीं खाऊंगा जो तुम खाते हो, और तुम्हारे साथ काम करके खाऊंगा, वैसे नहीं। मैं भारत की आत्मा को देखना चहता हूं, भारत की शान को नहीं।"

भारत के वे सामान्य जन तब उस अद्भुत विदेशी को देखते ही रह गये।

विश्व-शान्ति में विज्ञान का योगदान

श्री रामचन्द्र तिवारी

परमाणु बम शस्त्रागार में है। हाइड्रोजन बम हवा में है। उनसे पहिले तोपें हैं; युद्धपोत हैं। बन्दूकें हैं, और उनसे भी पहिले जायें तो तलवार और धनुष बाण हैं, गोफिया हैं, लाठियां हैं। जब इनमें से कुछ भी न था तब भी, लिखा है कि, वृक्ष और चट्टानें थी। दांत, नख, लात और मुष्टिक थीं। युद्धेच्छा आयुध-अभाव के सम्मुख कभी झुकी नहीं। जब यह आयुध नहीं थे तब भी युद्ध होते थे, और लिखे शब्द पर यदि विश्वास किया जाये तो महा भयंकर युद्ध होते थे।

वस्त्रो के फैशन होते हैं, आभूषण के फैशन होते हैं। इनकी आयु कम होती है, पर विचारों के कुछ फैशन होते हैं जो बहुत दिन चलते हैं। जब कोई गुत्थी आती है तो विचारक और विद्वान् एक नवीन शब्द आगे बढ़ा देते हैं और अपने को बधाई देने लगते हैं। जगत के समझदारों में बहुत बड़ा दल है जो गुरो के प्रयोग में विश्वास रखता है। चुटकुलो के सहारे समस्यायें हल करता है। एक बार उसकी समझ ने जो समस्या की जड़ को पकड़ पाया तो वह उसे छोड़ती नहीं। समस्या जगत पर कसती जाती है। पर इस दल की दृष्टि को उधर उठने का अवकाश ही नहीं।

एक अभिशप्त संज्ञा है विज्ञान। वह इस फैशन का आखेट है। बहुत दिनों से वह दोषी के कठघरे में खड़ा है। विज्ञान को युद्ध में होनेवाले महा विनाश का कारण ही नहीं, युद्ध का कारण भी बताया जा रहा है। जो बहुत उत्साही हैं वे निर्ममता से विज्ञान का दमन कर संसार में स्वर्ग लाने की कल्पना करते हैं। तर्क है: विज्ञान न होगा तो युद्ध न होगा; युद्ध न होगा तो संसार स्वर्ग से कम तो क्या होगा? विश्व में शान्ति स्थापन के लिये विज्ञान का मूलोच्छेदन इस दल की योजना का सर्वप्रथम कार्य है।

मनुष्य जितना पुराना है, युद्ध भी उतना ही पुराना है। आज का विज्ञान जब नहीं था, तब भी युद्ध तो थे ही। उन दिनों युद्ध बन्द करने की बात भी कोई नहीं करता था। आज विज्ञान है और हम पर प्रतिबंध लगाने की बात सोच रहे हैं। सोच ही नहीं रहे हैं, उस दिशा में सहस्रों मनुष्य निरंतर कार्य कर रहे हैं। आज विश्व में यदि युद्ध नियंत्रण की कल्पना सम्भावना-सीमा के भीतर आ पड़ती है तो इसलिये नहीं

कि मनुष्य जाति के नेता विज्ञान को गैर-कानूनी घोषित कर देने के लिये तैयार हो गये हैं; उस पर प्रतिबंध लगा कर उसे सदा के लिये विषैले सर्प की भांति विनष्ट कर देना चाहते हैं, वरन इसलिये कि आज विज्ञान पर्याप्त उन्नत अवस्था में आ गया है। युद्ध का नियंत्रण करने में उसका उपयोग क्षमता के साथ किया जा सकता है।

मनुष्य का समस्त प्राकृतिक ज्ञान विज्ञान का ही अंग है। विज्ञान का नया दौर योरोप में अमृत और पारस पथरी की खोज से आरम्भ हुआ। पारस पथरी और अमृत आज तक नहीं मिले। पारस पथरी की दिशा में मनुष्य ने भाप और बिजली की शक्ति को पाया। इंजिन बने, उन्होंने पहियों को घुमाया। कारखानों पर आधारित औद्योगिक युग का जन्म हुआ। कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योग इंधन और यातायात की सुविधा के कारण एक स्थान पर एकत्र हो गये। गांव उजड़े, नगर की सभ्यता उदय हुई। इंगलैंड की एक चौथाई से अधिक जनसंख्या एक नगर, लण्डन में केन्द्रित हो गई। जन संख्या की इस सघनतासे आचार और समाजनीति की अनेकों समस्यायें उपजीं पर साथ ही जीवनोपयोगी अनेकों वस्तुयें सरलता से और सस्ती प्राप्त होने लगीं।

अमृत की दिशा में जो वैज्ञानिक यात्रा हुई, उससे कुनैन जैसी औषधियां हाथ आयीं, कीटाणुनाशक मिले, सुन्नताकारी मिले, छूत के रोगों का भेद समझ में आया और उन पर नियंत्रण सम्भव हो गया। चिकित्सा शास्त्र की इस उन्नति से मनुष्य की औसत आयु ऊंची हो गई। आज अमरीका में नर की प्रत्याशित आयु ६५ वर्ष है और नारी की ७० वर्ष। यह सही है कि चिकित्सा शास्त्र ने मनुष्य की अधिकतम आयु को बढ़ाने में कोई सफलता नहीं प्राप्त की है, पर उसकी सहायता से अब जन संख्या का बहुत बड़ा भाग मध्य आयु प्राप्त करने लगा है। प्रत्येक देश में मृत्यु संख्या घट रही है और जन्म संख्या बढ़ रही है। पिछले चालीस वर्षों में संसार की जन संख्या प्रायः २५ प्रतिशत बढ़ गयी है।

औद्योगिक अर्थ व्यवस्था और जन संख्या की वृद्धि ने नवीन संघर्षों को जन्म दिया है। आज विश्व विजय और धर्म-प्रचार जैसे ध्येयों को ले कर युद्ध नहीं होते। वे होते हैं जीवन की अनिवार्यता से। औद्योगिक देशों द्वारा अपने कारखानों के लिये कच्चा माल और कारखानों की उपज के लिये बाजार प्राप्त करने की भावना से।

विज्ञान ने युद्ध में पूरा पूरा भाग लिया है। उसने जलपोतों को डुबाने के लिये चुम्बक-सुरंगे दीं और उनका निराकरण करने के उपाय भी सुझाये। उसने बमवर्षक बनाये और उनके आगमन की सूचना देने के

लिये रेडर प्रस्तुत किया। वी १ और वी २ जैसे आकाशगामियों की सृष्टि की, और परमाणुबम जैसा महासंहारक बनाया। पर उन्हीं दिनों पेनीसलीन जैसा मृत्यु विजयी शस्त्र भी उसने निर्माण किया। पूरे महासमर में सब शस्त्रों के द्वारा जितने प्राणों का विनाश हुआ है उनसे अधिक प्राणों की रक्षा यह फंफूद का सत अपने जीवन के एक वर्ष में करने की क्षमता रखता है। महासमर के पश्चात् एशिया और योरोप में खाद्य का भीषण अभाव हुआ। यदि वैज्ञानिक सहायता से संचालित अमरीकन कृषि उन दिनों न होती तो दोनों महाद्वीपों में व्याप्त उस भीषण अकाल के सामने बंगाल का अकाल नगण्य हो गया होता।

प्राकृतिक विज्ञान का अर्थ है। प्रकृति के रहस्यों को समझना (और उसे मनुष्य के लिये उपयोग करना)। विश्व में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो प्रकृति के क्षेत्र से बाहिर हो, विज्ञान के क्षेत्र से बाहिर हो। विज्ञान की वह शाखायें जो जड़ जगत से सम्बन्ध रखती हैं, अध्ययन में सरल हैं। उनके परिवर्तनशील तत्वों पर वैज्ञानिक सरलता से नियंत्रण कर सकता है। उनमें उन्नति अधिक हुई है। रसायन और भौतिकी इस प्रकार के विज्ञान हैं। उन्हीं का चमत्कार हमारे देखने में आ रहा है। अर्थशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान आदि जो सामाजिक विज्ञान हैं उनका अध्ययन उतना सरल नहीं है। उनमें अभी विशेष उन्नति नहीं हो सकी है। विश्वशांति की समस्या राजनैतिक, सामाजिक समस्या है। उसका समाधान करने के लिये विज्ञान का ही सहारा लेना होगा। विज्ञान की कला के अनुसार उसका अध्ययन करना होगा और निश्चित ध्येय को प्राप्त करने के लिये उपाय निर्धारित करने होंगे।

विश्व-शान्ति की समस्या मनुष्य के अस्तित्व की समस्या के साथ अत्यंत जटिलता से गुंथी हुई है। संघर्ष, युद्ध, जीवन के मौलिक उपादानों में से है। क्या मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये उसका अनिवार्य होना सम्भव हो सकता है? उसके अभाव का मनुष्य के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या वह प्रभाव मनुष्य के भविष्य के लिये वांछनीय होगा? क्या साधारण खेल कूद उसका स्थान ले सकते हैं? क्या एक नियंत्रित रूप में उसका पालन किया जाना चाहिये? आदि प्रश्न हैं, जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है। यह अध्ययन सरल नहीं है। विश्व में शांति स्थापित हो जाने के कई पीढ़ी पश्चात् इन प्रश्नों पर कुछ कहा जा सकेगा।

विश्वशांति की मांग अब नैतिक मांग नहीं रह गई है। वह आर्थिक और राजनैतिक भी बन गई है। संयुक्त राज्य अमरीका विश्व का सब से

समृद्ध देश है उसकी समृद्धि व्यावहारिक विज्ञान की समृद्धि है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के अनेक देश उसके ऋणी थे। पर उसका कर्ज कोई चुका नहीं पाया। वह उसे छोड़ना पड़ा। इस महायुद्ध के संबंध में भी वह शस्त्रास्त्र, खाद्य और दूसरी पुर्निर्माण सामग्री अनेक देशों को दे रहा है। इसका कदाचित् ही कुछ अंश उसे वापिस मिले। आज कल अंताराष्ट्रीय व्यापार की स्थिति यह है कि प्रत्येक देश अधिक से अधिक माल अमरीका को बेचना चाहता है, और अमरीका को साधारण माल की आवश्यकता नहीं है। यह काफी कठिन स्थिति है।

संसार के नेताओं को यह विदित हो रहा है कि जब तक विश्व में प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक निवासी को जीवन की सुविधायें सरलता से नहीं प्राप्त होने लगतीं संसार की शांति खतरे में रहेगी। जीवन सुविधाओं की सुलभता देश-देश के उत्पादक साधनों की उन्नति से ही आ सकती है। एशिया के प्राचीन देश कच्चे माल के उत्पादक और पश्चिम के कारखानों की उपज के बाजार रहे हैं। योरोप और अमरीका का उन पर प्रभुत्व रहा है। पर वह व्यवस्था हमारे नेत्रों के सामने टूट रही है। प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक साधनों के उपयोग की बात सोच रहा है। और इसके लिये विज्ञान का सहयोग चाह रहा है। यह विज्ञान का विश्वशांति की स्थापना में धनात्मक योग है। मनुष्य युद्ध की भयंकरता से भयभीत है और उसका नियंत्रण करने के लिय अपना अहंकार और स्वार्थ संयमित करने को प्रस्तुत हो रहा है यह उसका ऋणात्मक दान है। मनुष्य के मस्तिष्क और प्राकृतिक साधनो पर विज्ञान की प्रक्रिया द्वारा ही विश्व में शांति की स्थापना होगी। आज अंताराष्ट्रीय हित में प्रत्येक राष्ट्र की वैज्ञानिक उन्नति आवश्यक हो गयी है। मनुष्य जाति के भोजन, वस्त्र, मकान और औषधि की समस्या का हल इसकी सहायता से हो सकता है। इसीलिये वैज्ञानिक सूचनायें वितरण का कार्य आज अंताराष्ट्रीय सांस्कृतिक सहयोग समिति का सब से महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। जनहित के लिये विज्ञान की साधना एक व्यापक कर्त्तव्य बन गया है। संसार के विभिन्न देशों के विज्ञानकर्मी अपने को इस कार्य के लिये संगठित कर रहे हैं। वे अपना सामाजिक उत्तरदायित्व अधिकाधिक अनुभव कर रहे हैं। परमाणु शक्ति के निर्माण में भाग लेनेवाले कितने ही वैज्ञानिकों ने युद्ध में परमाणु बम के उपयोग का विरोध किया था। उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया गया। विज्ञानकर्मियों का आन्दोलन अब बल प्राप्त कर रहा है। विश्व के विज्ञानकर्मी जहां अपने कार्य के लिये सुविधायें मांग रहे हैं वहां उनका

विश्वशान्ति और उपनिषद्

श्री महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणाचार्य

महर्षि याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करते समय अपनी दोनों पत्नियों– मैत्रेयी तथा कात्यायनी को बुला कर कहा कि अब मैंने गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास ग्रहण करने का विचार किया है इस लिए चाहता हूं कि घर की सम्पत्ति तुम दोनों को आधी-आधी बांट दूं।

उनकी पत्नियों में कात्यायनी का मन तो संसार के भोगों में रहता था किन्तु मैत्रेयी के मन में परमात्मतत्व के प्रति अनुराग था। उसने अपने पति की बात सुन कर मन में विचार किया कि 'यदि सांसारिक धनधान्य या गृह-परिवार से सच्ची शान्ति होती तो महर्षि घर-बार छोड़ कर संन्यास क्यो धारण करते? उसने पूछा–"भगवन्, मुझे समस्त पृथ्वी का राज्य या भोगोपभोग प्राप्त हो जाय तो क्या इससे मुझे अमृतत्व–परमात्मपद मिल सकता है?"

महर्षि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–'नहीं।' धन-धान्य पूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति से तो धनिकों सा जीवन हो सकता है उससे तुम्हें अमृतत्व तो कभी भी नहीं मिल सकता।

फिर मैत्रेयी ने कहा–'भगवन् मुझे उस वस्तु से क्या प्रयोजन, जिससे अमृतत्व ही न मिले। सांसारिक भोग तो ऐसे हैं कि उनसे सच्ची शान्ति उपलब्ध नहीं होती। और इसी कारण आप भी संसार छोड कर विरक्त हो रहे हैं। अतः मुझे भी वही मार्ग बतलाइए जिससे परम शान्ति की प्राप्ति हो सके।'

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा—'प्रिये, इन वाक्यों ने तो तेरे प्रति जो मेरा विशेष प्रेम था उसे और बढ़ा दिया इसलिए अब मैं तुझे उसी मार्ग का उपदेश करूंगा जिससे तुझे अमृतत्व की प्राप्ति हो सके।' उन्होंने कहा—

कार्य किस उपयोग में लाया जा रहा है इस विषय में भी वे सतर्क हो गये हैं। विज्ञानकर्मियों को शांतिप्रिय जनता का सहयोग प्राप्त करने और राजनैतिक शक्तियों का सहयोग प्राप्त करने में जितना समय लगेगा उतना ही विलम्ब अब विश्वशान्ति की घोषणा में समझा जाना चाहिये।

'न वा अरे पत्यु कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'

'मैत्रेयी, स्त्री को पति के लिए पति प्रिय नहीं होता परन्तु आत्मा के लिए पति प्रिय होता है।"

'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।'

'अरे, स्त्री के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती किन्तु आत्मा के लिए स्त्री प्रिय होती है।'

'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।'

'अरे, पुत्रों के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते। आत्मा के लिए पुत्र प्रिय होते हैं।'

'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।'

'अरे, धन के लिए धन प्रिय नहीं होता परन्तु वह भी आत्मा के लिए ही प्रिय होता है।'

इसी प्रकार ब्रह्म, क्षत्र, लोक, वेद और भूतों के विषय में कहते हुए अन्त में कहा—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'—बृह० २।४।५।

'अरे मैत्रेयी, सब कुछ उनके लिए प्रिय नहीं होते, सब कुछ आत्मा के लिए ही प्रिय होते हैं।

इन्हीं सब विषयभोगों को अन्यत्र परिग्रह में लिया है और उनके विषय में कहा है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।"—मनुस्मृति।

'विषयों के उपभोग से शान्ति कभी भी नहीं मिलती, अपि तु घी की आहुति से अग्नि की भाँति भोगेच्छा की वृद्धि ही होती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अन्त में यह सिद्धान्त उपदेश दिया—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।'—बृह० २।४।५।

'उस परमपद का स्थान आत्मा ही वास्तव में दर्शन, श्रवण, मनन और सतत ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी, उसीके दर्शन, श्रवण, मनन और

साक्षात्कार से सब कुछ जाना जा सकता है।' आत्मस्वरूप के सम्यक् ज्ञान से ही मनुष्य शोक मोह से निवृत्त हो कर शाश्वती शान्ति को प्राप्त होता है।' कहा भी है—

'तरति शोकमात्मवित्' । 'तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत'।' इत्यादि।

वह आत्म स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में यही 'एकत्वमनुपश्यत' आता है। जिस मार्ग का अनुसरण कर महर्षियों ने शान्ति को प्राप्त किया था।

गीता के दूसरे अध्याय में महर्षि व्यास ने कहा है :—

'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ समुद्रमाप. प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

'चारों ओर से भरे जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती एसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला आता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में सभी विषय उसकी शान्ति भङ्ग किये बिना ही प्रवेश करते हैं उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है, विषयो की इच्छा करने वाले को वह शान्ति नहीं मिलती।'

'विहाय कामान्य सर्वान् पुमाश्चरति निस्पृह'।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

'जो पुरुष सब काम अर्थात् आसक्ति छोड़ कर निस्पृह हो कर व्यवहार करता है एवं जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता उसे ही शान्ति मिलती है।'

———

"गान्धीजी जीवन को एक ही मानते थे। वे व्यक्तिगत सामूहिक भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में कोई भेद नहीं मानते थे। वे समस्त जीवन को आध्यात्मिक बनाना चाहते थे। इसका अर्थ यही है कि जीवन में नैतिक विधान का पालन किया जाय। सत्य और अहिंसा के पालन और उद्देश्य की पूर्ति के लिए सही साधनों का अवलम्बन ही नैतिक विधान है। गलत साधन अपनाकर अक्सर लोग गलत राह पर चले जाते हैं। महात्मा गान्धी महापुरुष थे। प्रतिनिधियों को उनकी नकल नहीं करनी चाहिए कारण महापुरुष बहुधा तर्कातीत होते हैं। हम उनकी भावना से प्रेरित हों और अपनी समस्याओं के लिए उनकी तत्परता का प्रयोग करें। हम अपने शान्तिवाद को जीवित और व्यावहारिक बनावें।"

—आचार्य कृपालानी

(शान्ति सम्मेलन, शान्ति-निकेतन)

साहित्य समीक्षा

सत्येश्वर गीता—

ले०—स्वामी सत्यभक्त, सत्याश्रम वर्धा के कुलगुरु।

प्रकाशक—सत्याश्रम वर्धा। मूल्य २॥)

श्री सत्यभक्त जी के द्वारा लिखे गए मूल ग्रन्थ "सत्यामृत" में से जो चौबीस "जीवन सूत्र" निकाले गए थे उन्हीं सूत्रों के सार विवरण या विवेचन स्वरूप यह ग्रंथ पद्य में लिखा गया है। पद्यों में चेतना है, स्फूर्ति है। विषय विवेचन का प्रवाह अपनी अखंड गति से अन्त तक चला जाता है, जो पाठकों को आखिर तक अपने रस में बाँध रखता है। पद्यो के पठन में रस की कमी न आवे इस हेतु को लक्ष्य में रख कर बीच बीच में गीतों की भी जो रचना की गई है वह बहुत सुंदर है। वास्तव में तो वह अपने विषय प्रतिपादक समग्र पूर्व पद्यों का सारांश रूप है। कितने गीत तो इतने सुंदर हैं कि जनसाधारण में अनायास कंठाग्र बन जाएँगे जिनमे "यह लो यह संसार" (पृ० २७) "तेरी अमर कहानी" (पृष्ठ ५९) आदि हैं। एक अतिस्मरणीय गीत "योगी! तेरी अटल जवानी" (पृ० २४७) भी गिना सकते हैं। सामाजिक रूढ़ियों एवं पापाचार पर भी कड़ा प्रहार करनेवाले अनेकों पद्य एवं गीत बने हैं, जिसमें पशुयज्ञ पर "कैसा हे विद्वान्?" "पुजारी यह कैसा व्यापार?" (पृष्ठ ८४) "शराबी कैसा भूला भान?" (पृ० ६१) आदि हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि गूढ़ विषयों में श्री सत्यभक्त जी की दार्शनिक दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है। इस गीता का यदि सब से महत्वपूर्ण कोई विषय है तो वह है आगामी विश्व की कल्पना। "बनेगा एक नया संसार" (पृ० २१०), "मानव मानव भाषा बोल" (पृ० २३०) "दुनिया रहो न न्यारी न्यारी" (पृ० २३९) यह आदर्श कब सफल होगा? वर्तमान संसार, एवं मानव समाज को देखते हुए बताना संभव नहीं फिर भी कर्मयोगी कार्यकर्ताओं को प्रेरणा देते हुए "योगी तुझको क्या विश्राम" (पृ० २५०) गाते गाते गीता समाप्त होती है। प्रस्तावना में स्वयं सत्यभक्त जी ने इसे 'धर्मग्रन्थ' घोषित किया है। यह घोषणा यदि वे स्वयं न करते तो अच्छा था। क्या इसके पीछे अहंकारपूजा नहीं है? 'सत्येश्वर' को मानव हृदय से पृथक् कल्पना करना एक प्रकार का ईश्वर-

वाद का हलका चक्कर है। यदि पुस्तक का नाम सत्यगीता होता तो वह आडम्बर शून्य रहता। सत्यभक्तजी इतना सुन्दर भावोत्पादक एवं प्रेरणादायक ग्रन्थ लिखने के उपलक्ष्य में बधाई के पात्र है।

—मुनि कनकविजय

धर्म-प्रवेश—

ले०—सूरजचन्द्र सत्यप्रेमी। प्रकाशक—जैनाश्रम वारसी। पृ० १११। मूल्य १)। छपाई सफाई, उत्तम।

धर्मप्रवेश में सीधी सरल भाषा में असाम्प्रदायिक भाव से जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में मंगलपाठ, सामायिक-पाठ, कीर्तनपाठ, प्रतिक्रमणपाठ और शान्तिपाठ स्वयं लेखक ने सरल भावमयी प्रावाहिक भाषा में रचे है। उनने प्राक्कथन में वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति का भेद बताते हुए वैदिक संस्कृति को प्रवृत्ति प्रधान लिखा है। और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों संस्कृतियां अपनी अपनी स्वतन्त्र पद्धति से मानव को देवत्व की ओर ले जाकर परमात्मा के स्वरूप से मिलाने का प्रयत्न करती है। वैदिक संस्कृति में अच्छाई और सद्भावों का सर्वथा अभाव है यह तो कहा ही नहीं जा सकता पर जिस जन्मजात वर्ण-व्यवस्था और उसके परिणाम रूप निकृष्ट छुआछूत पर आज वह व्यवहारतः आधारित है और जिस एकतन्त्र ईश्वर के नाम पर इन सब का पोषण होता है उन आधारों के रहते उससे मानव समाज में समता स्वतन्त्रता और शान्ति की आशा व्यर्थ है। असत्य आधारों से सत्य की प्राप्ति संभव ही नहीं है।

सूरजचन्द्रजी सर्व-धर्म-समभावी और सत्यसमाज के सदस्य है। उनने जिस भावना से इस पुस्तक का प्रणयन किया है वह सराहनीय है।

पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य पढ़नी चाहिए। इनकी दूसरी पुस्तक है—

मन्थन-महाशास्त्र—

मूल्य २)। पूर्वलिखित पते से प्राप्य।

इसमें सभी धर्मों के प्रवर्तकों पर कविताएँ सर्व-धर्म-समभावी ढंग से लिखी गई है। कविताएँ सरल और सुबोध है। कवित्व की अपेक्षा इसमें प्रतिपादित भाव अधिक आकर्षक है। इसमें लेखक ने स्वयं अपने को विश्व-कवीश्वर, शाश्वत धर्म प्रकाशक आदि सर्वोच्च विशेषणों से अलंकृत किया है। अर्धचन्द्र में विराजमान सूर्यप्रभायुक्त अपना चित्र भी इसमें छपाया है। यदि ये सब अस्मिताएँ इस पुस्तक में न आतीं तो अच्छा था। यह पुस्तक सन् १९४३ में छपी है। आशा है अब सूरजचन्द्र जी को स्वयं ही यह सब नहीं रुचता होगा।

प्यारे राजा बेटा-

ले०-श्री रिषभदास रांका। सम्पादक-श्री जमना लाल जैन साहित्यरत्न। प्रकाशक-भारत जैन महामंडल वर्धा। पृ० ९० सचित्र। मूल्य १)।

अपने स्व० पुत्र की स्मृति में प्रकाशित यह पुस्तक अपार स्नेह और देश विदेश के ऐतिहासिक भौगोलिक तथा अन्य विविध जानकारियों से परिपूर्ण है। इसमें रांकाजी की लेखनकला सरल मृदुल और सहज गति से प्रवाहित हुई है। प्रत्येक बालक को संस्कारी बनने और उच्च भूमिका की ओर प्रेरणा देने के लिए ऐसी पुस्तकों की अपनी खासी उपयोगिता है। इसके द्वारा उनने देश के एक राजेन्द्र की जगह अनेक राजेन्द्रों की सेवा की है। पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिए।

आचार्य संत भीखण जी-

ले०-श्रीचन्द्र रामपुरिया बी० एल० । प्रकाशक-हमीरमल पुनमचन्द्र रामपुरिया सुजानगढ़। पृ० २३५। मूल्य सजिल्द ३)।

सन्त भीखण जी श्वे० तेरापन्थी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इनने उस समय के शिथिलाचार के विरुद्ध एक आत्यन्तिक आवाज उठाई। जिसकी अतिमें दया, दान जैसे शुभ कार्यों का भी निषेध होने लगा। साधु का मार्ग पूर्ण निवृत्ति का हो सकता है, पर गृहस्थ का मार्ग तो प्रवृत्तिमय है। उसकी प्रवृत्ति में जितना निवृत्यंश है उसी के अनुपात से प्रवृत्ति में धर्मरूपता का तारतम्य होता है। वस्तुतः देखा जाय तो निवृत्ति का साक्षात् रूप तो जिनकल्प ही है। उसमें परमाणु मात्र भी परिग्रह ग्राह्य नहीं है। धर्मोपकरणों के नाम से परिग्रह का ढेर लगाना उसकी मर्यादा में नहीं है। सन्त भीखण जी ने स्थविर कल्प की मर्यादा में ही अपना जीवन सीमित रखा था। जहाँ तक प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध है, लेखक ने आधुनिक शैली में सरल भाषा में भीखण जी के चरित्र का चित्रण किया है। वे इसमें काफी सफल हुए हैं।

बृहदासवारिष्ट संग्रह (पूर्वार्द्ध)-

ले०-वैद्य श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य बी० ए०। प्रकाशक-वैद्य कार्यालय, मुरादाबाद। पृ० ३३४। मूल्य ४)।

यह प्रस्तुत पुस्तक का तीसरा संस्करण है। स्वतन्त्र भारतमें आयुर्वेद की चिकित्सा प्राकृतिक सहज और अल्पव्ययसाध्य होने के कारण भी विशेष

स्थान पायगी। प्रस्तुत पुस्तक की सब से बड़ी विशेषता है कि इसमें शास्त्राधार के सिवाय विविध आयुर्वेदिक पत्रों और विद्वानों के अनुभवों का पूरा पूरा लाभ उठाया गया है। हिन्दी भाषा में होने के कारण सर्व साधारण भी विषय की जानकारी सहज कर सकता है। ऐसी उपयोगी पुस्तक को प्रकाशित कर लेखक और प्रकाशक ने आयुर्वेद की अच्छी सेवा की है।

श्रमण (मासिक पत्र)-

पार्श्वनाथ विद्याश्रम से 'श्रमण' मासिक गत दीपावली से प्रकाशित हुआ है। इसके तीन अंक हमारे सामने हैं। सामग्री का सचयन और सम्पादन सुरुचि और परिश्रम पूर्वक हो रहा है। जैसा कि उसका दावा है कि 'वह सीधी सरल भाषा मे साधारण जनता के लिए है' आशा है उसे पूरा करने की दिशा में वह अवश्य प्रयत्न करेगा। इस समय साम्प्रदायिकता से विषाक्त वातावरण में श्रमण संस्कृति के समता स्वतन्त्रता और शान्ति के सन्देश देने वाले सभी छोटे-बड़े प्रयत्नो का अपना महत्त्व है। हमें इस लघु पर ठोस और दृष्टिसम्पन्न सहयोगी का स्वागत करते हुए हर्ष हो रहा है। सम्पादक-श्री प० इन्द्रचन्द्र जी वेदान्ताचार्य एम० ए०, और प्रकाशक-श्रीकृष्णमुनि जैनदर्शनाचार्य का यह प्रयास प्रशंसनीय है।

पृ. स. ४०, म. ४) वार्षिक, प्रकाशक-जैनाश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ५

—म०

सम्पादकीय

शान्ति बनाम संघर्ष—

जब तक जगत् में वर्ण, जाति, देश या भाषा या किसी अन्य नाम से विशेष संरक्षण कायम रहेंगे तथा उसके फलस्वरूप शोषितवर्ग बना रहेगा तब तक शान्ति की बात सम्मेलनों तक ही रह सकती है। स्वार्थ इतना गहरा पैठता है कि वह जल्दी नहीं दिखाई देता। पदो का चक्कर इतना दुर्भेद्य होता है कि उसकी मर्यादा और प्रतिष्ठा के नाम पर बहुत कुछ नीति-अनीति चल जाती है।

शान्ति और न्याय स्थापन की दूसरी बाजू है, अशान्ति और अन्याय का प्रतीकार। किसी नए मकान का निर्माण जीर्ण को ध्वंस किए बिना नहीं होता। अतः शान्ति के लिए भी अन्याय से संघर्ष करना ही होगा। गान्धीजी का शान्तिवाद इस 'अन्याय प्रतीकार' की आत्मा से ही जीवित था। जब तक आर्थिक सामाजिक और राजनतिक वैषम्य और अन्याय का नाश नहीं होता तब तक जागृत मानव को धर्म ईश्वर संस्कृति और कर्म के भुलावे में नहीं रखा जा सकता और न इनके नाम से शान्ति ही प्रस्थापित की जा सकती है।

आशा है विश्व के शान्तिवादियो ने इस बाजू पर भी विचार किया होगा। श्रमण परम्परा ने सदा से अहिंसा के इस द्विमुखी विकास को किया है।

युद्ध यदि मानवता की रक्षा के लिए अनिवार्य ही हो जाता है तो चारा ही क्या है? मानवता की रक्षा करनी ही होगी और वह अहिंसा की दूसरी बाजू है। परन्तु लक्ष्य हमारा 'सर्व-भूत-मैत्री' का ही होना चाहिए। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सहयोग प्रणाली के आधार से समाज, और राज का संचालन ही शान्ति की आधार शिलाएँ है।

नया विधान—

२६ जनवरी सन् '५० का दिन न केवल भारतीय गणतन्त्र के इतिहास का अपूर्व दिन है किन्तु विश्व और मानवता के इतिहास का भी।

भारत में छोटे-मोटे गणतन्त्रों की परम्परा रही है पर इस उदार भूमिका पर और इतनी बड़ी राजनैतिक इकाई के रूप में इसका अवतरण पू० बापू की तपस्या का ही फल है।

इसकी सब से महत्त्व की विशेषता है नागरिक स्वत्वाधिकार की घोषणा। इसमें भारत गणतन्त्र का प्रत्येक नागरिक धर्म, जाति, मूल वंश, जन्मस्थान, लिंग आदि की भेदक दीवारों को तोड़ कर एक समान भूमिका पर केवल मानव होकर समान अधिकारों को पा रहा है। वर्ण-व्यवस्था का कोई अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई है और लोकभाषा हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित की गई है।

२५वीं धारा में धार्मिक अधिकारों की व्याख्या में 'हिन्दू' शब्द से जैन, बौद्ध और सिखों का संग्रह किया है। ठीक है। हमारा तो यह निवेदन है कि यदि भारत को विश्व-शान्ति की भूमिका प्रस्तुत करना है तो उसे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी जैसे भेदों को भी स्वीकार न करना चाहिए। क्यों हिन्दू कोड और मुस्लिम कोड पृथक् हों? भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए एक ही कोड हो और वह हो 'भारतीय कोड'।

सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक मामलों में धर्म का हस्तक्षेप ही गलत है। ये मामले तो परिस्थितिवश बदलते रहते हैं। धर्म सभी व्यवस्थाओं में प्राणिमात्र को आत्म-संशोधन, अहिंसा, प्रेम, सहयोग और सदाचार आदि सिखाता है। हम नये विधान का तथा उसके कर्णधार, भारत गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का अभिनन्दन करते हैं और भावना रखते हैं कि भारत विश्व की कोटि-कोटि दलित जनता का आशा केन्द्र बनेगा।

महाप्रयाण दिवस—

३० जनवरी पू० बापू के महाप्रयाण का दिन था। इस दिन मानवता विधवा हुई थी, और हुई थी एक हिन्दू कुपूत के हाथों। इतना बड़ा कलङ्क मानवता के इतिहास में नहीं मिलेगा।

हमें आज उस मानवयुग के निर्माण की प्रतिज्ञा करना है जहां जाति, वर्ण, रंग, प्रान्त आदि के भेद, जिनने गोडसे को पैदा किया, समाप्त होकर प्राणिमात्र को अभय मिलेगा। बापू, हमें वह शक्ति दो।

भा० दि० जैन परिषद् के महामन्त्री का वक्तव्य—

लाला तनसुखरायजी, प्रधान मन्त्री दि० जैन परिषद् दिल्ली ने इस आशय का वक्तव्य प्रकाशित कराया है कि 'तनसुखलाल काला और सिरगुरकर पाटिल आदि व्यक्तियों ने जैन-समाज के नाम से जो स्मृतिपत्र पं० जवाहरलाल नेहरू प्रधान मन्त्री, भारत को दिया है उसे भारत के जैन तब तक नहीं मान सकते जब तक कि उस पर एक जैन महा-

सम्मेलन में विचार न कर लिया जाय।' वे वक्तव्य में यह भी लिखते हैं कि––"आज के आधुनिक शिष्टयुग में जाति, पांति के भेद-भावों को अधिक से अधिक दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन-धर्म एक सार्वभौम धर्म है और संसार का प्रत्येक प्राणी इसके सिद्धान्तों में श्रद्धा रख कर उन पर आचरण कर सकता है। यह धर्म किसी भी प्राणी के प्रति घृणा नहीं सिखाता। जैन किसी भी प्रकार हरिजनों के प्रति विरोध के भाव नहीं रखते। हरएक प्राणिमात्र चाहे वह किसी भी जाति का हो परन्तु वह जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्तों तथा नियमों में श्रद्धा रखता है, तो उसको जैनों के पूजनीय स्थानों में जाने का पूरा अधिकार है।

जैन किसी प्रकार भी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में हिन्दुओं से पृथक् नहीं हैं केवल जैन-संस्कृति हिन्दू-संस्कृति से भिन्न है।"

परिषद् के प्रधान मन्त्री ने जो जैन महा-सम्मेलन का सुझाव रखा है वह उचित और वैधानिक है। समस्त जैनों की ओर से स्मृतिपत्र तो ऐसे सम्मेलन के बाद ही दिया जा सकता है। इस सम्मेलन में दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि सभी सम्प्रदायों और सभी विचार के जैनों को बुलाना चाहिए।

मेरा सत्याग्रह करनेवालों, अन्नत्यागियों आदि से निवेदन है कि वे कोई भी कार्यक्रम जैन-समाज के नाम से तभी घोषित करें जब उसकी स्वीकृति ऐसे महासम्मेलन से हो जाय, जिसमें जैनों के सभी सम्प्रदाय और सभी विचारों के प्रतिनिधि रहे हों। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में हमें इसी पद्धति से आगे बढ़ना है।

आशा है कि परिषद् के प्रधान मन्त्री इस दिशा में सफल प्रयत्न करेंगे।

आभार–

भाई यशपालजी की समर्थ प्रेरणा से श्री विष्णु प्रभाकर जी सेवागांव सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और उनने देश विदेश के शान्तिवादियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर इस अंक के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी की। हमें इन दोनों बन्धुओं का पूरा पूरा साहाय्य मिलता है। इसमें जो कुछ अच्छा है, इन्हीं का है। हमने तो मात्र यह प्रयत्न किया है कि इनके सहयोग को सुन्दर रूप में सामने ला दिया जाय। हम धन्यवाद देकर इनके सहज स्नेह को तौलना नहीं चाहते।

हिन्दी में बौद्ध धर्म की पुस्तकें

१—दीघ निकाय [बुद्धवचनामृत भाग १]—यह सुत्त-पिटक के पाँच निकायों में से पहला ग्रन्थ है। पृष्ठ संख्या ३५६।
अनुवादक—'त्रिपिटकाचार्य' 'महापंडित' श्रीराहुल सांकृत्यायन और भिक्षु श्री जगदीश काश्यप एम. ए.। मूल्य ६)

२—मज्झिम-निकाय [बुद्धवचनामृत २] यह सुत्त-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है। अनुवादक—महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन। मूल्य ८)

३—विनय-पिटक [संघ के नियम] इसमें भगवान् की उन शिक्षाओं का संग्रह है जो उन्होंने समय समय पर संघ-सञ्चालन के लिए दी थी। पृष्ठ सं० ५७८। अनुवादक—श्रीराहुल सांकृत्यायन। मूल्य ८)

४—धम्मपद—[मूलपालि, संस्कृत छाया हिन्दी-अनुवाद]—बौद्धजगत् में 'धम्मपद' का महत्त्व और प्रचार उसी भाँति व्याप्त है जैसे भारत में 'गीता' का। अनु०—श्री अवधकिशोर नारायण एम० ए०। मूल्य १॥)

५—सुत्त-निपात—[प्रथम भाग] यह खुद्दक-निकाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। बुद्धधर्म को अपने मौलिक रूपमें समझने के लिए यह एक आदर्श ग्रन्थ है। अनु०—भिक्षु धर्मरत्न एम० ए०। मूल्य १)

६—पालि महाव्याकरण—भाषा में लिपिबद्ध।
लेखक—भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए०। मूल्य ५॥)

७—सरल पालि—शिक्षा—लेखक—पं० भिक्षु सद्धातिस्स। मूल्य १॥)

८—बौद्ध-चर्या-पद्धति—यह ग्रन्थ बौद्ध गृहस्थो के लिए परमोपयोगी है। लेखक—भदन्त बोधानन्द महास्थविर। मूल्य १॥)

९—बुद्ध कीर्तन—ले० प्रेमसिंह चौहान "दिव्याय' कविता-ग्रन्थ। मू० २)

१०—बुद्ध-चरित—[संस्कृत व हिन्दी अनुवाद] प्रसिद्ध बौद्धकवि अश्वघोषकृत महाकाव्य। मूल्य ४)

११—अभिधम्मत्थ-संगहो-(नवनीत टीका) बौद्ध मनोविज्ञान और दर्शन पर पालिमें अभिनव टीका। सम्पादक-अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी। मू० २॥)

१२—विसुद्धिमग्गदीपिका—बौद्ध योग-शास्त्र विसुद्धिमग्ग पर एक नवीन अनुपम टीका। सम्पादक-धर्मानन्द कोसम्बी। मूल्य ३॥)

महाबोधि—पुस्तक—भण्डार, सारनाथ (बनारस)

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अनुपम मासिक

भारतीय ज्ञानपीठ काश

अप्रैल १९५० [१०] वीर नि० २४७६

सम्पादक—

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) ❀ एक प्रति ।|=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ ✻ काशी, अप्रैल १९५० ✻ अंक १०

मौन नमन

उस महान्‌के चरणों झुककर मौन नमन शत बार प्रणाम ।

✻

जिसकी वीतराग वाणीने हर चेतनमें स्नेह उड़ेला
जिसकी स्नेह-छाँहमें जगको मिला मुक्तिका दिव्य उजेला
जिसकी ममताके बंधनमें मिला आत्म-संतोष सुनहरा
जिसकी करुणामें मानवका जीवन बना उदधि-सा गहरा
जिसके पथ-चिह्नोंपर चलकर पथिक बन गया पूर्ण विराम
उस महान्‌के चरणों झुककर मौन नमन शत बार प्रणाम ।

✻ ✻

जिसने मांसल इच्छाओंपर मानवके हितमें जय पाई
जिसने परम पूर्णता पाने सांसारिक प्रभुता ठुकराई
सत्य शान्ति चिर सुख पानेको जिसने सब कुछ खोया-त्यागा
हाड़-मांसके विषयी तनमें जो अवतारी बनकर जागा
जिसके पथ-चिह्नोंपर चलकर पथिक बन सके अभय अकाम
उस महान्‌के चरणों झुककर मौन नमन शत बार प्रणाम ।

—'कुमार हृदय'

महावीर ने कहा

स्व० वाडीलाल मोतीलाल शाह

[स्व० वाडीलाल मोतीलाल शाह जैन समाजके युगद्रष्टा तीक्ष्ण सुधारक थे। उनमें सत्यनिष्ठा और सत्यपर मर मिटनेकी धगश थी। सम्प्रदायसे परे, मानवताके उपासक थे। 'हितेच्छु' पत्रके सम्पादक और पचासों पुस्तकोंके लेखक थे। महावीरके सम्बन्धका उनका यह निबन्ध उनकी विलक्षण प्रतिभा, और जीवित भाषाका अप्रतिम निदर्शन है। —सम्पादक]

एक दिन मैं महावीरकी खोजमें शत्रुञ्जयकी शिखरोंपर चक्कर काट रहा था और बालककी तरह सहज असहाय वृत्तिसे देख रहा था कि सामने महावीरकी प्रचण्डमूर्ति मुझे दिखाई दी। निर्दोष सक्रियता और आनन्दकी उस भव्य मूर्तिको देखकर मैं समझ गया कि यही जैनोंके अरहंत तीर्थंकर महावीर हैं। महावीरने मुझे इशारा किया, मैं पीछे-पीछे चलने लगा। आगे-आगे महावीर और पीछे मैं। वे एक दुर्गम शिखरके पास रुके और कहने लगे—

"दया और रक्षाकी भावनाने आर्यावर्तको निर्माल्य बना दिया है और क्रूरता तथा भक्षणकी भावनाने आर्यावर्तके सिवाय शेष दुनियाका अधःपतन किया है। दुनिया भूल गई है कि बुद्धि और बुद्धिके द्वारा बनाई गई योजनाएँ आत्माकी दासियाँ हैं, रानी नहीं। समस्त भावनाएँ, सारे आदर्श और सभी व्याख्याएँ आत्माकी मात्र सहायक हो सकती हैं। स्वामित्व तो उसका उसीके पास है। लोगोंने मेरी दया और रक्षाका अन्यथा अर्थ समझ लिया है। देख, तुझे मैं अपने जीवनकी घटनाओंको दिखा कर उसका सच्चा अर्थ बतलाता हूँ।"

इतनेमें मैंने एक अलौकिक दृश्य देखा कि—

शत्रुञ्जय पर्वतकी एक टेकरीसे दूसरी टेकरीपर निर्भय बढ़नेवाले महावीरको गौतमने पुकारा—'भगवन्'। पर महावीर विद्युत गतिसे आगे बढ़ते ही गए। उनने पीछे की तरफ देखा भी नहीं।

गौतमने फिर अरज की—"प्रभो, इन टेढ़े-मेढ़े पर्वत शिखरोंपर आपके साथ चलते-चलते मेरा दम फूल गया है, मैं हाँफ गया हूँ। हवाका तूफान मेरे कपड़ोंमें भरकर मुझे नीचेकी ओर खींच रहा है। दया करके थोड़ी देर रुक जाओ। मुझे अपने हाथका सहारा दो।"

"गौतम, दुनिया से भगवान् और प्रभु तो कभीका मर चुका है। तुझे अभी तक खबर भी नहीं। और दया, वह भी भगवान्के साथ ही मर गई। हा…हा…हा… महावीरने खिल-खिलाकर कहा।

वस्त्रोंके कारण तू नीचेको खिंच रहा है, तो क्यों नहीं उन्हें फेंक देता ? शत्रुंजय (काम क्रोधादि शत्रुको जीतनेवाली उच्च भूमिका) गिरि शिखरकी स्वस्थ हवा चाहता है तो शरीरपर वस्त्र क्यों लाद रखते हैं ? यह हँसी क्यों करा रहा है ? अपनी मूर्खता और अशक्तिसे विकृत बनाए गए शरीरकी कुरूपताको ढकनेके लिए और दुनियाँको धोखा देनेके लिए दुनियवी विद्वानोंने वस्त्र बनाए और स्वाभाविक नग्नताको पाप अनीति और अश्लीलपन बताया। पर तू तो इस समय हवाकी तरह प्राकृतिक नग्न, शरमरहित और जङ्गली बनना चाहता है तब वस्त्रकी क्या जरूरत ? दुनियवी विद्वानोंके इस जालको दुनियाकी ही तरफ फेंक दे" महावीरने कहा।

"और गौतम, पर्वतकी टेकरियोंपर विहार करनेवाले तेरे जैसे सिंहको वस्त्रोंका जाल ! यह कल्पना ही असह्य है ! दुनियादारोंके लिए 'नीति' 'अनीति' के वस्त्रोंके जाल रचे गए हैं। पर सिंहोंके लिए तो प्राकृतिक नग्नवृत्ति ही है। सिंह और वीरोंके लिए कोई शरमकी बात नहीं है, शरम उनके शब्दकोषमें ही नहीं है, उनके पास छिपाने लायक कुछ नहीं। शरम और भय इनको जो पूरी तरह भूल सकता हो वही शत्रुंजय गिरिराजपर रह सकता है और वहाँकी आरोग्य और शक्तिदायिनी हवाका उपभोग कर सकता है। देववल्लभ, नग्न होने और नग्न रहनेकी शरमको इन शरम भरे वस्त्रोंमें ही लपेटकर फेंक दे इस शरमभरी दुनियापर" वे फिर बोले—

"और देववल्लभ, शत्रुंजय गिरिराजपर चढ़ते समय 'कहीं गिर न जाऊँ' इस भयके वश हो तू हाथ पकड़नेकी आशा रखता है। तू इस आशा और भयको यहाँकी खुशनुमाँ हवामें उड़ा दे। और आशा और भयके चक्रसे परे रहनेवाला नन्हा-सा बालक बन जा, बालक।"

"गुरुदेव, जैसी आपकी आज्ञा" गौतमने कहा। पर गुरुके आलम्बनका त्याग कैसे किया जाय ? इसी विचारमें गौतमका मन उलझ गया।

"गौतम, मैं कभी आज्ञा नहीं करता। 'आज्ञा प्रार्थना और हाय हाय करना' ये तीनों बलाएँ मुझसे दूर ही रहती हैं। वे मुझसे डरती हैं। ये तीनों बलाएँ दुनियवी ईश्वरोंके पेटमें घुस गई हैं" यह गौतमसे कहकर महावीर शत्रुंजयकी एक अत्यन्त दुर्गम शिखरपर नग्न निर्भय रूपमें एक पैरसे खड़े हुए खिलखिलाकर अट्टहास करने लगे।

गौतम महावीरके इन गम्भीर उद्गारोंका मर्म नहीं समझे। वे उलटे घबरा गए। महावीरकी तीक्ष्णदृष्टि गौतमके मनोभावोंको बराबर देख रही थी, पर उसकी ज्ञानज्योति इतनी सतेज थी कि उसमें दयाकी शीतलताको अवकाश ही नहीं मिला। वह सागर जैसे गम्भीर और शिखर जैसे उच्च भव्य पर कठिन हृदयसे गौतमके प्रति फिर जोर से खिलखिलाए और बोले–

"देववल्लभ तू मेरा हाथ मांगता है। हा ··हा···हा···, तू मेरा हाथ माँगता है। पर मैं स्त्री नहीं हूँ। हा···हा··· । तू मुझे स्त्री बनाना चाहता है। यही तेरी गुरुभक्ति है? सुन, मैं तुझे कहे देता हूँ कि–स्त्री हाथ तो देती है पर बदले में हृदय ले लेती है। हृदय जाते ही हिम्मत उसीके साथ चली जाती है। इसी लिए स्त्रियाँ बड़ी हिम्मतवाली हैं।

आज पुरुष रोता हुआ, दीन, परके हाथका सहारा चाहनेवाला, स्वबल और स्वमानका भान न रखनेवाला अनुदार बन गया है। देववल्लभ, यदि मुझमें परका कुछ भी करनेकी शक्ति होती तो मैं यह चाहता कि आजके पुरुष स्त्री बन जाते। इससे उनमें कुछ विशेष मनुष्यता प्रकट होती। और गौतम, अपने तो इस समय मनुष्यता ही नहीं किन्तु देवत्व परमदेवत्व और सिद्धत्वके प्रकट करनेके लिए शत्रुञ्जय गिरिराजपर निकल पड़े हैं, तू क्या यह भूल गया" महावीरने कहा।

"गौतम, आजकी स्त्रियाँ स्त्रीत्वकी वफादार नहीं हैं और पुरुष पुरुषत्व के। आज सबका लक्ष्य बिन्दु भोग विलास हो रहा है, और कुछका तो मात्र ऐश आराम ही। और उनने तो मुक्तिके स्थानपर ऐश आरामको ही बैठा रखा है। आराम और सुखको प्राधान्य मानकर 'दुनियवी ईश्वरों' ने शेष दुनियाँके मनुष्योंके लिए नीति अनीतिके बन्धन और पुण्य पापकी सांकलें बनाकर उन्हें साहस स्वास्थ्य मस्ती गौरव आदिके बिना क्षुद्र कीटकी तरह जिन्दगी बिताना सिखाया। देववल्लभ, तू भी इन सब दुनियवी धर्मके आडम्बरोंमें उलझ रहा है, और मेरे हाथका सहारा माँगता है। पर ऐ देववल्लभ, समझ, दुनियाकी नीति और धर्मके आडम्बरोंको तोड़नेके लिए नूतन धर्मका प्रतिबोध देनेके लिए, और नवीन लोगोंको भड़काकर उनमेंसे कुछ हिम्मतवाले व्यक्तियोंका निर्माण करनेके लिए ही मैं अपनी सर्वोच्च स्वावलम्बी शिखरसे कुछ नीचे उतर आया हूँ। प्रत्येक वस्तुको नवीन मूल्य दे रहा हूँ, नया नाम और नया रूप दे रहा हूँ। इसीसे पुराने मूल्यके ठेकेदारोंका आसन हिल रहा है वे क्रोधित होकर मुझपर प्रहार करनेमें भी नहीं चूकते। पर इससे क्या? प्रत्येक प्रहार मुझे आनन्दका नया पाठ देता है। और इसीलिए मैं आर्योंकी अपेक्षा अनार्य जनता-में अधिक आता हूँ"

फिर भी गौतमकी घबराहट दूर नहीं हुई। उसने दीन स्वरमें कहा "प्रभो, मैं तो आपका भक्त हूँ, शिष्य हूँ, मुझे तो अपना हाथ पकड़ाइए।"

महावीरने आँखें बन्द कर उपेक्षासे कहा—"मैं गड़े मुरदे नहीं उखाड़ता। और मेरा शिष्य तुम्हारे समान गुरुकी ही शिक्षा या आज्ञा नहीं दे सकता। तू उस समय मेरा शिष्य होने आया था जब अपनेको ही नहीं पहिचानता था। गौतम, जो अपनेको ही नहीं पहिचानता वह दूसरेको क्या पहिचान सकेगा? और मुझे पहिचाने बिना ही मेरा शिष्य बनने चला है इससे क्या काम चलेगा? इसलिए पहिले तू अपनेको पहिचान, तभी मुझे पहिचान सकेगा। और जब तू मुझे पहिचान लेगा तभी मैं तुझे अपना शिष्य बना सकूँगा। देववल्लभ, मेरा लोकोत्तर धर्म ऐसा ही है। दुनियाके धर्म इससे उलटे हैं। लोग चाहे जिस पुरुषके पैरोंमें पड़ जाते हैं। कोई चेहरेके तेजसे प्रभावित होकर, तो कोई संगीतसे मुग्ध होकर या वाक्छटासे रंजित होकर उसके शिष्य बन जाते हैं। पीछे वे समाजभक्षक अपने गंदे स्वार्थोंको पुष्ट करनेके लिए कानूनके नामका मनमाना जाल बिछाकर मछलियोंको फँसाते रहते हैं। देववल्लभ, महावीरका लोकोत्तर धर्म इन सबसे जुदा है। जिसने अपने स्वरूपको नहीं पहिचाना उसे महावीर कभी शिष्य नहीं बनाता। अपनी सामर्थ्यको जिसने नहीं जाना वह महावीरका शिष्य होनेका अधिकारी ही नहीं है।

हाँ, चोरोंका सरदार मेरा शिष्य हो सकता है, वेश्याएँ मेरी शिष्याएँ हो हो सकती हैं। युद्धमें हजारोंका संहार करनेवाला रक्तहस्त क्षत्रिय मेरे शिष्य बनते हैं यह सब ठीक है परन्तु ये सब अपनी सामर्थ्यको पहिचानते थे। वे अपनी शक्तिमें लज्जा नहीं करते थे और अपनी शक्तिको अधिकाधिक विकसित करनेकी तीव्र आकांक्षावाले थे। इसीलिए वे हमारे शिष्य बन सकते थे। शक्तिको अपराध, साहसको मूर्खता, जमीनपर पेट रगड़कर दिन पूरा करनेको सभ्यता और सद्गुण माननेवाले, पहाड़ गुफा समुद्र आकाश और सिंहके नामसे ही चौंकनेवाले सद्गुणी(?) मेरे शिष्य नहीं हो सकते। गौतम, तू भ्रममें पड़ा है। अब तू इन तथोक्त सद्गुणियोंके पंजेसे निकलकर शत्रुंजय गिरिराजपर चढ़ने लगा है, और मुझे स्पष्ट दिख रहा है कि तू अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है। पर हे शत्रुंजय गिरिके पथिक, क्या यहाँकी खुले आकाशकी हवा तुझे मजबूत बनानेमें समर्थ नहीं है? ये पहाड़ी दृश्य तेरे भीतरको सुदृढ़ बनानेमें शक्त नहीं हैं? और जिसे तू गुरु माननेको तैयार है उसका उपेक्षा पूर्ण गान उन्मुक्त अट्टहास स्वावलम्बी जीवन ये सब क्या तुझे लोकलाजके बन्धन तोड़नेकी समर्थ प्रेरणा नहीं दे रहे हैं? गौतम, मैंने यह पहिले ही कहा था कि इस दुनियामेंसे 'प्रभु' मर गया है, और अब फिर यह

कहता हूँ कि—इस समय प्रभु तुझमें 'अवतार' लेना चाहता है। तू इसके लिए तैयार हो जा।

इसके बाद महावीरने नेत्र खोले और पूर्ण तेजस्वितासे कहा—गौतम, देववल्लभ, भावी भगवान्, खड़ा हो जा, और पहाड़पर चढ़ने लग, कूँदता हुआ फलांग मारता हुआ और क्षीण पुरुषोंकी हँसी करता हुआ और टेकरियोंको थपेड़ा देता हुआ ऊँचे-ऊँचे और ऊँचे चढ़ने लग।

इसी समय गौतमके शरीरमें बिजलीकी शक्ति सी आई। उसने माथा ऊँचा किया और वह आगे बढ़ने लगा। शरीरपरके सारे वस्त्र उसने हवामें फेंक दिए।

एक दो तीन टेकरियाँ पार की होंगी कि एकाएक गौतमको सिंहगर्जना सुनाई दी।

गौतम वहीं रुक गया और उसके मुँहसे सहजमें निकल पड़ा—"प्रभो, सहाय करो, रक्षा करो।"

"ओ भयके वातावरणको चाहनेवाली दुनियाकी मछली, तू दिन रात भय-भयसे ही तड़फड़ाती रहती है। यदि मैंने क्रोधादि सभी दुर्वृत्तियोंपर जय न किया होता तो तुझपर असीम क्रोध आता। इस तरह भयकी जिन्दगी बितानेकी अपेक्षा सिंहके मुखमें जीतेजी घुसनेका साहस क्या 'उच्च खानदानी' नहीं हैं? पेटके बल चलकर रेंग-रेंगकर दस वर्ष जीवन लम्बा करनेकी अपेक्षा कूँदना नाँचना हँसना उड़ना और संघर्ष करनेमें क्या अधिक मजा नहीं है? दूसरेकी मदद, रक्षा और दया से जीवित रहनेकी अपेक्षा भयको मरदानगीकी भेंट चढ़ानेमें क्या अधिक स्वास्थ्य सुख नहीं है?

ए नाजुक बदनकी गुलामीसे गले तक फँसा हुआ मनुष्य, इस भयको तूने ही उत्पन्न किया है। तू सच बता, क्या इसी तरह तूने दुनियामें 'भय' की सृष्टि नहीं की है? यह सिंह तुझे डराता है, पर 'तू चाहे जितने सिंहोंके कान पकड़ सकता है' इस सत्यको तू क्यों भूल गया है?" इस प्रकार महावीरने कहा।

"देववल्लभ, मैं तुझे एक अपनी बीती सुनाता हूँ। सुन

गौतम, मैं एक दिन इसी शिखरपर बैठा हुआ अनन्त आकाशमें खेल रहा था। लोग इसे ध्यानदशा कहते हैं। पर इस दशामें जो अनेक युद्ध चलते हैं, और समुद्रस्नान सूर्यस्नान तथा भयंकर तूफान चलते हैं उनकी खबर कुछ ही विवेकियोंको होती है।

इसी समय कुछ गायोंको लेकर एक ग्वाला मेरे पास आया। मुझे साधु समझकर बोला—बाबाजी, मैं जब तक वापिस आता हूँ तबतक इन गायोंको

सम्हालना। यह कहकर वह चला गया। गौतम, समझा। ये गायें और ग्वाला क्या हैं? ये मनुष्य गायें हैं और इनके दिलपर सत्ता चलानेवाले राजा और धर्म के ठेकेदार गुरु ये ग्वाले हैं। तू समझा।

उस ग्वालेने विचारा होगा कि मैं भी एक साधु होनेसे इन गायोंको बांध रखनेकी कला जानता होऊँगा। और इसीलिये वह मुझे गायोंको सौंपकर चल दिया।

पर मैं तो टेकरीपर बैठा हुआ बादलोंके उस पार उड़ रहा था, वहीं कूद रहा था। मुझे उन गायोंकी क्या परवाह थी?

आकाश से कामधेनु लानेकी शक्ति मुझमें थी, पर मैं बेगरज, मुझे इन गायोंकी क्या परवाह?

जिस तरह मुझे गायोंका ग्वाला या मालिक बननेकी इच्छा नहीं थी, उसी तरह लकड़ीसे मार मारकर उनका दूध छीननेवाले उन्हें सदा बांध रखनेवाले ग्वालेसे उन गायोंको छुड़ानेकी भी इच्छा नहीं थी। कारण, मैं प्रकृतिके नियम और उसकी प्रक्रियाको बराबर जानता था। मुझे किसी भी दशामें खेद नहीं होता था। मैं लागणी मात्रसे परे था। मेरी प्रकट शक्तियाँ किसीकी तृषा मेटनेमें सहायक हो जाँय यह दूसरी बात है पर मेरा स्वयं किसीको खेद पहुँचाने या किसीपर दया करनेका स्वभाव नहीं था।

इसीलिए मैंने उन गायोंकी परवाह न की और अपने ध्यानमें मस्त रहा। मुझे इस तरह लापरवाह देखकर गायें स्वयं किसी गाँवके रास्ते चली गईं।

"गौतम, वे बिचारी गायें कदाचित् यह समझती होंगी कि उस ग्वालेकी तरह मैं उन्हें खूंटेसे बांधूगा, कुछ हरी घास डालूंगा, दो चार पुचकारा देकर और पीछे एकाध डंडा जमाकर उन्हें दुह लूंगा।"

"उन बिचारी गायोंको खुले मैदानमें चरनेकी मनाई थी। वे तो खूंटेके आगे पड़े हुए हरी घासको खाती थीं। अतः उनकी वही आदत पड़ गई थी और उसीमें उन्हें सुख लगता था।"

"उन बिचारी गायोंके आगे सदा रस्सी और दंड रहता था। वह मेरे पास उनने देखा नहीं। गौतम, बता, उन गायोंको मेरे पास रहना कैसे सुहाता?"

"पर गौतम, सुन, महावीर लोगोंके साथ अधिक बोलचाल नहीं करता। सिंहनीका दूध स्वर्णपात्रमें ही ठहर सकता है। महावीर यह जानते थे कारण कि वे गुफामें भी देख सकते थे।

और महावीरकी भाषा जितनी सिंह और बालक समझ सकते हैं उतनी गायें और ग्वाले नहीं समझ सकते। कारण कि सिंहके उच्छ्वासको भी गायें दुर्गन्ध मानती हैं। इसीलिए मैं गुफाओं, पर्वतशिखरों, बादलों या अपने

विचारपुत्रों से ही बात करता हूँ। और यदि कभी दुनियाँमें कोई बलवा करनेवाला शेर दिख जाता है तो उसके साथ भी बात कर लेता हूँ।

"ओ देववल्लभ, मेरी समझदारी और ज्ञान बाहरकी गुफामें रहा था, अतः शहरी लोगोंको वह भयंकर मालूम होता था। मेरी समझदारी एकान्त गिरि-शिखरकी शिलापर जन्मी थी, और उसका बालक जन्मसे ही समुद्र तलसे अनन्त आकाश तक उछलता था।

यह तनदुरुस्ती, यह मस्ती और यह जन्मसिद्ध शक्ति दुनियाको भड़काने वाली है। कारण कि बाड़ेमें या घरमें खूँटेसे बँधे रहनेमें और दो गजकी जमीनमें लोटने या पेट घसीटकर वमने जैसी प्रवृत्तिमें इनकी 'सुरक्षित जिन्दगी' की खैर है। जब हरी घास इनके सामने पड़ जाती है तो ये उसे खाकर तथा वहीं लोट पोट कर खुश हैं। यही बात इनकी प्रकृतिमें बैठानेके लिए युगोंमें अनन्त ग्वालोंने श्रम किया है। "और ऐ देववल्लभ, चोटी चोटीपर और गुफा-गुफामें मेरी समझदारीको जाननेवाले मस्त बालक मौजूद हैं और आगे रहेंगे। और कुछ समय बाद उन मस्त बालकोंको नहीं देखनेवाली गायें उन चोटियोंको पूजने जायँगीं।"

"और गौतम, मैं हँसी नहीं करता, मैं तुम्हारे जैसे शत्रुंजय गिरिपर चढ़ने वालेका 'ईश्वर' बननेमें आनाकानी कर रहा हूँ और ये विचारी गायें तो पत्थरके टुकड़ेको भी ईश्वर बनाकर पूजती हैं। इन गायों और ग्वालोंकी कितनी ओछी महत्त्वाकांक्षा है, कितनी ओछी धीठता है? इस महत्त्वाकांक्षापर तू हँसता नहीं? 'ये पत्थरको ईश्वर बना रहे हैं' इसीसे मालूम होता है कि–इनका हृदय कोई दूसरी वस्तुको नहीं चाहता, केवल ईश्वरत्वके लिए तरस रहा है।

"गौतम, पत्थरको ईश्वर बनानेवालोंके प्रति तुझे हँसी नहीं आती? ऐश्वर्य तो विश्वमें सब जगह फैला हुआ है। इसलिए जब मनुष्य अपना ऐश्वर्य स्वीकार करने और जाहिर करनेमें जितना विकृत बनता है उतना ही उसके अन्दरका दबा हुआ ऐश्वर्य किसी दूसरे पात्र या पदार्थको 'ईश्वर' बनानेके लिए प्रवृत्त होता है। वह दबा हुआ ऐश्वर्य ही कहता है कि–'चलो पत्थरको ही ईश्वर बनाकर पूजा जाय क्योंकि ईश्वर-पूजाके बिना सब धूल है।

'गौतम, इन ग्वालोंने गायोंको अपने ऐश्वर्यको पहिचानने, स्वीकार करने और जाहिर करनेमें शरम पाप अनीति और अपराध माननेकी शिक्षा दी। क्योंकि जबपर ही सहज रीतिसे राज किया जा सकता है। इसी लिए इन ग्वालोंने गायोंको विनय भी सिखाई।

"लम्बे समयसे इस प्रकारकी सिखाई गई गायें स्वयं ग्वालोंसे कहती हैं कि तुम हमारे शरीरमेंसे दूध दुह लो, और उस दूधकी मलाईसे सशक्त बनकर अनन्त काल तक हमारे ऊपर स्वामित्व करो, और हमारी जिन्दगीको 'सुरक्षित' रखनेके लिए हमें खूँटेसे बाँधो, रस्सी और डण्डेका प्रयोग करो। जैसा तुम्हारा मन चाहे मुझे राखो। तुम्हारी शरणमें ही मुझे सुख है।"

नागरिक हाकिमोंसे कहते हैं—हमारे पाससे कर लो और तुम्हें अपनी कीर्तिको कायम रखने और बढ़ानेके लिए किए गए युद्धोंमें होमनेके लिए हमारे शरीर चाहिए तो वे भी तैयार हैं। क्योंकि हमें तुम्हारे इस कथनमें विश्वास है कि "तुम जो कुछ कर रहे हो, वह हमारी रक्षाके लिए ही कर रहे हो।" हम तो तुम्हारा अचल सूर्य और अपना अखण्ड 'चुडलो चाँटलो' चाहते हैं। और इसीलिए तुम्हारी बिना शर्त वफादारी बतानेमें ही हमारा कल्याण है।

भक्त लोग गुरुओंसे कहते हैं कि हमारा धन ही नहीं किन्तु तन मन और आत्मा भी तुम्हें समर्पित है। तुम जो कहते हो वही हमारी नीति है। तुम जहाँ ले जाओ वहीं हमारा मोक्ष है।"

"और गौतम, ऐसा बोलनेवाले लोकगणनीय हृदय तो पत्थरको भी ईश्वर बनानेके लिए तरसते हैं, यह उन विचारोंको कहाँ पता है? इसीलिए कहता हूँ कि मैं गायोंसे नहीं बोलता और न ग्वालों से। मैं सिंहों और बालकोंसे बोलता हूँ। और अपनी उन्नति करनेवाली दुनियासे बोलता हूँ। खरी बात तो यह है कि मैं ईश्वरोंको उत्पन्न करता हूँ।" इसलिए हे देवबल्लभ, मेरा उन गायोंके विषयमें कोई विचार ही नहीं आया। और गाएँ भी जिन चीजोंसे खुश होतीं, बहलतीं वे मेरे पास थीं ही नहीं। यह देखकर गाएँ स्वयं अपने निवासकी ओर चलीं गई। वे बिचारी गरीब गाएँ स्वयं ग्वालोंके बाड़ेकी तरफ चलीं गयीं।

कुछ समय बाद वह ग्वाला एक गायको साथ लिए हाँफता हुआ मेरी तरफ आया। गौतम, उसका चेहरा क्रोधसे लाल हो रहा था। उसकी आँखें अग्नि बरसा रहीं थीं। उसके हाथमें दैत्यका बल आ गया था। उसने रसीका छोड मेरे ऊपर जोरसे फटकारते हुए गरजकर कहा। उस गरजनासे आकाशके परदे भी फटने लगे।

"रे धूर्त, तू मेरी गायोंको अपने बाड़ेमें छिपाना चाहता था दूसरेकी सम्पत्ति चुरानेमें ही तू अपने अचौर्य व्रतको सार्थक मानता है?"

इसी समय आकाशमें बादल घिर आए और उनसे एक प्रकाश निकला। उसमें इन्द्र अपने पूरे ठाठमें प्रकट हुआ और कहने लगा—"प्रभो, बारह बारह वर्ष तक आपके ऊपर आफतें आनेवाली हैं। मनुष्यकृत और देवकृत संकटोंके

बीच आपको बड़ा लम्बा समय बिताना है। अतः मुझे अपने देहरक्षक रूपसे रहनेकी आज्ञा दीजिए।"

इन्द्र आकाशमें अधर खड़ा हुआ था। उसकी एक आँख मेरी तरफ थी तथा दूसरी आँख ग्वालेके ऊपर अग्नि बरसा रही थी। वह आँख मानो कह रही थी कि यदि आज्ञा मिले तो एक क्षणमें इसे भस्म कर दूँ।

मैं मौन रहा।

"प्रभो, मेरा धीरज टूट रहा है। यह उद्धत हाथ फड़क रहा है और वज्र मस्तीसे गिरनेके लिए फड़फड़ा रहा है।" इन्द्रने फिर कहा। और मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ा। इन्द्र, तुम्हारे वज्रमें मस्ती है यह सन्तोषकी बात है पर तुम्हारी भक्तिमें विवेक कब आयगा? जरा बताओ तो? तू मदद करने आया है? किसकी? किसलिए? किस प्रकार? किस कारण? और सहायता···? इन बातोंका कुछ विचार भी किया है? तू मुझसे मदद स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है? पर इस प्रार्थनामें ही मेरा सख्त अपमान भरा हुआ है? तू समझता है? मदद, सहाय, दया, रक्षण किसका? क्या मुझे 'बिचारा' मान लिया है? क्या तूने मुझे दुःखके नामसे ही तड़पनेवाला मान लिया है? क्या मार त्रास और कुदरतकी पीड़ादायक घटनाएँ बीमारी आदिमें, जिन्हें मनुष्य और देव भी हटाना चाहते हैं, हमारी सुप्त आँखें कोई अजीब प्रकारकी खूबी आनन्द और लज्जत नहीं देख सकतीं'? ओ इन्द्र, समझ, तेरे वज्रसे अनन्त गुणी सामर्थ्य मेरी इच्छा शक्तिमें है। जिस गुप्त शक्तिको स्थूलरूपमें प्रकट करनेमें मुझे कोई रस नहीं है। आज मनुष्यमें शक्तिका खिलाव बहुत कम है। वह किसी भी तरह बढ़े यह देखनेमें ही मुझे खुशी है। यदि मनुष्य मेरे ऊपर आफत लाकर भी अपनी शक्तिका खिलाव करता है तो इसमें मुझे आनन्द ही आनन्द है।

"ओ इन्द्र, सामनेके पत्थरके ऊपर उगे हुए पौधेपर निगाह डाल वह चारों ओर हरियाली छोड़ता हुआ कैसा खिल रहा है। देख इसे। पत्थरको फोड़कर अपनी जड़को उसके भीतर तक ले जाना इसे किसने सिखाया? सख्त बरसात और आग-सी किरणोंके सामने यह नाजुक पौधा अपनी रक्षाके लिए किन मनुष्य और देवोंसे कहता फिरता है?"

"ओ इन्द्र, यह समझ कि—'सहायता' की निरन्तर इच्छा करना यही मनुष्य का नरक है। सहायता करनेवाले जिसकी सहायता करते हैं उसका नुकसान ही करते हैं इस तत्त्वको मनुष्य तो क्या देव भी नहीं समझ सके हैं? तू मुझे 'जिन' और 'अरहंत' को दीन लाचार परमुखापेक्षी पामर प्राणी बनाना चाहता है यह तेरे विचारमें भी नहीं आया। सहायताका मूल्य आंकनेवाले, तुम मेरी खोटी कीमत कर रहे हो? सहायता करनी ही है तो शक्ति बढ़ानेमें मदद करो। दीन हीन

बनाने और पराधीन बनानेके लिए सहायता न करो। स्वरक्षा और जयकी शक्ति प्रत्येक जीवात्मामें है। उसे प्रकट करनेमें उसके विकासमें सहायता करनी हो तो करो, पर परोक्ष रीतिसे, दूर रहकर सूर्य की किरणों की तरह प्राकृतिक भावसे करो। जीवात्माओं की खरी सहायता यही है। इन्द्र, तू कितना ही बलवान् क्यों न हो पर अभी भी तू सोने चाँदीकी बेड़ियोंसे, सुख दुःखकी भावनाओंसे जकड़ा हुआ 'गुलाम' है। वासनाका दास है। जो बंधनमात्रको हंसता है, और वासनाओंको अपनी छिंगरीपर नाच नचाता है वह 'वीर' एक 'गुलाम' की सहायता चाहेगा या इच्छा करेगा? हा···हा··हा··· पर तुझे अभी इस असीम सत्यको समझनेमें समय लगेगा। हीरा और माणिकों से सजा हुआ तू इस 'नग्न सत्य' को नहीं समझ सकता। भला भाई, इस समय तू अपने स्थानको सिधार, मुझे अपना आनंद अकेले ही लेने दे।''

'हे देववल्लभ गौतम, इन्द्र तो माथा झुकाकर अदृश्य हो गया, और मेरी दृष्टिके सामने वही क्रोधातुर ग्वाला था। यह सब क्षणमात्रमें हो गया। उस ग्वालेने न तो इन्द्रको देखा और न उक्त बातचीत ही सुनी। क्या दुनियाँका कीड़ा देवोंके देवको देख सकता है? मेरे मौनने ग्वालेकी क्रोधाग्निपर घीका कार्य किया। वह साँपकी तरह फुँफकार कर रस्सीको मस्तकके चारों ओर घुमाते हुए बोला—रे पापी, दूसरेकी गायें चुराते समय तुझे नरकका भी भय नहीं लगा।

मैंने उस समय ग्वालेकी ओर आँख उठा कर कहा—रे गुमानी, पाली हुई गायोंको भी गुमानेवाला पामर, किस बलसे तू मुझ एक पहाड़ी पुरुषको रोब दिखाता है? आत्मठग, शरम खा, शरम खा। तू अपनी कागजकी तलवारको म्यानमें रख। नहीं तो तू ही अधिक दुखी होगा। मुझे पहिचानता है? नहीं-नहीं, जब तू अपनेको ही नहीं पहिचानता तो मुझे क्या पहिचान सकेगा? पर तुझे इतनी खबर तो होनी ही चाहिए कि मैं किसी ग्राममें या सीमामें नहीं, किन्तु पहाड़पर रहता हूँ। जहाँ 'बाड़ा' होता ही नहीं। और जहाँ गायोंकी दुर्गन्ध भी नहीं होती। भोले, तू अपनी गायोंसे ही पूछ, क्या ये इस स्वतन्त्र खुली हवामें रह सकती हैं? सिंह और अवधूतोंके निवासरूप इस पहाड़ी प्रदेशमें 'बाड़ा' कैसा और 'चोरी' कैसी? चोरीकी इच्छा रखनेवाले ग्वालोंने ही ये 'बाड़े' बनाये हैं। तुमने भक्तोंको चोरीमें पाप बताया और चोरीमात्रका, केवल द्रव्यकी ही नहीं किन्तु बुद्धि स्वमान बल और साहसिक वृत्तिकी चोरीका अवसर भी तुम्हीं लाए। चोरीसे मिल सकनेवाली तमाम वस्तुओंपर अपना अकेला अधिकार करके और उस कब्जेको निराबाध बनानेके लिए ही तुमने दूसरोंको चोरी करनेका निषेध किया। सारे सुखको अकेले ही

भोगनेकी लालसासे ही दुनियाके दूसरे लोगोंको चीजमात्रमें पाप बताकर भड़काया और भयप्रेरित त्याग और सन्तोषमें 'भविष्यका सुख' समझाया। सच पूछा जाय तो तुम्हीं दुनियाके खरे चोर हो। इतना होनेपर भी दुनियाके रक्षकके रूपमें पुजनेके लिए नित्य नये विकल्प उठाते हो।

पर मैं तो चोरोंका भार पृथिवीपर से कम करने आया हूँ। और रस्सी बेड़ी तथा बाड़ेका संहार करनेमें कभी-कभी मजा लेता हूँ। गायके मांसपर जीवित रहनेवाली मक्खियो, तुम अपनी भद्दी भनभनाहट बन्द करो, तुम अपने बाड़ेकी दीवालें तोड़ दो, रस्सी और दण्ड जला दो, और 'यह नहीं करो वह नहीं करो' इन निषेधोंको 'हाँ' की सद्भावनामें बदल दो। यह समझ लो कि इन सब पाखण्डोंका काल महावीर पैदा हो गया है। लौकिक धर्मोंकी जगह लोकोत्तर दिव्यताकी ज्योति जगानेवाला केशरी सिंह जन्म ले चुका है। यह जानकर चुपचाप गायोंको मुक्त करो और अपना पुराना गन्दा खेल बन्द करो। अपनी मालिकीके पीछे मरनेवाले ग्वाले, दूसरेपर मालिकी चलानेके पहिले खुद अपने ऊपर मालिकी चलाना सीखो। जो अपने ऊपर हुकम कर सकता है और स्वयं अपने प्रति नमकहलाल हो सकता है वही दूसरेपर हुकुम चलाने या उनपर सत्ता पानेका अधिकारी हो सकता है। 'जो अपने भीतरकी अनेक ग्रन्थियों वासनाओं और वृत्तियोंके साथ स्वयं युद्ध करता है और प्रत्येक संघर्षमें निखरे हुए अपने स्वरूपमें आनन्द ले सकता है वही राज्य करने लायक है।"

'ओ ग्वाले, तू मेरे सामने नजर कर, तू राजा है या गुलाम? मालिक है या मिल्कत? इस प्रश्नके विचारकी भट्टीमें तपकर तू अपने स्वरूपको प्राप्त कर।"

"ओ देववल्लभ, मैं अपना अन्तिम वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वह ग्वाला जमीनपर गिर पड़ा और उसके शरीरके पुद्गल निकल निकलकर नए आकारको धारण करने लगे। देखते-देखते ग्वालेके शरीरकी जगह ऊँट दिखा। वह अपनी पीठपर मानो भार लादनेको कह रहा था। वह ऊँट चलने लगा। थोड़ी दूर गया होगा कि वह रूप पलटकर गरजता हुआ सिंह बन गया। देखते ही देखते सिंहने बालकका रूप धारण कर लिया। गौतम, वह बालक भी हँसता-हँसता अदृश्य हो गया। मेरे सामने मात्र पर्वतकी शिखरें और त्रिविध-तापको हँसनेवाले अपना विकास स्वयं करनेवाले और अपने आनन्दमें मस्त डोलनेवाले वृक्षोंके सिवाय दूसरा कुछ नहीं रहा।

आप बीती घटना पूरी हुई पर गौतमने इसका मर्म नहीं समझा। तब महावीरने गौतमसे फिर कहा—देववल्लभ, तू समझा? मनुष्यमात्र इन तीनों दशाओंसे गुजरता है।

"गौतम, ऊँट जिस तरह जितना चाहे और जैसा चाहे बोझा अपनी पीठपर लदवानेको स्वयं बैठता है और दूसरेका बोझा ढोनेमें ही मरदानगी और 'सद्गुण' मानता है उसी तरह मनुष्य पहिली अवस्थामें सभी मनुष्यकृत कायदा कानून विधान स्मृतियाँ शास्त्र नीति और रीति-रिवाज के बोझेको अपने ऊपर लदवानेमें और इस बोझेको ढोनेमें ही मरदानगी मनुष्यता सद्गुण और धर्म समझता है। वह यह नहीं समझता कि बोझा लादनेवाला कौन है, और किसके लिए बोझा लादा जा रहा है और किस रूप रङ्ग और स्वादका यह बोझा है ?

"परन्तु ओ देववल्लभ, ऊंट जिस समय पीठपर बोझा लादे दौड़ता जाता है और चारों तरफसे गरम युद्ध क्षेत्रमें जा पहुँचता है तो मस्ती सीखता है और सिंह बन जाता है। जिस पराये बोझेको बार बार ढोता था उसे उठानेसे इनकार करता है। और बोझेके सिवाय स्वतन्त्र जीवन बितानेकी आवश्यकता उसे पहिले पहिल मालूम होती है। बोझाका त्रास और एकान्त स्थान ये दोनों उसे उसमें स्वातन्त्र्यका भान कराते हैं। 'यह नीति, यह अनीति' 'इस तरह चल, इस तरह नहीं 'अपना हित निश्चय करनेका अधिकार उसे नहीं है' आदि विधि-निषेधोंके आधीन रहने को अब वह तैयार नहीं होता। वह पुरानी कीमतोंको तोड़नेके लिए सिंह बन जाता है पर नये मूल्य उत्पन्न करनेकी योग्यता अभी उसमें नहीं आई।"

"देववल्लभ, अब वह बालक बन जाता है। जो सिंह नहीं कर सकता वह बालक करेगा। बालक निर्दोषताका अवतार है। अतीतकाल और अतीतकाल की गुलामियोंका उसे स्मरण ही नहीं, ध्यान ही नहीं, इसीलिए उसमें निर्दोषता भी है निडरता भी। भविष्यके सम्बन्धमें वह संकल्प-विकल्प रहित होकर आनन्द स्वरूप है। बालक नई जिंदगी है, नया खेल है, पहिली प्रवृत्ति है, जीवनसूत्र का पवित्र विधान है, किसीकी इच्छाके पीछे खिंचता नहीं, स्वयं अपना अनुसरण करता है। यह निर्दोष निर्विकल्प और निडर प्रवृत्ति, प्रत्येक वस्तुको उसके हित और नुकसानमें उसकी कीमत देनेमें आग्रही होती है। इसका उत्साह आग्रह और आत्मश्रद्धा अटूट होती है।"

"और गौतम, यदि तू अभी तक बालक नहीं बन सका तो 'वीर' कहाँसे बन सकेगा। ओ देववल्लभ, अपनी निडरता और अपना आनन्द जैसे बालकका स्वाभाविक है वैसा तेरा है क्या ?"

"ओ गौतम, कहो, अब तुम्हारी मेरा हाथ पकड़ने की नादानी छूटी या नहीं ? अब तुम अपने स्वरूपका विश्वास कर सके हो ? तुम्हें अपनी खानदानियतका भान हुआ ? कहो, झटपट कहो।"

भक्तिपरायण गौतम दीनतासे बोला– "प्रभो कृपानाथ, मुझे ज्ञानकी गहरी बातोंकी घबराहटमें न डालो। मुझे तो आप गुरुदेवकी शरण, दया और सहायता चाहिए।"

महावीरने सोचा और फिर सोचा और मनमें ही कहा–मेरे इन शब्दोंसे इसे ज्ञान आता नहीं दिखता। 'आशाके केन्द्रकी ओरसे एक जोरका तमाचा जबतक मनुष्यको नहीं लग जाता तब तक मनुष्य आशाकी गुलामीसे मुक्त होकर स्वावलम्बी नहीं बन सकता।' मेरा वियोग ही इसे अपनी आँखोंसे देखनेवाला और अपने पंखोंसे उड़नेवाला बनायगा। मेरी सहायता माँगनेकी वृत्तिपर यह कल पछतायगा और अपनी इस दीनवृत्तिकी निन्दा करेगा। और इसी पश्चात्ताप और स्वनिन्दाकी अग्निमें तपकर गौतम सर्वशक्तिमान् बनेगा।

हुआ भी यही। महावीरके निर्वाणके बाद गौतम महादुःखी हुए और इसी महादुःखके बादलोंसे ही स्वरूपबोधकी ज्योति प्रकटी और वे केवली हुए। उसी समय गौतमका जयघोष हुआ, इसी समय गौतमने शत्रुञ्जय गिरिके उच्च शिखरसे महावीरके सिखाए वचनामृतोंका जयनाद किया। वे वचन आज भी शत्रुञ्जय गिरिपर सुनाई देते हैं—

"पुरिसा, तुममेव तुम मित्त
कि बहिया मित्तमिच्छसि"

पुरुषो, तुम ही अपने मित्र हो, क्यों बाहर मित्र ढूँढ़ रहे हो?

"जे एग णामे से बहू णामे,
जे बहू णामे से एग णामे"

"जो अपनी आत्माको नमाता है वही सबको नमाता है। जो सबको नमाता है वही एकको नमाता है।

"सव्वतो पमत्तस्य भयं,
सव्वतो अप्पमत्तस्य णत्थि भयं"

प्रमादीको चारों ओर भय ही भय है। अप्रमादी (जाग्रत आत्मज्योति वाले) को कहीं भय नहीं।

"समयं गोयम मा पमायए"

गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

"सम्मत्तदंसी ण करेति पाव"

सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता। इसकी क्रियाएँ निर्जराका कारण होती हैं।

[अनुवादक—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य]

अभिनिष्क्रमण से पूर्व

छोड़कर परिजन पुरजन धाम
छोड़कर ऐसी भूमि ललाम
कहाँ तुम चले कुसुम सुकुमार
हमारे प्राणों के आधार ?
सुगम सुन्दर जनपद यह तात
स्वर्ग जिससे खाता है मात
विदेहों का मनोज्ञ अधिवास
जहाँ सब सुख करते हैं रास
अन्न धन पशुधन दासी-दास
फूल फल मूल शहद नवनीत
भरित-पूरित यह तिरहुत देश
तुम्हे पहुँचाता है क्या ठेस ?

देखकर हरे भरे ये क्षेत्र
मुदित होते न तुम्हारे नेत्र
निबिड़ नीला पट कटि में डाल
प्रसारित कर चितकबरे पाल
करों में निज पतवार सँभाल
नाव खेते हैं धीवर-बाल
लादकर लाते रहते माल
रजत, कांचन, मणि, मुक्ताजाल
पद्म, हीरक वैदूर्य, प्रवाल
हंस लांछित कौशेय दुकूल
क्षौम-जनरुचियों के अनुकूल
अगरु, कस्तूरी, चन्दनखण्ड
वन्यपशु शृङ्ग, चँवर, गजदन्त
लाख, अबरख, शीशा औ काँच
काँस, पीतल, लोहा और ताम
गिनाऊँ यदि चीजों के नाम
सुबह से हो जाएगी शाम...
लादकर लाते रहते माल
नाव खेते हैं धीवर-बाल
कहीं पर पाँक कहीं पर रेत
इधर भी खेत उधर भी खेत

बीच में काँच-हरित गम्भीर
प्रवाहों में बहता है नीर
सदानीराके ये तट प्रान्त
तुम्हारी जलन न करते शान्त ?

हिमालय यह उत्तर की ओर
जुडाती है आँखों की कोर
देख लो तात यहींसे बैठ
महागज रहे मेघमें पैठ
प्रातकी लालीसे द्युतिमान
चमकता है नित नव हिमवान
देखता आया हूँ मैं रोज
प्रकृतिकी यह आभा, यह ओज
आँख खोलो हे अन्तर्लीन !
सृष्टि है सुन्दर सृष्टि नवीन !!

सुनी अग्रज की जब यह बात
रहे होंगे चुप पल छः सात
उठे दृग, गिरा सहज गम्भीर
अनाहत लगे बोलने वीर :

क्षमा हो तात, क्षमा हो तात
निकल जाए यदि मुँहसे बात
असंगत उद्धत या कि कठोर
ध्यान मत देना, जी, उस ओर
हुआ करता है बहुविध कथ्य[१]
सुधीजन के लेते हैं तथ्य ;
अनुज की सुन यह अटपट बात
रुष्ट होना कुछ भी मत तात
देव, यह जग आदीप्त प्रदीप्त
मुझे लगता दावानल-तुल्य
इधर भी आँच, उधर भी आँच
झूठ ही झूठ, नहीं कुछ साँच
स्वार्थ के पुतले हैं सब लोग
सोचते कभी न योग अयोग
भोग ही भोग, भोग बस भोग
दीखती नहीं मृत्यु या रोग
देख यह अहं सोच यह दंभ
देख कर ममता के ये नाच

---

१ श्वे० मान्यता ।

धधकती हिय में रह रह आँच
अचेतन का इसमें क्या दोष
सचेतन को ही है धिक्कार
भूल करता जो बारंबार !
भली यह भूमि , भले यह खेत
भली यह धूल , भले यह रेत
देव , बलिपशुओंकी यह धाम
बुद्धिका करता है उपहास
तात , धिक धिक हम मनुसंतान
करें फल फूलोंका गुण गान
अन्नसे भर जाता है पेट
तृषा होती है जलसे शान्त
मिटाता चन्दन तनका ताप
किन्तु , लूँ कैसे इनको मान
सदाका सत्य , दिव्य अवदान
दूर कर दें यदि मेरा क्लेश
धन्य होगा यह तिरहुत देश
ताप मेटे यदि भूमि ललाम
पायगी मेरा दण्ड-प्रणाम
छोड़कर चले गए मां-बाप
धरा , धन, धाम सँभाले आप
मुझे तो दे ही दें अवकाश
टँगे हैं ऊपर मेरे श्वास-
द्वन्द्वमें छुटकर , होकर रुद्ध
भावनाएँ करती हैं युद्ध
चले जाने दो हे मतिमान
चाहते यदि मेरा कल्याण
मुझे प्रिय है बस केवल ज्ञान
करूँगा उसका अनुसंधान
वृथा यह ममता नाहक मोह !
तात, मत रोको मुझको ओह !!

—नागार्जुन

आत्म-झाँकी

महात्मा भगवानदीन

[१]

एक कहावत है—

"रीझ बूझ बावली, मृदंगका टका और खजरीकी पावली।"

इस कहावतमें यह बताया गया है कि जब आदमी किसी चीजपर रीझ जाता है तब वह उसपर मन चाहा खर्च कर सकता है, और दूसरी उससे भी ज्यादा अच्छी चीजोंपर वह उसका आधा, चौथाई, या आठवाँ हिस्सा भी खर्च करनेके लिए तैयार नहीं होता। इस कहावतमें यही बताया गया है कि ऐसी रीझ बूझ वाला आदमी बावला यानी पागल होता है वह मृदङ्गकी मढ़ाई दो पैसे भी देना नहीं चाहता पर खंजरी, जिसपर वह रीझा हुआ है, उसके मढ़वानेमें पावली (चार आना) खर्च करने को तैयार है। जिसके मुँहसे यह कहावत निकली वह कोरा अनुभवी था। उसने एक सचाईको याद रखनेके लिए छन्दमें बाँध दिया, इससे आगे उसकी नजर न जा सकी, और इसी वास्ते उसने खंजरीके लिए चार आने खर्च करनेवालेको पागल कहकर अपनी झुंझलकी जलनको शान्त कर लिया।

किसीकी रीझ बूझको बावली कह डालना ऐसे ही आदमीकी हिम्मत हो सकती है जिसने कभी आँखें बन्द करके अन्दर नजर डालनेकी कोशिश नकी हो। इस तरहकी रीझबूझके तमाशे हमें खूब देखनेको मिले। और हम खुद भी उससे खाली नहीं हैं। जब हम खुद उससे खाली नहीं हैं तब हम इसे बावला-पन कैसे कह सकते हैं? और बावलेके पास 'बूझ' तो रह ही नहीं सकती और हमारी रायमें तो 'रीझ' भी नहीं रह सकती। असलमें, 'रीझ बूझ'के पीछे एक ऐसी चीज छिपी हुई है जिसका अगर ठीक-ठीक पता लग जाय तो हर आदमीकी रीझ-बूझ ऐसा रूप ले सकती है जो सिर्फ उसीके कामकी नहीं होगी, समाजके लिए भी कामकी साबित हो सकती है।

एक हमारे मित्र हैं, बड़े समझदार हैं, पढ़े लिखे हैं और कांग्रेसमें खासी ऊँची जगह पर रहकर उस जगहके कामको एकसे ज्यादा बार बहुत अच्छे ढङ्गसे निभा चुके हैं, पर, फलोंके दाम चुकानेमें या ताँगेवालेका किराया चुकानेमें उनका अपना तरीका है। वे उनके दामोंको अपने गजसे नापते हैं।

आमतौरसे ड्योढ़े और कभी-कभी दुगुने और तिगुने दाम तक दे डालते हैं। इस दाम चुकानेके पीछे उनका अपना दर्शन है। उसको समझे बिना उनका कोई भी साथी उनके इस कामको बावलेपनका काम कह सकता है। पर वह बावलेपनका काम होता नहीं। हाँ यह ठीक है कि उस कामको, रावलेपनका काम भी नहीं कहा जा सकता।

गांधीजीकी एक मिसाल देकर हम आपकी उलझन दूर किये देते हैं, पर सुलझनेके कामको हम इस तरह बढ़ा ही देंगे, कम नहीं करेंगे। हाँ, उसमें आसानी जरूर कर देंगे। बाजारसे जो साग तरकारी खरीदकर आश्रमके लिए आती था उसका एक भाव गांधीजीने बाँध रक्खा था और वह आमतौरसे वह भाव रहता था जिस भावपर वे अपने यहाँ पैदा हुई चीजोंको दूसरोंके हाथ बेंचते थे। मान लीजिए गांधीजीके यहाँकी गाजरें दो आने सेर बेंची जा रही हैं तो आश्रमके लोग अगर बाजारसे गाजर खरीदकर लायेंगे तो गाजर बेंचनेवालेको वे दो आने सेरके हिसाबसे ही दाम चुकायेंगे, भले ही गाजरोंका भाव बाजारमें दो पैसे सेर ही क्यों न हो। पढ़नेवालोंकी यह शंका भी हम यहाँ दूर किये देते हैं कि बाजारभाव आश्रमके भावसे कभी ज्यादा नहीं होता था और न हो सकता था क्योंकि आश्रम दाम लगाता था उस मेहनतपर जो बहुत मंहगी होती थी और किसान दाम लगाता है उसके मेहनतपर जो बहुत सस्ती होती है। इसलिए यह ज्यादा दाम देकर चीज खरीदना आश्रमका अपना गुन था। दूसरे शब्दोंमें यह गांधीजीका गुन था और इसी गुनके जरिए वे हजारोंमें से अलग छाँटे जा सकते थे और यही गुन हम सबमें किसी न किसी रूपमें मौजूद है, और उसीकी वजहसे हममेंसे हरेक हजारोंमें से नहीं तो दसियोंमें से जरूर अलग छाँट लिया जाता है। कौन नहीं जानता कि अन्धे आदमी अपने सब जानपहचानवालोंको पैरकी आहटसे ठीक ठीक पहचान लेते हैं। क्या यह इस बातका सबूत नहीं है कि हर आदमीके पाँवकी आहट अपने ढंगकी ऐसी होती है जो किसी दूसरेसे नहीं मिलती? यही हाल हमारे चेहरे-मोहरोंका है और यही हाल हमारी आवाजोंका, यानी हर तरहसे हम एक अपनापन लिए हुए हैं, इस अपनाइयतको जान लेना ही, यानी ठीक-ठीक समझ लेना ही, आत्म-दर्शन या आत्म-जानकारीकी ओर बढ़ना है। अपनाइयत हम अपनाये हुए हैं पर यह नहीं पता कि हम अपनाये हुए हैं। अपनाइयतके पता लगनेपर हममें एक बड़ी भारी तब्दीली होगी और वह तब्दीली यह होगी कि हमारे मन, मस्तक और वचनमें एकसुरापन आ जायगा जिसका नतीजा यह होगा कि हमारे मुँहसे जो वचन निकलेंगे उनके पीछे एक पक्कापन रहेगा, उनपर दृढ़ताकी मुहर लगी होगी। इस वजहसे हमारे भाई-बन्धु, जान-पहचानवाले,

मोहल्लेवाले और नगरवाले उनपर भरोसा करेंगे, हमें भी अपने वचनोंका पूरा-पूरा ख्याल रहेगा। तुलसीदासकी उस चौपाईमें 'रघु'की जगह 'नर' बोला जायगा और उसको यों पढ़ा जायगा 'नर कुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाँय पर वचन न जाई' नर-नारायणमें सचमुच भेद कहाँ है? हाँ तो हमने अभी यह बात कही कि अपनाइयतके पहचान लेनेपर हमारा क्या हाल होगा पर यह नहीं कहा कि वह अपनाइयत पहचानी कैसे जाय और जानी कैसे जाय? अपनी अपनाइयत आप जानना कठिन है, जैसे अपने पाँवकी आहटको औरोंके पाँवोंकी आहटोंसे अलग करना कठिन है। पर औरोंकी अपनाइयतको जानना तो आसान है, क्योंकि हम उसीके बलपर तो दूसरोंको बावला और पागल कह बैठते हैं। बस, अब अपनी अपनाइयत जानना कहाँ मुश्किल है? जिस किसी खास बातकी वजहसे लोग हमें सनकी, धत्ती या बावला कहे उसी अपनी खास बातपर कुछ दिनों ध्यान देनेसे हमें अपनी अपनाइयतकी जानकारी होने लगेगी। इस जानकारीमें आसानी करनेके लिए कुछ बातें सुझाई जा सकती हैं। उनमेंसे एक बात तो वही होगी जो ऊपर कही जा चुकी है। यानी मन, वचन और मस्तकको एकसुरा बनाना क्योंकि यही तो अपनाइयतके जानकारीकी पहचान है। यह ठीक है कि इनको एकसुरा बनाते ही अपनाइयतकी जानकारी नहीं होगी, क्योंकि वह एकसुरापन उतना टिकाऊ नहीं होगा जितना अपनाइयतके जानकारोंका होता है। वह एक सुरापन हमारी मेहनतका किया हुआ होगा, स्वभावसे विकास हुआ नहीं होगा। हाँ, कुछ दिनकी मिहनतमें विकसनेपर भी वह स्वभावसे विकसा हुआ जैसा बन जायगा पर तब तो हम अपनाइयतको जान चुके होंगे और फिर उसे स्वभावसे विकसा हुआ कहनेमें भी कोई असत्य बात न होगी। इस बातको छोड़िये अब यह समझिये कि यह एकसुरापन भी कैसे पैदा हो।

हम अपने जीवनमें कुछ ऐसे फैसले जरूर करते हैं जिनपर हम पूरी तरह डट जाते हैं। उसकी वजह यही होती है कि उस फैसलेमें हमारा मन और मस्तक एक होता है और हमारा वचन उन दोनोंके मिलकर किये फैसलेको अपनी पीठपर लादकर दूसरों तक पहुँचा देता है। मन मस्तकके फैसलेपर हम क्यों न डटे रहेंगे? पर ऐसे काम तो हम कभी-कभी करते हैं। उनकी हमें याद भी नहीं रहती। आये दिन भी हम कुछ इसी तरहके फैसले करते रहते हैं। और कभी-कभी तो एक ही दिनमें एकसे ज्यादा ऐसे फैसले दे डालते हैं। क्या आगकी तरफ बढ़ते हुए अपने बालकको देखकर हम एकदम उसको रोक लेनेका फैसला नहीं करते? और क्या वह फैसला एकसुरे मन मस्तकका नहीं होता? क्या हम घरमें आग लग जानेपर ज़ेवरके क़ीमती

बक्सको छोड़कर पहले अपने बच्चेके बचानेका फैसला तुरत नहीं करते ? और क्या वह हमारे मन मस्तकके एकसुरेपनका नतीज़ा नहीं होता ? अगर हम ज़रा सोचें, तो इस तरहके अनेकों फैसले हमारे जीवनमें मिल सकते हैं, पर इन सब फैसलोंमें हमारी स्वभाव-बुद्धिका हाथ ज़्यादा रहता है और इस तरहके फैसले कम ज़्यादा पशु, पक्षी भी कर लिया करते हैं। बस, अगर हम इतनी ही तेज़ी से आये दिनके कामोंमें छोटे छोटे पक्के फैसले करना सीख लें और उस कामके करनेमें इतना बहाव हासिल कर लें कि वह हमारा स्वभावही बन जाय तो हम अपनी अपनाइयतकी ओर बढ़नेमें एक पड़ाव पारकर चुके होंगे। यानी अपनाइयतकी ओर बढ़नेका पहला पड़ाव है तुरत ऐसे फैसले करना जिसमें हमारा मन मस्तक एकसुरमें हों और बचन सिर्फ दूतका काम करें। तीन शब्दोंमें 'तुरत फैसला करना' आत्माके मन्दिरकी पहली सीढ़ी है।

तुरत फैसला करनेमें ठीक फैसला करनेका भाव तो मौजूद ही है। इस तरहके फैसले दिल मिल-यकीनपनको दूर कर देते हैं, और आत्मझाँकीके लिये दृढ़ता पहली शर्त है, क्योंकि उसके बिना जिन्दगीका उद्देश्य नहीं बन सकता, और उद्देश्य बिना आत्म-झाँकी कैसी ?

जो धर्म किसी भी प्रकारकी अस्वाभाविकता-विषमताको आश्रय देता है उससे संसारका कोई भला नहीं हो सकता। अतः किसीको गिरानेकी भावना मनमें मत लाओ।

× × × ×

सबको हृदयसे लगाओ, किसीसे घृणा मत करो। घृणा मानव चरित्रके लिए घुन है। सांसारिक और आत्मिक सभी उन्नतियोंके लिये यह सर्वथा त्याज्य है। घृणित वह नहीं है जिसके साथ घृणाकी जाती है, परन्तु घृणित वह है जो घृणा करता है। क्योंकि उसका हृदय घृणासे भरपूर है।

भगवान् महावीरका स्मरण

प्रो० पद्मनारायण आचार्य, का० हि० वि०

सेवाव्रतीके भगवान् महावीरका नाम लेते ही अनेक बातोंका स्मरण हो आता है। महावीर धर्मको सर्वश्रेष्ठ मंगल मानते हैं। अहिंसा, संयम और तपको वे देवत्वसे बड़ा मानते हैं। वे मौन सेवाके व्रती हैं। वे श्रमण संस्कृतिके आलोक स्तंभ हैं। वे सच्चे ब्राह्मणत्व और पाण्डित्यकी महत्ताके पारखी हैं। वे समन्वय और शान्तिके दूत हैं। इसी प्रकार अध्यात्म पथकी अनेक बातें सामने आती हैं।

आधुनिक युगके प्रश्न भी हमारे सामने हैं। नवीन मानवताका निर्माण हो रहा है। अनेक विचारों और वादोंका संघर्ष हो रहा है। धर्मको अमंगल माननेवाला भी एक पक्ष है। अहिंसासे स्वतन्त्रता मिली है तो भी हिंसाकी ओर लोगोंका झुकाव है। एक शब्दमें लोगोंकी बुद्धि और वृत्ति भौतिकवादकी ओर है। कविके शब्दोंमें कहें तो—

"पहेली-सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझानेका अभिमान।"

इस जीवनकी पहेलीको सुलझानेमें आज भगवान् महावीरके स्मरणसे हमें क्या मिलता है।

भगवान् महावीरके चरित और वचन दोनों ही उत्तर देते हैं। सेवाका व्रत मौन होता है। अहिंसा आचरणकी वस्तु है कहनेकी नहीं। अधर्म आवाहन कर रहा है धर्म को, संघर्ष शान्तिके लिए विकल है। भौतिकताको आध्यात्मिकता चाहिए। तपस्वी बनो। सबका समन्वय करो।

महावीर चरितपर विचार करनेसे उत्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। वर्धमानका जन्म एक गृहस्थके घरमें हुआ। उन्होंने गृहत्याग किया। तपस्या की। कैवल्य प्राप्त किया। सहजमें अलौकिक शक्तियाँ मिलीं। इन्हीं शक्तियोंसे विश्वकी अनूठी सेवा हुई। अहिंसा और प्रेमका विस्तार हुआ। शान्ति और समन्वयकी ज्योति जगी।

यहाँ विश्लेषणकी दृष्टिसे कुछ बातें सामने आती हैं। महावीरने पहले आत्मविकासको पूर्ण किया। तभी वे पूर्ण सेवक बन सके। जो स्वयं अधूरा, अपूर्ण और अतृप्त है वह दूसरेकी सेवा कैसे कर सकता है? दूसरी बात है

अलौकिक साधनों की। लोकमें संघर्ष और संघटनका राज्य है। बुद्धिसे ही लोग युद्धके साधन जोड़ते हैं और बुद्धिसे ही युद्धकी शान्ति भी खोजते हैं। यह संभव नहीं लगता। शान्ति और युद्धके साधन एक ही तत्त्वके नहीं हो सकते। इसीसे महावीर जैसे तपस्वी साधन चुनते हैं दूसरे प्रकारके—आध्यात्मिक और अलौकिक। वर्तमान युगमें जितने सेवक हैं उन्हें इसपर एक बार विचार करना चाहिए कि क्या जिन साधनोंसे विश्व भौतिक उन्नति, संघर्ष, अशान्ति और हिंसाके मैदानमें पहुँचा है उन्हीं साधनोंसे वह आध्यात्मिक विकास, समन्वय, शान्ति और अहिंसाके क्षेत्रमें भी पहुँच सकता है। इतिहास–विशेष कर महापुरुषों और तपस्वियोंका इतिहास कहता है। ऐसा कभी नहीं हुआ।

आज हम क्या कर रहे हैं। विश्वके लोग धन, जन और बुद्धिके बलपर प्रचार कर रहे हैं। वे मुद्रण, भाषण और दलनिर्माणके साधनोंसे नये-नये वादोंका प्रसार कर रहे हैं। अशांति और अनीतिसे खिन्न होकर हम प्रतिक्रिया करने लगते हैं। हम उन्हीं साधनोंसे काम करने लगते हैं और चाहते हैं कि शान्ति और मेलकी स्थापना हो जाय। इसमें दो भूलें देख पड़ती हैं। एक साधनका अविवेक और दूसरा प्रतिक्रियाका भ्रम।

आज सभी क्षेत्रोंके लोग एक ही बात कह रहे हैं। भाई, सब कुछ धनसे ही होता है। पहले युगकी बात छोड़िए। आज कल धर्म, विद्या, तप, दान आदि भी धन से ही होता है। देखने वालोंको ऐसा ही ठीक लगता है। पर जिन लोगों ने इन आध्यात्मिक कामोंमें से एक भी किया है उनका अनुभव विपरीत है। वे जानते हैं और अनुभवके बलपर कहते हैं कि धनके त्याग से ही कोई भी शान्ति का कार्य संभव होता है। आज हमें ऐसे अनुभवी लोगों से ही बल मिल सकता है। महावीर स्वामीका चरित भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें वह बिन्दु है जो त्यागका साधन स्पष्ट और स्थिर करता है।

दूसरी बात है प्रतिक्रियाका भ्रम। प्रायः हम अपनेको नहीं देखते। हम दूसरे के आचार विचारोंकी प्रतिक्रिया करने लगते हैं। यदि हम विचार करके देखें तो विश्वमें विकास अपनी शक्तिका होता है। अपने पथपर चलनेवाला सदा आगे बढ़ता जाता है अतः साधनावादी अपनी साधनामें सदा लीन रहते हैं, उन्हें चलने-से अवकाश कहां। वे अनन्त विश्रामके पथपर हैं। उन्हें अभी विश्राम कहाँ।

"छाया पथमें विश्राम कहाँ
है केवल चलते जाना।"

वर्धमान जीवनका यही लक्षण है कि वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। विश्वकी वर्धमान संस्कृतिका भी यही लक्षण है। वर्धमान महावीरके

जीवनका भी यही निचोड़ है। यदि हम पथिक हैं और श्रद्धाके नेत्रोंसे वर्धमान महापुरुषके आध्यात्मिक प्रवाहको देखना चाहते हैं तो एक बात स्पष्ट झलक रही है कि वह महापुरुष अपने जीवनमें बढ़ा अपने युगमें बढ़ा, युगयुगान्तरमें बढ़ा, और आज भी बढ़ा चला जा रहा है। उसका शांतिमय जीवन एक बार पूर्ण होकर आज भी पूर्णतर हो रहा है। इसका नाम है वर्धमान जीवन।

इस प्रकार धन और प्रतिक्रियाकी चिन्ता छोड़कर महावीरने साधना की थी। आजका सेवक भी उसी अनुभूत पथसे चल सकता है। शांति और साधनाका पथ आचरणसे बढ़ता है प्रचार और उपदेशसे नहीं। उसका प्रचार विश्व करता है, साधक और सेवक नहीं। परन्तु स्मरणीय बात है मूलबिन्दु। मूल बिन्दु है सेवककी सेवा – प्रेम और अहिंसाकी साधना।

"तत्थिम पढम ठाणं महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो॥"

भगवान् महावीरने सभी धर्मस्थानोंमें सबसे पहला स्थान अहिंसाका बतलाया है।

सब जीवोंपर संयम रखना अहिंसा है। वह सब सुखोंकी देनेवाली है।

उपसंहारमें हम महावीरके जीवनकी तीन बातोंका नामोद्देश मात्र कर देते हैं। इस युगमें उन्हीं तीन बातोंका सतत चिन्तन चल रहा है। मानवका साध्य, साधन और सिद्धान्त। महावीरका साध्य था विश्वप्रेम और विश्व-शान्ति। साधन उन्होंने अपनाया था तपस्या अर्थात् अलौकिक साधना। और सिद्धान्त उनका था विवेकवाद। उनके वचनों, प्रवचनों और दार्शनिक विचारों से हमें यही मिला है कि वे महान् विवेकवादी और केवलज्ञानी तपस्वी थे।

उनके अनुसार शरीर नाव है, जीव नाविक है संसार समुद्र है। इसी समुद्रको महर्षि पार करते हैं।

"सरीरमाहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो॥"

विश्वमानव भविष्यमें निर्णय करेगा। हम पार करें अथवा तैरें। यह क्षण केवल स्मरणका है।

महामानव महावीर

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

गीतामें कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

अवतारवादका अनुमोदन नहीं, बल्कि इस शाश्वत सत्यका प्रतिपादन ही यहाँ अभिप्रेत है कि जब कभी संसारमें असत्य, हिंसा, अन्याय, शोषण व उत्पीडनकी आँधी चलती है, तब कोई महामानव दुनियाके रंगमंचपर आकर न्याय, नीति, सुख व शान्तिका झण्डा ऊँचा करता है, नयी आशा, नया उत्साह, नयी प्रेरणा, नयी उमंग देकर मानव जगत्को क्रान्तिका सन्देश सुनाता और भूतलपर स्वर्गका आह्वान करता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि संसार कभी स्वर्ग बन सका है या बन सकेगा। संसार न कभी स्वर्ग था न होगा। इसमें दुःख रहेंगे, अशान्ति रहेगी, इसमें उत्पात व युद्ध होते रहेंगे, इसमें अन्याय व अत्याचारको प्रश्रय मिलता रहेगा। सच तो यह है कि यहीं महामानवकी निर्माणकारी परिस्थिति निहित है। जब भी न्याय व धर्मकी अधोगति होगी, जब भी अशान्ति व उत्पीडनकी अति होगी, जब भी दुनिया नरक बनेगी, तभी किसी महामानवके रूपमें विद्रोह व क्रान्तिकी भावना मूर्तिमंत होकर नरकको उजाड़ने और उसकी जगह स्वर्ग बनानेकी ओर प्रयत्नशील व अग्रसर होगी। प्रकृति और जग-जीवनका यह ऐसा नियम है जिसे कभी अवकाश नहीं है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

आजसे ढाई हजार वर्ष पहले भारतवर्षमें इसी नियमकी आवृत्ति हुई थी। तब ब्राह्मण संस्कृति जोरों पर थी और उन्मादमें भी थी। पुरोहितोंने धार्मिक क्रियाओं व अनुष्ठानोंको अपने हाथोंमें लेकर मनुष्य और देव (ईश्वर) के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेकी सोल एजेन्सी हथिया रखी थी और धर्मके हाथों उसे पेटेन्ट भी करा लिया था। वर्ण व्यवस्थाके खूनी शिकंजेमें मानवता बुरी तरह जकड़ी हुई थी और इससे तथोक्त उच्च वर्णने अपने जीवन-निर्वाहकी ही नहीं बल्कि अपने ऐशो-आराम व ऐयाशी तककी पूरी व्यवस्था कर ली थी। साथ ही उस व्यवस्थाको धर्मका परिधान पहनाकर उसके अन्तर्गत मिले हुए अपने विशेष अधिकारोंको सदाके लिए अक्षुण्ण व अबाधित बनाए रखनेका

षड्यन्त्र भी वे कुशलताके साथ कर सके थे। अपने लिए ही नहीं, आनेवाली अपनी पीढ़ियों तकके लिए उन्होंने 'धर्मानुमोदित' शोषणका मार्ग प्रशस्त कर रखा था। मानवजातिकी एकता कृति या आचरणका विषय तो क्या, भावना व श्रद्धाका विषय भी नहीं रही थी। मानवीय समानता या मानव मानव-समभावकी कोई कद्र न थी। ऊँच-नीचका झूठा भेद-भाव मानवताको क्षत-विक्षत व खण्ड खण्ड कर रहा था। अहंकार व असत्यकी नींवपर जातीयताको खड़ाकर और फलतः एक विशाल मानवसमुदायको अधिकार वंचित व शोषित बनाकर मानव-जीवनके साथ क्रूर अट्टहास किया जा रहा था। शासन-व्यवस्थाकी भित्ति भी इसी वर्ण-जाति विषयक भेद भावपर रखकर एक ओर कानूनकी नजरमें नागरिकोंकी समानताके सिद्धान्तकी निर्मम हत्या की जा रही थी और इस तरह कानून शोषक वर्गका हथियार बनकर मानवताको रौंद रहा था और दूसरी ओर गण राज्योंको समाप्त कर वैयक्तिक राज्य जमाने और जन-तन्त्रकी राखपर राज तन्त्रका शैतानी महल खड़ा करनेके प्रयत्न किए जा रहे थे। सर्वनाश यहाँ तक हो गया था कि धर्म और ईश्वरका नाम लेकर, वेद-पुराण आदिके गीत गाकर और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की दुहाई देकर निरीह पशुओंको यज्ञ कुण्डमें भुनना एक साधारण बात हो गई थी और अहिंसाको दर-बदर ठोकरें मिल रही थीं।

अधर्मके इस युगमें जिस युग-पुरुषने विद्रोह व क्रांतिका बिगुल बजाया, वह था पटना (बिहार) से कुछ ही मीलकी दूरीपर बसे हुए कुण्डलपुर (वर्तमान बसाढ़) के राजा सिद्धार्थका पुत्र वर्धमान। सिद्धार्थ ज्ञात् वंशके क्षत्रिय थे। वर्धमानकी माताका नाम त्रिशला था तीस वर्षकी युवावस्थामें वर्धमानने घर-बार छोड़कर, हर तरहके ऐशो आरामपर लातमारकर, सन्यास या फकीरीका व्रत लिया। तप, त्याग व अपने गुणोंके बलपर उन्होंने आत्म शुद्धि कर मानव-जीवनके विकास मार्गकी ओर संसारका ध्यान आकर्षित किया, और आत्म-कल्याण व लोक कल्याण की पवित्र व निर्मल गङ्गा-जमुनी धारा प्रवाहित कर दुनियाको सुख-शान्ति व आनन्दका मार्ग दिखाया। उन्होंने चिंतन, स्वनिरीक्षण व संयमकी महत्तम साधना कर बोधि या कैवल्य प्राप्त किया और फिर अपने अन्तर्लोककी तेज पूर्ण प्रकाश किरणोंसे मानव जीवनके अन्धकारविलुप्त रहस्यों का उद्घाटन किया। उन्होंने मानव-समाजको एक नई विचार-धारा और फिलासफी दी, एक नया दृष्टिकोण दिया। मुँहसे बोलकर या उपदेश देकर ही नही बल्कि स्वयं उदाहरण बनकर सभी तरहकी उपेक्षाओं, विरोधों व कष्टोंका साहसके साथ सामना कर व उनपर विजय पाकर तथा अन्त तक अविचल व दृढ़-प्रतिज्ञ बने रहकर वर्धमान महामानव बने, महावीर बने।

महावीरका जीवन एक मस्त फकीरका जीवन था। वह एक खुली किताब है जिसे हर कोई पढ़ सकता है। साथ ही महावीर-जीवन एक सम्राट्का भी जीवन है। ऐसे सम्राट्का जो स्वयं अपना सम्राट् है और अपनी ही प्रजा है और जो प्रजापर शासन करनेवाले सम्राटोंसे ऊँचा, बहुत ऊँचा है। जरा भी ध्यान-पूर्वक विचार करें तो हम देखेंगे कि महावीरका जीवन एक विद्रोह या क्रान्ति ही नहीं है, एक महा-निर्माण भी है। आज भी उस जीवनकी अमर ज्योति जल रही है और अपने उजालेसे चारों ओर फैले हुए अन्धकारमें सुख-शान्ति और कल्याणका मार्ग दिखा रही है। जरूरत है नजरको साफ करके देखनेकी।

महावीरने मानव-समाजको जो देन दी है उसका मूल्यांकन कर सकना कठिन है। उन्होंने जो दीपशिखा जलाई, जो मार्ग दिखाया उसके महत्त्वको थोड़ोंने ही समझा है। उनके कहलानेवाले अनुयायियोंने भी इस सम्बन्धमें उनके प्रति न्याय नहीं किया है, बल्कि अन्याय करनेमें उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर यह नई बात नहीं है। मानव समाजका यह दुर्भाग्य हर-एक महामानव और उनके संदेशको लेकर रहा है वह सन्देशको भूल जाता है और उसका नाम पकड़कर ही वृथा-सन्तोष कर लेता है। सच्ची प्रकाश किरणसे वह मार्ग तो नहीं ढूंढ़ पाता है पर उसकी चकाचौंधमें दृष्टि-शक्ति गँवा बैठता है। वह सन्देशको परिस्थितियोंकी अपेक्षासे न देखकर, सन्देशकी दिशाको न समझकर, अन्ध विश्वास जन्य जड़ता व वृथा-सन्तोषके साथ उसे स्वयं एक पूर्ण, अटल, अबाधित तथा सार्वत्रिक व सार्वकालिक सिद्धान्त मान बैठता है और इस तरह वह संदेशके बाहरी ढाँचेको या उसके शरीरको ही देखता है पर उसके प्राणोंको अपने ज्ञान-चक्षुओंसे नहीं देख पाता है। महावीरको लेकर यह अनर्थ कम नहीं हुआ है। पर यहाँ यह रोना नहीं रोना है। आज महावीरजयन्ती है। २४७७ वर्ष पहिले आजके दिन महावीरने जगत्का प्रकाश देखा था, अनन्त भविष्य तक जगत्को प्रकाश दिखानेके लिए। इस पुण्य अवसरपर हमें उनके उपदेशोंका कुछ स्मरण करना व उनसे प्रेरणा पाना है।

महावीर अहिंसाके अवतार थे। अहिंसाका सन्देश उनकी एक अमूल्य देन है। वे अहिंसाके आदि प्रवर्तक व एक महानतम साधक थे। महावीरकी अहिंसा महावीरकी व्यक्ति-विशेषकी अहिंसा नहीं थी, बल्कि वह वास्तवमें महावीरकी—महान् वीरकी—अहिंसा थी। उन्होंने जीने और जीने देनेका ही नहीं, बल्कि जीने और अपनी ही तरह दूसरोंको जीने देनेका उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था—दूसरोंके साथ ऐसा व्यवहार न करो जो तुम स्वयं

दूसरोंसे अपने प्रति नहीं कराना चाहते। "सत्त्वेषु मैत्री" या विश्व-बन्धुत्वकी भावना उनकी अहिंसामें ओतप्रोत थी। उन्होंने प्राणत्रास-जन्य उत्पीड़नको ही नहीं, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक हर तरहके उत्पीड़नको हिंसा कहा और उससे बचनेकी जरूरतपर जोर दिया। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसाका उनका विशद विवेचन आचार-शास्त्रकी एक अमूल्य निधि है। इन्होंने अहिंसाकी साधनाके लिए सदाशयताको ही नहीं, सतर्कता व विवेकपूर्ण यत्नाचारको भी अनिवार्य ठहराया। उनकी अहिंसामें अहिंसाके बाह्य रूपकी कायरता भी नहीं है। विरोधी हिंसाके रूपमें अन्यायका प्रतिकार या आततायीका तक्षण करनेकी अपनी तथा देश समाज व विश्वकी रक्षा अथवा मानवताकी सेवा करनेके लिए मैदानमें जूझनेकी, हथेलीपर सिर रखकर प्राणोंकी बाज़ी लगानेकी अथवा अनिवार्य हिंसामें भी अहिंसाकी साधना करनेकी अनुमति देकर महावीरने धरतीकी बात ही कही। उन्होंने कोरे आदर्शकी ही नहीं, व्यवहारकी आदर्शोन्मुखी व्यवहारकी प्रेरणा दी। साथ ही कष्ट सहिष्णुता व परीषह-सहनका तथा मुखपर खेलती हुई मुसकानके साथ हर तरहके विरोध व संकटका सामना करनेका उदाहरण रखकर अहिंसाके आदर्शको भी उन्होंने मूर्त्तिमंत कर दिखाया। इस तरह महावीरने अहिंसाके दोनो पहलू सामने रखे। नियमके साथ साथ अपवाद–विषम परिस्थितियोंमें नियमका ही संरक्षण करने वाले अपवाद–का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि अहिंसा कोई निषेधात्मक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि एक क्रान्तिकारी विधेयात्मक सिद्धान्त है जो वैयक्तिक जीवनसे ही नहीं सार्वजनिक जीवनसे भी अपेक्षित है। राष्ट्रोंकी आन्तरिक शासन-प्रणाली व समाज-व्यवस्थामें आमूल परिवर्तनकी ओर वह इशारा करता है, साथ ही अन्ताराष्ट्रीयताके रंगमंचपर भी वह अपना काम करता है। उन्होंने उन यज्ञोंका विरोध किया जिनमे हिंसा होती थी उन्होंने कहा कि "जीवहिंसाका त्याग, चोरी, झूठ और असंयमका त्याग भोग मान और मायाका त्याग, इस जीवनकी आकांक्षाका त्याग शरीरके ममत्वका भी त्याग इस तरह जो सभी बुराइयोंको त्याग देता है वही महायाजी है। यज्ञमें जीवोंका भक्षण करने वाली अग्निको कोई प्रयोजन नहीं किन्तु तपस्या रूपी अग्निको जलाओ। पृथ्वीको खोदकर कुंड बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं, जीवात्मा ही अग्निकुंड है। लकड़ीकी बनी कुरछीकी कोई जरूरत नहीं, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति ही उसका काम दे देगी। इन्धन जलाकर क्या होगा? अपने कर्मोंको, अपने पाप कर्मोंको ही जला दो। यही यज्ञ है जो संयम रूप है, शान्तिदाता है सुखदायी है। इस तरह महावीरने अहिंसाकी व्यापक व्याख्या की और इस विराट् सत्यकी झांकी दुनियाको दिखाई कि अहिंसा परम धर्म है, एक महान् आदर्श है, जीवनकी

एक बड़ीसे बड़ी साधना है, एक ऐसा मांगलिक आशीर्वाद है जो सत्यके दर्शन व ग्रहणका मार्ग प्रशस्त करता है और प्रेमकी — मोह नहीं बल्कि सदसद्विवेकमय बंधुत्वभावकी-प्रेरणा देता है, एक ऐसा जीवन तत्त्व है जो दया, सहानुभूति, न्याय, नीति, सदाचार, संयम, तप, त्याग और आचार विचारके सभी गुणोंकी ओर प्रवृत्त करता है, एक ऐसी अनुभूति है जो विश्व-कौटुम्बिकताका तथा मानव-जगतीकी ही नहीं सम्पूर्ण प्राणी जगत्की एकताका साक्षात्कार कराती है।

महावीरकी एक अमूल्य देन उसका अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद पण्डिताईका अखाड़ा नहीं है और न वह कोरी चर्चा या वाद विवादका ही विषय है। कल्पना नहीं, वह तत्त्वज्ञान है और आचरणका विषय होनेसे यह धर्म भी है। वह यथार्थवाद है। वह वास्तविक जीवनकी चीज है। अनेकान्तवाद कहता है सत्य चिरशोध्य है, हम जो कुछ सत्य देखते हैं वह पूर्ण सत्य नहीं, सत्यांश है। विभिन्न परिस्थितियाँ व आवश्यकताएँ विभिन्न विचार-धाराओंको जन्म देती हैं और एक-एक विचारधारा अपने-अपने दृष्टिकोणसे सत्यका एक-एक पहलू ही देखती है। हम एक-एक पहलूको लेकर आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं, अपनेको ही सत्यका ठेकेदार और दूसरोंको मिथ्यात्वी मान बैठते हैं। अनेकान्तवादके अनुसार इस तरहका पारस्परिक विरोध निराधार है। वास्तवमें सभीके समन्वयसे ही पूर्ण सत्यकी निष्पत्ति है। इस तरह अनेकान्तवाद समभाव और समन्वयकी प्रेरणा देता है। लड़नेकी नहीं, मिलनेकी तथा एक दूसरेका पूरक बनकर सहयोगके सुदृढ़ आधारपर आपसी सम्बन्धोंको टिकानेकी दिशामें आगे बढ़ाता है। यही मध्यम-मार्गका प्रतिपादन है। यही मर्यादा पालनका आदेश है। अनेकान्तवादकी स्पष्ट सूचना है—'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। संतुलन व सामञ्जस्यमें ही यह जीवनकी सच्ची साधना समझता है और यहीं वह व्यवहारके ही नहीं आदर्शके भी दर्शन करता है। वास्तवमें अनेकान्तवाद सत्यका नहीं, सत्य-दृष्टिका विवेचन है और निश्चय ही सत्य-दृष्टिमें या विवेकपूर्ण देखनेके तरीकेमें ही सत्यकी सच्ची साधना है। यह एक प्रकारकी विचार पद्धति है, या यूँ कहिए कि सब दिशाओंसे खुला यह एक मानस-चक्षु है। किसी भी विषय या प्रश्नको वह संकीर्ण दृष्टिसे देखनेका निषेध करता है और अधिकसे अधिक पहलुओंसे, अधिकसे अधिक दृष्टिकोणोंसे, वह विचार करनेका और तदनुकूल ही आचरण करनेका आदेश देता है। अनेकान्तवादके आगे पीछे और भीतर सर्वत्र सत्यका प्रवाह है। यहाँ अहंकारका पूरा-पूरा निरोध व निषेध है। 'जो मेरा है वह सत्य है' यह भावना यहाँ नहीं है, 'जो सत्य है वह मेरा है' यही अनुभूति यहाँ है। यथायोग्यवादसे उसका कोई विरोध नहीं है। समभाव यहाँ वैनयिक मिथ्यात्व या झूठी खुशामद

और चापलूसी नहीं है और न वह पालिसी या सामयिक नीतिका ही प्रश्न है। बल्कि वह एक ध्रुव तथ्य है और प्रखर सत्यसे उसका पूरा-पूरा तादात्म्य है।

महावीरका एक महान् संदेश था समता का—अध्यात्म साम्यवाद का। जाति-पाँति-भेद, वर्ण-भेद व छुआछूत आदिकी अमानवीय विषमतामयी वृत्तियों-प्रवृत्तियोंके विरुद्ध महावीरने आवाज बुलन्द की थी। उस समय ब्राह्मण संस्कृतिने जो विकराल रूप धारण कर तथा शोषण उत्पीड़न व अधिकार-अपहरणकी आँधी चलाकर मानवता व भारतीयताको क्षत विक्षत व त्रस्त किया था, उसका प्रतिकार व विद्रोह महावीरने किया था। यद्यपि देश व समाजके दुर्भाग्यसे यह क्रान्ति महावीरके जीवनकालके बाद आगे न बढ़ सकी और ब्राह्मणवादके निर्मम प्रहारोंने व अनेक विषम परिस्थितियोंने इसे असमयमें ही विफल बना दिया पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि महावीरने (और बुद्धने भी) एक महान् क्रान्तिका सूत्रपात किया था और यदि इसे सफलता मिली होती तो भारतकी यह अधोगति न होती। ये जाति-पाँति व वर्ण व्यवस्थाके तथा अस्पृश्यताके घिनौने दृश्य यहाँ दिखाई न देते, मानवता भारतके कोने-कोनेमें यूँ ठोकरें खाती न फिरती। पर इसमें सन्देह नहीं कि महावीरने समताका झण्डा ऊँचाकर एक बड़ा कदम उठाया। उन्होंने ईश्वर और आत्मा तककी विषमता अमान्य की। उन्होंने कहा कि आत्मा ही परमात्मा है, कोई अलग ईश्वर नहीं है। इस तरह महावीरने अध्यात्मवाद और अनीश्वरवादका अनोखा सामञ्जस्य किया और उसने मानव मात्र ही नहीं प्राणिमात्रकी समानता व पूर्ण स्वतन्त्रकी भावनाको प्रोत्साहन दिया। महावीरकी व्याख्यानसभाको समवशरणकी संज्ञा दी गयी है, क्योंकि यहाँ सबको समान रूपसे शरण मिलती थी। यहाँ मानवमात्रको बैठनेके लिए एक ही जगह थी और एक सी ही व्यवस्था थी और इस तरह यह सत्य वहाँ प्रतिभासित होता था कि मानवजाति एक है और उसमें ऊँच-नीच व बड़े छोटेका कोई भेद-भाव नहीं है।

अपरिग्रहवाद भी महावीरकी एक बहुत बड़ी देन है। अपरिग्रहवादपर एक गहरी नजर डालें तो यह मानना होगा कि महावीर विश्वके सर्व प्रथम साम्यवादी थे। बुद्ध भी इसी कोटिमें आते हैं। अपरिग्रहवादका अर्थ दान या त्याग नहीं है जैसा कि कुछलोग भ्रमवश समझते हैं। अपरिग्रहवाद अग्रहण-मूलक है। ग्रहीतका त्याग और अग्रहणमें बहुत अन्तर है, उतना ही अन्तर है जितना पापसे बचने और पाप करनेपर पापका प्रायश्चित करनेमें हैं। अपरिग्रहवादके अन्तर्गत आवश्यकतासे अधिक परिग्रहका संग्रह ही पाप व हेय है, पर अधिकार-अपहरण है। महावीरने परिग्रहकी और भी सूक्ष्म व्याख्या की। उन्होंने कहा कि ममत्व, मोह या मूर्च्छा ही परिग्रह है। इस तरह परिग्रहको

यहाँ बाहरी पदार्थ ही नहीं, एक भावना माना गया, मोह या विशेषरूपसे अपनेपनकी वृत्तिको उससे सम्बद्ध समझा गया। निश्चय ही यहाँ वैयक्तिक सम्पत्ति या किसी भी सम्पत्तिपर विशेष वैयक्तिक अधिकारका अन्त कर समाजवादी व्यवस्था लानेकी ओर एक सुनिश्चित संकेत है। सच यह है कि अपरिग्रहवादका सामाजिक संस्करण समाजवादी पद्धतिसे साम्यवादी व्यवस्थाकी स्थापना ही है, जहाँ व्यक्ति अपनी योग्यताके अनुसार समाज व विश्वको अपनी अच्छीसे अच्छी देन दे और अपनी आवश्यकतानुसार भोगोपभोगकी सामग्री पाए। इतना ही नहीं, अपरिग्रहवाद अध्यात्मवादकी नींवपर खड़ा है और इस अपेक्षामें साम्यवादी विचारधाराकी कमी पूरी करनेवाले तत्त्व भी इसमें हैं। अपरिग्रहवादका सूक्ष्म अध्ययन व विशदीकरण किया जाय तो हम देखेंगे कि आजकी समस्याओंको हल करनेके लिए भी वहाँ काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

ऊपर महावीर सन्देशकी कुछ ही बातें संक्षेपमें कही गई हैं। इन्हीका बृहत् विवेचन किया जा सकता है। साथ ही महावीरके और भी अनेक सिद्धान्तोंका उल्लेख किया जा सकता है। साथ ही विस्तार भयसे ऐसा न कर ऊपर किए हुए दिग्दर्शनके आधारपर सहज ही यह कहा जा सकता है कि महावीरने मानव समाजको बहुत बड़ी देन दी है। उन्होंने अपने समयकी खुराफातोंको दूर करनेकी ही नहीं बल्कि मानव जीवनको रचनात्मक व ठोस तत्त्वोंपर निर्धारित करनेकी दिशामें भी असाधारण योगदान दिया है। उन्होंने जीवनकी एक फिलासफी दी, एक दृष्टि दी, एक विचार-धारा दी। अपने समयके अनुरूप धर्म और विज्ञानका आश्चर्यजनक रूपसे वे समझौता कर सके थे। अनेक दिशाओंमें उनकी छाप भी पड़ी है। और आज भी वह अमिट है। धर्मके नामपर या यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाको उन्होंने ऐसा मिटाया कि आजतक भी वह नहीं पनप सकी है। सच यह है कि किसी भी दृष्टिसे देखें, महावीर एक महान् विचारक, उग्र क्रान्तिकारी, प्रखर बुद्धिवादी और एक परम महिमावान् विभूतिके रूपमें हमारे सम्मुख आते हैं, और हम देखते हैं कि उन्होंने जो संदेश दिया है, आजके युगकी परिस्थितियों व आवश्यकताओंके अनुरूप उसका नव-संस्करण कर हम उसे अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवनमें उतारें, इसमें मनुष्यका कल्याण है, इसमें मानव-समाजकी सुख शान्ति है और यही सच्चे अर्थोंमें महामानव, महासन्देश-वाहक, महानायक महावीरके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना और उनका जयन्ती–उत्सव मनाना है।

भगवान् महावीरका मार्ग

प्रो० दलसुख मालवणिया

आजका मुख्य प्रश्न है विश्व शान्तिका। मनुष्यका विश्वास अब देव या ईश्वरसे करीब करीब हट चुका है। कोई इस बातको अब माननेको तैयार नहीं कि हमारी आफतें ईश्वर फिरसे अवतार लेकर दूर करेगा और सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य स्थापित होगा। अब भगवान् महावीरने जो मार्ग बताया था उसीपर अधिक विश्वास लोगोंका होता जा रहा है। सब लोगोंको भगवान् महावीरका नाम ज्ञात ही है और वे उस बातका अनुसरण उन्हींकी बात मान कर कर रहे हैं यह कहनेका अभिप्राय नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि विश्व-शान्तिका मार्ग आजसे ढाई हजार वर्ष पूर्व जो महावीरको सूझा था उसीपर लोग अब ठोकरें खाकर आ रहे हैं। महावीरको भले ही हम भूल जायँ किन्तु उनके बताये हुए मार्गको छोड़कर हमारा उद्धार नहीं यह तो निश्चित है।

भगवान् महावीरका नाम लेते ही हमारे सामने अहिंसाकी मूर्ति खड़ी होती है कि उनका मार्ग अहिंसाका मार्ग है, किन्तु गम्भीरतासे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि अहिंसा विश्वमैत्री, समभाव वीतरागता या आत्मरमण यह मार्ग नहीं है वह तो उनका ध्येय था। उसे सिद्ध करनेके लिये जो उन्होंने अपनाया वही मार्ग है। और वह है अपरिग्रह। संपूर्ण अहिंसाभाव उनको सिद्ध करना था उसके लिये अपरिग्रह-निर्ग्रन्थभावको उन्होंने अपनाया। अतएव उनका मार्ग अपरिग्रहका मार्ग है।

आज हम भगवान् के अनुयायी होनेका दावा करनेवाले अहिंसक बननेका प्रयत्न तो करते हैं-चींटीको और जलजन्तु तथा वायुजीवको-तो बचानेका पूरा प्रयत्न करते हैं किन्तु हमारा प्रयत्न यहीं रुक जाता है। जबतक परिग्रहका पाप है तब तक किसी जन्तुकी रक्षा-सच्चे अर्थमें पूर्णतः रक्षा की ही नहीं जा सकती यह भूल जाते हैं, और अहिंसा सिर्फ चींटी आदिके बचानेसे ही पूर्ण हो गई इतना मानकर जो परिग्रहका पाप है उस ओर ध्यान ही नहीं देते। यही कारण है कि चींटीकी दया करनेवालेको और वायुकायकी रक्षार्थ मुखपर पट्टी बाँधनेवालेको व्यापारके समय उचित अनुचितका कुछ भी खयाल नहीं रहता। अतएव आज हमें भगवान्का मार्ग अहिंसा नहीं किन्तु अपरिग्रह है इसी बातपर विशेषतः भार देना चाहिए। ऐसा होनेसे ही हम ठीक मार्गपर चल सकेंगे।

अहिंसाकी बात करना आसान है। कुछ जीवोंकी हत्या न करना यह भी आसान है किन्तु परिग्रहको छोड़ना सरल नहीं। वस्तुतः संसारमें हिंसा क्यों होती है—राष्ट्र-राष्ट्रमें युद्ध क्यों होता है इसपर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि इस हिंसाकी जड़में परिग्रह है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तानकी ही तनातनीको देखा जाय तो यह हिंसा–अहिंसाका झगड़ा नहीं, यह तो झगड़ा मेरा तेरा का है। अन्य राष्ट्रोंमें भी जो युद्ध होते हैं और होंगे उन सभीमें एक ही कारण होगा और वह है परिग्रह। भगवान् महावीरकी इस जयन्तीके अवसरपर उनके मार्गपर अर्थात् अपरिग्रहके मार्गपर चलनेका निश्चय किया जाय तभी हम उनका सन्देश समझे हैं ऐसा कहा जायगा।

इसका मतलब है कि जैन व्यापारी एक आदर्श व्यापारीके रूपमें समाजमें प्रतिष्ठित होगा। हिन्दुस्तानमें आज व्यापारकी चोर बाजारीके कारण हीं प्रजा और सरकार दोनों परेशान हैं। बड़े बड़े उद्योग धन्धे जैनोंके हाथमें हैं। वे यदि निश्चय कर लेते हैं कि चोर बाजारीको प्रोत्साहन नहीं देना है तो बहुत ही शीघ्र चोरबाजारी दूर होकर भारतको शान्ति और सुख मिल सकते हैं। अतएव यदि हमें वस्तुतः धर्मका पालन करना है तो जिसमें कुछ त्याग करना पड़े उस मार्गको अपनाना चाहिए सिर्फ किसी जीवको हमने बचा लिया तो अहिंसा और धर्मका पालन कर लिया ऐसा मिथ्या–आत्मसंतोष करके बैठे जानेमें किसीका कल्याण नहीं होगा।

विश्वके विभिन्न राष्ट्रोंके बीच जो आज संघर्ष है उसका कारण भी व्यापार है। आज सभी बड़े राष्ट्र अपना उत्पादन दूसरे राष्ट्रोंमें मनमाने भावपर बेचनेके लिए ही आपसमें अधिकार क्षेत्रकी वृद्धिके हेतु संघर्ष करते हैं। व्यापारका ध्येय सिर्फ दूसरोंकी आवश्यकता की पूर्ति उचित मूल्यपर करना इतना ही रहे और परिग्रहवृद्धि न रहे तो ये संघर्ष निर्मूल हो जायँ। अतएव जैसे व्यक्तिके लिए यह आवश्यक है कि वह परिग्रहबुद्धि न रखे वैसे राष्ट्रोंके लिए भी यह आवश्यक है। किन्तु राष्ट्र भी तो व्यक्तियोंके समूहसे बनता है अतएव अन्तमें सम्पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्तिके ऊपर ही है। व्यक्तिको ही परिग्रहके पापसे दूर होना चाहिए। आज अमेरिकाको अपना व्यापारक्षेत्र अधिक क्यों चाहिए? इसलिए कि वहाँका प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसके पास मोटर हो। यह तभी सम्भव है कि वह जिन वस्तुओंका उत्पादन करता हैं उसका दाम उसे अधिक मिले। परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्ति शासकों को बाधित करते हैं कि वे युद्ध करके या अन्य किसी तरीकेसे अपने व्यापारका क्षेत्र बढ़ावे। अतएव राष्ट्र-राष्ट्रोंके बीच जो संघर्ष होता है उसके मूलमें व्यक्ति-

भगवान् महावीर और भविष्य निर्माण

प्रो० विमलदास जैन, एम० ए०

भारतवर्ष सुदूर प्राचीनकालसे कई संस्कृतियोंका केन्द्र रहा है। यह भारतवर्षकी विशालता है कि यहाँपर सब संस्कृतियोंने, चाहे वे देशी हों या विदेशी, संघर्ष किया है और अन्ततः परिणामरूप अपने गुण दोषके कारण विच्छिन्न भी हुई हैं। एक समय था जब यहाँ ब्राह्मण संस्कृतिने धावा मारा और सुदीर्घ कालतक वह फली फूली और उसके ध्वंसावशेष अब तक यहाँ विद्यमान हैं जिनके अनुयायी अबतक ठंढा और मध्य एशियाके वातावरणके युगोंके गुण गाया करते हैं। पश्चात् यूनानियोंने भी यहाँ अपनी संस्कृति फैलानेकी चेष्टा की और वह सिकन्दर महान्के आक्रमणके साथ-साथ प्रचण्ड वेगसे आना चाहती थी किन्तु वह अधिक प्रभाव न डाल सकी।

दूसरी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं और गम्भीरतासे अध्ययन करते हैं तो हमारी बुद्धि हमें सोचनेको बाध्य करती है कि आखिर यहाँकी भी कोई संस्कृति थी या नहीं? इसके लिए वर्तमानमें दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक पक्षके लोग तो यह मानते हैं कि द्रविड़ संस्कृति यहाँकी प्राचीन संस्कृति है और दूसरे पक्षके लोग यह विचार कर रहे हैं कि यहाँकी संस्कृति श्रमणोंकी ही संस्कृति है। दोनों संस्कृतियोंके अभिभावक इसपर तुले हुए हैं और वे निर्णय करना चाहते हैं कि इन दोनों संस्कृतियोंका आधार क्या है? द्रविड़ संस्कृतिके प्राचीन ग्रन्थ, तुलकाप्यम और कुरल आदि इस बातके प्रबल पोषक हैं और प्रमाणित करते हैं कि इन दोनों ग्रन्थोंके अनुसार उस देशकी संस्कृतिका ब्राह्मण संस्कृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं था तथा आधुनिक खोज और अनुसंधानके

गत परिग्रहवाद है। अतएव विश्वशान्ति तभी हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके पापसे मुक्त हो।

लोकतन्त्रोंमें और साम्यवादियोंमें भी जो संघर्ष है वह भी परिग्रहको लेकर है। साम्यवादी परिग्रह राज्याधीन हो इसमें विश्वास करते हैं और लोकतंत्रवादी व्यक्तिके पास परिग्रह हो इसमें विश्वास करते हैं। किन्तु दोनोंमें कोई यह नहीं कहता कि परिग्रह ही पाप है। वह न तो व्यक्तिके पास हो और न राज्यके पास। जब तक दोनों इस परिग्रहके पापसे विरत न होंगे तब तक सच्ची विश्वशान्ति संभव नहीं।

फल रूप यह भी अब विचारकोटिमें आ गया है कि यहाँ जैनागम और बौद्ध साहित्य जो आजसे २५०० वर्ष पहिलेके भारतका चरित्र चित्रण करते हैं उसमें ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतिका संघर्ष स्पष्ट पाया जाता है। इस संघर्षके बीज, वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार इनमें।

ये दोनों संस्कृतियाँ-ब्राह्मण और श्रमण आपसमें बहुत दिनोंतक मर्श और विमर्शमें रहीं और इसका फल यह हुआ कि दोनों संस्कृतियोंमें आदान-प्रदान होता रहा जो दोनोंके उज्जीवनका कारण कहा जा सकता है। यह हर्षकी बात है कि दोनों संस्कृतियाँ अबतक विद्यमान हैं। यद्यपि ब्राह्मण संस्कृति केवल भारतवर्षसे ही सम्बन्धित है, किन्तु श्रमणसंस्कृति विदेशों तक भी पहुँच चुकी थी और उसका प्रसार वहाँ अबतक है।

इस श्रमण संस्कृतिके आदि उद्भावक ऋषभदेव थे। जिनका अस्तित्व ब्राह्मण और श्रमण दोनों संस्कृतियोंसे स्वयं सिद्ध है। हमें उस ऋषभको भूल नहीं जाना चाहिये जो इस अवसर्पिणीकालका आदि सभ्य और संस्कृत मनुष्य था और जिसने सर्व प्रथम विज्ञान और कलाकी शिक्षा दी थी, मनुष्यको जीवनोपयोगी असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्याका उपदेश देकर समाजव्यवस्था की थी और अपने प्रथम चक्रवर्ती पुत्र भरतके नामसे इस पुण्य देशका नामकरण भारतवर्ष किया था। पर, आज विदेशियों द्वारा प्रदत्त हिन्दुस्तान शब्दको हम विशेष गौरवकी दृष्टिसे देखते हैं! उस ऋषभदेवकी परम्पराका एक व्यक्ति श्रमण भगवान निर्ग्रंठनातपुत्त महावीर था जिसके जीवन और विचारके विषयमें हमें विचार करना है और यह प्रस्तुत करना है कि भविष्य निर्माणमें इस व्यक्तिका कहाँ तक सम्बन्ध हो सकता है।

श्रमण संस्कृतिके स्तंभ महावीर अपने समयकी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक प्रगतियोंका प्रतीक था। राजघरानेमें पैदा होनेसे उनकी राजनैतिक महत्ता है, वर्ग संघर्षके कारण उनकी आर्थिक और सामाजिक विशेषता भी है। मानवको सभ्यताकी ओर ले आनेसे उनका नैतिक प्राधान्य है। सत्यकी दृष्टि प्राप्त करनेके कारण उनकी धार्मिक उच्चता है। इस व्यक्तिने उस समयकी समग्र परिस्थितियोंमें जो खेल खेला है वह विश्वके लिए एक अपूर्व आदर्श है। उस आदर्शकी आवश्यकता संसारको सदा रही है। इसी व्यक्तिके आदर्शका एक प्रतीक इस देशमें पैदा हुआ था, उसने भी अपना सक्रिय हाथ इस देशके उत्थानमें लगाया था। देशने उसका फल भी भोगा, किन्तु उसको देश सहन न कर सका। इस देशने उसकी निर्मम हत्याकी और अपने इतिहासको कलंकित किया। वह था महात्मा गाँधी।

श्रमण महावीरके राजनैतिक महत्त्वसे यही अभिप्राय है कि हमें आज भी उसी उन्नत नीतिका अवलम्बन करना होगा। भगवान् स्वयं जनतन्त्रके समर्थक थे। उस समय राजनैतिक परिस्थिति जनतन्त्रात्मक ही थी। साम्राज्यवाद उनकी भावनाके विरुद्ध था। महावीर ने तरुणावस्थामें ही संसारके झंझटोंको परित्याग कर निवृत्ति मार्गका आश्रय लिया था जो श्रमण संस्कृतिकी मुख्य देन है। यद्यपि कुछ विद्वान् श्रमण संस्कृतिको व्यक्तिमूलक प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं इसमें व्यक्तिके विकासके ऊपर अधिक जोर दिया है। ठीक है, यदि व्यक्ति सुधर जाय तो समाजका सुधरना आसान है। महावीरके सिद्धान्तमें समाजवाद भी व्यक्तिमूलक ही है। यह भेद व्यवहारमें है। निश्चयमें तो वस्तु सामान्य-विशेषात्मक ही है। हमारा उद्देश्य तो दोनोंके ही उत्थानका है।

आर्थिक प्रश्न भी भगवान्के समयमें अत्यन्त भयंकर था। उनके समयमें लोगोंने चातुर्वर्ण्यात्मक समाजको स्थापित कर उसको इतना कठिन बना दिया था कि उच्चवर्णके लोग नीचवर्णके लोगोंका बुरी तरह शोषण कर रहे थे। आज भी भारतवर्षकी उसी प्रकारकी अवस्था है। अधिकतर आर्थिक अधिकार उच्च-वर्णके लोगोंके हाथमें ही है वे निम्नवर्गके लोगोंका किस प्रकार शोषण करते है अगर इसका दिग्दर्शन करना हो तो गाँवोंमें जाकर शूद्रोंकी अवस्थाका अध्ययन करना चाहिये। दक्षिणमें तो यह वर्ण भेद अत्यन्त असभ्य है। यह वही भारत है जहाँ ब्राह्मण और शूद्र एक रास्ते पर चल नहीं सकता, एक कुएँसे पानी नहीं पी सकते, एक देव के दर्शन नहीं कर सकते। कुछ लोग दक्षिणमे इसी प्रकार आर्य संस्कृतिको घृणास्पद समझते हैं और अपनी प्राचीन द्रविण सस्कृतिके पुनरुत्थानके लिए प्रयत्नशील हैं। मेरे विचारसे देश विभाजनमें वर्णप्रधानता भी एक कारण थी। जिसका भयंकर रूप हम देख चुके हैं। निगंठ नातपुत्त इस आर्थिक विषमताको अपने अपरिग्रहवाद द्वारा नष्ट करना चाहते थे। यही कारण था कि वे स्वयं विहारी होकर जगत्के समक्ष आदर्श उपस्थित करना चाहते थे। भोजनके लिए मनुष्य शस्य श्यामला इस भारत भूमिमें भिक्षासे जीवन निर्वाह कर सकता है। यह था श्रमणोंका आदर्श। गृहस्थके लिये आवश्य-कताओंके अतिरिक्त खाद्य, वस्त्र और आलय सम्बन्धी परिग्रहोंके परिमाण या राशनका सत्यरूपमें विधान था, जो मनुष्यके अणुव्रतोंमें पंचम अणुव्रत है। त्याग या दान समाजके कल्याणके लिये आवश्यक अंग था। गृहस्थ दानके बिना शोभा और सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता था। फ्रांस और रूसकी क्रान्तियाँ विश्वके उदाहरण हैं उनसे संसारको शिक्षण लेना चाहिये और भारतको तो विशेष रूप से। रूसी साम्यवाद आर्थिक साम्यवाद है जिसकी महत्ता ब्रह्मवादसे कम नहीं। भारतवर्ष यदि इसको समझ लेगा और उसके अनुसार

अपनेको व्यवस्थित कर लेगा तो सम्भव है वह उसके कुपरिणामोंसे अपनी रक्षा कर सकेगा अन्यथा उसका विनाश नियत है। पड़ोसीके घरमें आग लगी देखकर अपनी रक्षा करना बुद्धिमत्ता है, अज्ञानता नहीं। इस उक्तिमें बड़ा राजनैतिक महत्त्व है। आजका मनुष्य देशकी सम्पत्तिका एक ओर विलासमय अनैतिक उपभोग और दूसरी ओर भूँखसे पीठसे लगे हुए पेटको नहीं देखना चाहता। वह इस विषमताका हल चाहता है चाहे वह वैधरूपसे हो या अवैधरूपसे। वह महावीरके सिद्धान्तका अनुयायी बनना चाहता है जो 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त है।

सामाजिक वर्तमान रूप तो सर्वथा परिवर्तनके लायक है। आजकी जनवाणी यह पुकारके कह रही है कि हम इस सामाजिक रूपसे त्रस्त हैं। समाजके लिए महावीरने सर्व प्रथम अपने व्यक्तित्वको पहिचानके लिए कहा कि–'तुम आपको समझो कि तुम क्या हो' उनका सिद्धान्त था 'अपनेको जानो"। इस प्रकारकी आध्यात्मिकताको सर्वश्रेष्ठ समझकर उन्होंने संसारके सामने ये सिद्धान्त रक्खे जो त्रैकालिक सत्य हैं। वे सिद्धान्त हैं (१) अहिंसा और (२) अनेकान्त।

'अहिंसा' व्यवहार और निश्चय जगत्‌की परमोत्कृष्ट देवी है। इसकी प्रतिष्ठापना प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान रहती है। इसका प्रकट रूप 'जीओ और जीने दो'में है। समन्तभद्रके शब्दोंमें हम इसे परम ब्रह्म कहते हैं। यह आत्मरूप है। व्यवहार धर्म अहिंसामूलक ही हो सकता है। विश्वके विधानकी प्रथम धारा 'अहिंसा परमो धर्मः' होनी चाहिये। आजका मनुष्य 'योग्यतम'के संरक्षणके सिद्धान्तमें विश्वास नहीं करता, वह विश्वास करता है 'दुर्बलतम'के संरक्षणके सिद्धान्तमें। पहिले सिद्धान्तमें संघर्ष है और संघर्ष भी अधम कोटिका तथा दूसरे सिद्धान्तमें शान्ति, सुख और निर्माण है। अहिंसा सिद्धान्तपर चलने वाला युद्धके प्रतिपादक दर्शनको हेय दृष्टिसे देखता है। वह तो सत्याग्रह और शान्तिके युद्धमें विश्वास करता है। लोग युद्धको भयंकर समझते हैं, किन्तु वे अहिंसाकी भयंकरताका अनुमान नहीं कर सकते। वे अहिंसात्मक जीवनको कायरताका जीवन समझते हैं। उनके सिद्धान्तमें एक गालपर चांटा खाकर दूसरे गालको आततायीके सामने उपस्थित करना कायरताका द्योतक है। किन्तु उनको सिद्धसेनके शब्दोंसे समझना चाहिये कि जंगलोंको नष्ट करनेमें अग्नि ही कारण नहीं होती किन्तु बर्फका पड़ना जंगलको नष्ट करनेमें उससे अधिक भयकर कारण होता है। यह अहिंसाका ही प्रताप था कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवादके चंगुल से निकलकर स्वतंत्र हो गया। मनुष्य और पशु जगत्‌की व्यवस्था अहिंसाके ही आधारपर हो सकती है। एक अहिंसासे ही

हमारी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ दूर हो सकती हैं और सब प्राणी शान्ति और सुखका अनुभव कर सकते हैं। यदि मनुष्य अब भी युद्धके दर्शनमें विश्वास करते हैं तो उसका उत्तर परमाणुबम या आकाशभेदी किरणें ही देंगी। जब विश्व त्राहि त्राहि कर चिल्लायगा, तब ही लोगों को श्रमण परंपरा के पोषक, ऋषभ, महावीर, बुद्ध, गाँधी आदि जगत्कल्याणकारी जीवोंकी याद आवेगी। वास्तविक अहिंसा, राग-द्वेषके भावोंके कम करनेमें है। मनुष्य जितने अंशमें इनकी कमी करेगा उतना ही वह उन्नतिशील होगा। समाजका निर्माण भी अहिंसाके आधारपर होना चाहिये। राजनैतिक आधार यदि अहिंसा बन जाय तो लोग जो आज करोड़ों रुपया युद्ध सामग्रीपर खर्च करते हैं वह मनुष्य के कल्याणपर खर्च हो सकता है। गाँधीजी यही चाहते थे, किन्तु युद्धके दर्शनके पाठियोंने उनको जीवित नहीं रहने दिया। मेरा विश्वास है कि भविष्यमें भारतको इसका प्रायश्चित्त करना होगा। समय अब भी है भविष्य के निर्माण कर्ताओंको इसपर विचार करना चाहिये। मैं समझता हूँ समाज विज्ञानके वेत्ता और समाजवादके प्रचारक नेता इसपर विचार कर रहे हैं। उनके द्वारा अवधारित संस्कृति और समाजनिर्माण अवश्य संघर्षको अधिकसे अधिक दूर करनेमें सहायक होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थ और समाजगत अभिमान का उन्हें अहिंसाकी वेदीपर बलिदान करना होगा। देखें, भविष्य क्या करता है?

'अनेकान्त' श्रमण भगवान महावीरके विचारकी देन है। संसारमें हम व्यवहारगत यथार्थताको इतनी ज्यादा भयंकर नहीं मानते, जितना हम विचार-को मानते हैं। विचार मूल वस्तु है। पहिले विचार होता है पश्चात् तदनुसार क्रिया होती है। क्रिया क्षणस्थायी होनेसे तात्कालिक फल देकर नष्ट हो जाती है किन्तु विचार अनन्त काल तक भी जीवित रह सकते हैं। एक अविचार कितना नुकसान पहुँचा सकता है इसको कोई नहीं जान सकता। इसलिए विचार सुव्यवस्थित करना परमावश्यक है। यह व्यवस्था विचार क्षेत्रमें महावीरकी अपूर्व देन है। दार्शनिक भाषामें इसको 'अनेकान्त' या 'सापेक्षता-वाद' कहते हैं। भगवान्ने कहा "विश्वके सब पदार्थ सापेक्ष हैं" यह सापेक्षताका का नियम सर्वव्यापक है। किसी भी वस्तुका स्वरूप हम एकान्तसे प्रतिपादन नहीं कर सकते। हमें सबकी यथास्थितिपर विचारकर उसका रूप समझना होगा। जितने वचन हैं वे सब नय रूप हैं। उनका यथास्थान है, उनको सापे-क्षताके आधारपर समझना चाहिए। छह अन्धोंकी तरह हाथीके ज्ञानको हमें भिन्न-भिन्न रूपमें नहीं करना होगा। उनकी आंशिक सत्यताको लेकर पूर्ण सत्यका रूप जो समग्र हाथीका ज्ञान है, उसको उस रूप रखना होगा। हम एक मनुष्यको भाई, पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा आदि रूपोंमें भिन्न-भिन्न अपे-

की दृष्टिमें ही देखेंगे, समग्र रूपमें नहीं। समग्र रूपमें वह समन्तभद्रके शब्दोंमें अशेष, रूप होगा, वह अनेकान्त रूप होगा। और वास्तवमें सत्यका रूप यही है। अनेकान्त सिद्धान्त सब धर्मोंके मेलमें विश्वास नहीं कराता, किन्तु उनकी अनुरूपतामें विश्वास कराता है। अनुरूपता ही आंशिक सत्योंको एक रूपमें प्रकट कर सकती है और उससे दृष्टिविषमता दूर होकर दार्शनिक साम्यवाद उपस्थित हो सकता है। डॉ० आत्रेयके शब्दोंमें हमें यह कहना होगा कि 'संसारकी विचारगत गुत्थियोंको सुलझानेकी कुञ्जी अनेकान्त है। अनेकान्त नित्य, अनित्य, व्यापक, अव्यापक, एक, अनेक, सत्, असत्के द्वन्द्वोंको दूर करनेका सर्वोत्तम साधन है। यदि अनेकान्तकी नींवपर संसारके मनुष्य भवि-ष्यका निर्माण करें तो अवश्य ही हमें एक भविष्यके भव्य भवनका निर्माण मिलेगा जिसमें हम शान्ति, सुख और आनन्दसे रह सकेंगे।'

वर्तमान भारतके विचारकोंका तभी इतिहासमें स्थान रहेगा जब वे भारतके भविष्यके निर्माणमें इस प्रकारके सद्विचारोंकी देन जनताके सामने रक्खेंगे। जनता भोली होती है। उसको तो जैसे चलाया जायगा वह चलेगी। उसके लिए प्रेरक चाहिए। भगवान् महावीर एक बड़े जबर्दस्त प्रेरक थे। उनकी प्रेरणाकी आज भी आवश्यकता है। उनका दर्शाया हुआ मार्ग जनताके लिए आज भी पथप्रदर्शक है। वह अपने कालके युग निर्माता थे, उन्होंने उस युगमें जाग्रति पैदाकर मनुष्य और पशु जगत् दोनोंको शान्ति दी थी। चतुर्विध संघका निर्माणकर समाज व्यवस्थाका उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया था। उनने संयमकी शिक्षा देकर जगत्को इन्द्रियोंकी जलती हुई आगसे बचाया था। त्यागका उपदेश देकर जनताको निर्भयताका पाठ पढ़ाया था। समाधिकी ओर जोर देकर ध्यानमें अवस्थित कराकर मनुष्य अपनेको न भूल जाय यह उनकी आध्यात्मिक शिक्षा थी। प्रमाण और नयवादको उपस्थितकर निश्चय और व्यवहारके झगड़ेको दूरकर सत्यकी प्रतिष्ठापना की थी। इत्यादि कार्य उनके विश्वके प्राणियोंके लिए सार्वभौम धर्मके उपस्थापक थे। यह है उनका त्रैकाल्याबाधित, महत्ता और पूर्णतासे परिपूर्ण व्यक्तित्व, जिसकी छाप प्रत्येक व्यक्तिके हृदयपर पड़ना स्वाभाविक है। संसारके लोग उसी श्रमण संस्कृतिके उपासक व्यक्तियोंके आदर्शपर भविष्यका निर्माण कर सकते हैं। इस परम्पराके प्रतीक ऋषभ, महावीर, बुद्ध, गान्धी आदि व्यक्ति हैं, जिनमें महावीरका व्यक्तित्व जगत्के के लिए विशेषरूपसे उन्नायक है। हमें आशा है कि भारतके लोग इस भारतकी विभूतिको स्मरण कर लोगोंको उनके संदेश सुनाकर जागृति पैदा करेंगे।

इस जीवन में संतोष कहाँ ?

अनुपम स्वर लहरी मुखरित हो,
गुञ्जित हो जब नभ मे छाती
में जीवन प्रमुदित कुसुमित हो
अपनी मस्ती के गुन गाती
मस्ती की कुजन-लहरो मे
जीवन का सुखमय पल जाना
पर मधुरल की आशा मे भी
देखा कलिका का मुरझाना
कलिका बोली मेरे भी इस
यौवन-उभार में साध कहाँ ?
इस जीवन में संतोष कहाँ ?

सोचा था सुखमय जीवन वह
जो सजग सलोनी आशा का
जाना था जीवन मधुमय वह
जो स्वर्णिम जीवन आशा का
मै जान न पाया जीवन में
सुखमय ससार कहा बसती
आशा प्रत्याशा जीवन मे
साधन साधक की साध कहाँ ?
इस जीवन में संतोष कहा ?

सोचा सागर की लहरो के
लहर-लहर मे हो संतोष यहाँ
सोचा कल-कल जीवन रण मे
मधु मिश्रण का मधुमेह यहा
तूफानी सरिता के संगम मे
अनुपम जीवन का श्रेय सदा
पर हर-हर' बहती लहर
अश्रु मिश्रित । स्वर में—
मुझसे बोली
देखो ! मेरा बहता जीवन
मेरे जीवन में शोक यहाँ
इस जीवन मे संतोष कहाँ ?

—रतन 'पहाड़ी'

विदेशों में अहिंसातत्त्व की मान्यता

श्री कामताप्रसाद जैन

---

[२]

'सरमन ऑन दी माउन्ट' में ईसाका उपदेश अहिंसा के चरम रूप को व्यक्त करता है। एक आत्मदर्शी ही यह कह और कर सकता है कि जब कोई उसके एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके आगे दूसरा गाल कर दे और कोट छीनने पर लबादा दे दें। आज के यूरोपीय राष्ट्र यद्यपि म० ईसा को अपना गुरु मानते हैं, परंतु वे भौतिकवाद में ऐसे पग गये हैं कि ईसाई धर्म की शिक्षा को भूल गये हैं। वे उसे अपनायें तो लोक का कल्याण हो।

ईसाइयों की तरह ही अरब के मूल निवासी भी अहिंसा धर्म से प्रभावित हुए थे। उनमें स्वयं जैन श्रमणो ने जाकर धर्मोपदेश दिया था। जैनों में एक अनुश्रुति है कि मक्का में पार्श्व भट्टारक का शिष्य मस्करि पूरण हुआ, जिसने इस्लाम जैसा एक धर्म चलाया। इस अनुश्रुति में कितना तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता; परंतु एक बात स्पष्ट है कि अरब में जैनों द्वारा अहिंसा का प्रचार अवश्य किया गया था। हजरत मुहम्मद सा० अहिंसा धर्म के प्रभाव से अछूते नहीं थे। उनका अन्तिम जीवन निरा अहिंसक था। वह एक लबादा रखते थे, जिसे मन चाहा तब पहन लेते थे। इसके सिवा उनके तन पर एक लत्ता नहीं होता था। खोरमा, रोटी और दूध उनकी खुराक थी। उन्होंने जीवों के प्रति दयामय व्यवहार करने का उपदेश अपने अनुयायियों को दिया था। आज भी जो मुसलमान मक्का की जियारत (यात्रा) करने जाते है, वे जब तक वहाँ रहते हैं मांस नहीं खाते, झूठ चोरी जिनाकारी से परहेज रखते हैं। 'कुरान' की यह शिक्षा उनके नेत्रों के आगे रहती है :—

> "जो कोई मखलूक (प्राणियों) पर दया करता है, अल्लाह उस पर सदय होता है। जो मूक पशुओं पर दया करता और उनको पानी पिलाता है उसे पुरस्कार मिलता है। जग में कोई पशु-पक्षी ऐसा नहीं जो मानवों सदृश न हो। अतः पशुओं को न सताओ।" (६।३८)

बगदाद-बसरा में अबु-अला नामक एक सूफी फकीर हुए जो पूरे निरामिषभोजी और अहिंसक थे। यहाँ तक कि वे न शहद खाते थे और न चमड़े का जूता पहनते थे। सच पूछा जाय तो लोक के प्रायः प्रत्येक मतप्रवर्तक ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया है।

---

२ देखो ज्ञानानद श्रावकाचार।

ईसाइयों में एक समय अहिंसा की मान्यता विशेष थी। इसका प्रमाण आज भी रूस देश में लेक लदोग (Lake Ladogo) नामक झील के अन्तर्गत वलमोटापू (Island of Valamo) के ईसाई अधिवासियों के जीवन में मिलता है। इस टापू में लगभग एक हजार वर्षों पहले कुछ ईसाई पादरियों ने एक मठ स्थापित किया था। उस मठ के प्रत्येक सदस्य को यह प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी कि वह मांसभोजन नहीं करेगा। आज तक उस मठ के पादरी लोग इस अहिंसा व्रत को निभाते आ रहे हैं। ईसाइयों में ट्रेप्पिष्ट (Trappists), और फ्रेन्सिस्कन (Franciscan monks and nuns) पादरी और साध्वीजन कभी भी मांस भोजन ग्रहण नहीं करते। स्वीडनबार्ग (Swedanborg) ने अपना अलग सम्प्रदाय स्थापित किया था वह स्वयं शाकाहारी था। वेस्ली मेथोडिस्ट (Wesly Methodists) सम्प्रदाय के सस्थापक जॉन वेस्ली भी शाकाहारी थे। 'मुक्ति सेना' (Salvation Army) के संस्थापक श्री जेनरल विलियम बूथ और उनका सारा कुटुम्ब शाकाहारी था। थियोसोफी सम्प्रदाय की संस्थापिका श्रीमती ब्लैवत्सकी भी शाकाहार को ही श्रेय देती थीं। उनकी शिष्या श्री एनीबेसन्ट को तो अनेकों भारतीयों ने देखा है। वह और उनके अनुयायी हजारों थियोसोफिस्ट निरामिषभोजी रहे हैं। सयुक्त प्रदेश अमेरिका में 'मोरमान' (Mormons) संप्रदाय के ईसाई मांस-मद्य को नहीं छूते। उनके गुरु ब्रिघम यंग स्वयं शाकाहारी थे और अपने शिष्यों को भी उन्होंने शाकाहारी जीवन बिताने का उपदेश दिया था। ईसाई धर्म की मूल शिक्षा को इन लोगों ने ठीक समझा।

रूस में काउन्ट टॉल्स्टाय और उनके कुटुम्बी-जन पूर्ण निरामिषभोजी थे। सरदार टॉल्स्टाय एक महान् विचारक और सुधारक भी थे। उनके उपदेश को मान कर लाखों रूसी निरामिषभोजी अहिंसक हो गये थे। एक बार टॉल्स्टाय की बहन उनके घर आई। उनको मांसभोजन की बाट थी। घर के लोगों को मालूम था कि उनको मांसभोजन पाये बिना तृप्ति न होगी। किन्तु समस्या यह थी कि मांस पकाये कौन? सब ही तो उस घर में शाकाहारी थे। उनकी अहिंसक मनोवृत्ति यह आज्ञा ही नहीं देती थी कि वे अपने मेहमान के लिये मांस पकावें। टॉल्स्टाय ने भी यह बात सुनी। उन्होंने घर में जा कर सब को निश्चिन्त कर दिया—वह स्वयं उसका प्रबन्ध करेंगे। घर के लोग अवाक् थे। अहिंसा का पुतला टॉल्स्टाय अपनी बहिन के लिये क्या मांस पकवायेंगे? सब के प्राण यह सोच कर घुट-से रहे थे। भोजन की बेला हुई। भोजनागार में उनकी बहिन के लिए भी एक कुर्सी डाली गई और उस कुर्सी के एक पाये से

जीवित मुर्गी बांध दी गई। टॉलस्टाय की सूझ पर सब अवाक् थे। टॉल्स्टाय की बहन आई। मुर्गी बंधी देख कर वह भी चिचकीं। पूछा—"भाई यह क्या?" टॉल्स्टाय गंभीर होकर बोले, "कुछ नहीं, आपको मांस भोजन अधिक प्रिय है। हमारे यहाँ तो उसे कोई छूता नहीं। मुर्गी की हत्या करता कौन? बस, यह लो छुरा और इसकी हत्या कर लो।" यह सुनते ही बहन के काटो तो खून न था। कुछ रुक कर वह बोली, "नहीं, मैं यह हत्या नहीं करूंगी। मेरे लिये भी शाकाहार मंगवाइये।" सबने प्रसन्नता पूर्वक भोजन किया। अहिंसा धर्म के व्यावहारिक रूप का यह कितना प्रभावक और मार्मिक उदाहरण है। हमारे देश के भाई इससे शिक्षा लें तो वह लोक का कल्याण कर सकते हैं!

यूरोप के प्रसिद्ध पुरुषों में अधिकांश शाकाहारी ही होते आये हैं—अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण जो है—उससे वे अछूते कैसे रहते? सेनेका (cencca), सेलसस (celsus), ओविद (ovid), लिउनार्डो डिविन्सी (Leonardo devinci), पियरें कस्सेन्डि (Pierre caessendi), लिन्नेउस (Linnaeus) आदि तत्त्ववेत्ता शाकाहारी ही थे। प्रसिद्ध कवि मिल्टन शेले और थोरयो भी शाकाहार करते थे। सर आइजक न्यूटन, मोन्टेन, मैटरलिंक, शोपनहेइर आदि विद्वज्जन भी निरामिष भोजन करते थे। आज इंगलैंड के प्रसिद्ध साहित्य महारथी श्री जार्ज बरनर्ड शॉ भी शाकाहार करने के अभ्यस्त हैं। अभिप्राय यह कि यूरोप में उच्च विचारसरणी के लोगों के निकट अहिंसा धर्म की मान्यता विशेष रही है। सीधा सादा जीवन और निरामिष भोजन उच्च विचार सरणी में सहायक होते ही हैं।

आधुनिक काल में भारत का सम्बन्ध पश्चिम के देशों से बढ़ा है। किन्तु भारत तो अपनी स्वाधीनता ही खोये हुये था वह विदेशों में अपनी बात कैसे कह पाता? फिर भी, भारत की सांस्कृतिक महत्ता समय समय पर लोक में चमकती रही है। सन् १८९३ में संयुक्त प्रदेश अमेरिका में विश्वधर्मसम्मेलन हुआ था। उसमें भारतीय धर्मों के प्रतिनिधिगण भी निमंत्रित किये गये थे। वेदान्त का प्रतिनिधित्व स्वामी विवेकानन्द जी ने किया था और जैनधर्म के प्रतिनिधि स्व० बैरिस्टर वीरचंद राघवजी गांधी होकर गये थे। दोनों ही महापुरुषों ने वहाँ अपने २ धर्मों का प्रचार किया था। स्वामी विवेकानन्द के कार्य को रामकृष्ण-मिशन ने चालू रक्खा। अमेरिका में आज रामकृष्ण-मिशन के केन्द्र कई स्थानों पर हैं और वेदान्त के अनुयायी वहाँ लाखों हैं। श्री वीरचंद जी रा० गांधी ने भी वहाँ अहिंसा धर्म के प्रचार के लिये 'गांधी फिलोसोफिकल सोसाइटी' स्थापित की थी; किन्तु उनके पश्चात् किसी ने भी उनको अपनाया नहीं। वह समाप्त हो गई!

उपरान्त सन् १९३३ में शिकागो में पुनः एक विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ। उसमें स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी जैन विद्यावारिधि ने जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया। उनके भाषणों से अनेक अमेरिकन प्रभावित होकर अहिंसा धर्म के अनुयायी हुये। मिसेज क्लीन स्मिथ नामक महिला सकुटुम्ब जैनाचार को पालने लगी थी। उन्होंने बैरिस्टर सा० से धर्म शिक्षा ग्रहण की और जैन सिद्धांत की शिक्षा के लिये एक स्कूल खोल दिया था। किन्तु भारतीय जैनों से कोई सहयोग न मिलने के कारण वह अधिक समय तक चल न सका। फिर भी बैरिस्टर सा० के उद्योग का मीठा फल यह हुआ कि अनेक ईसाई पुरुष-स्त्रियों ने बाइबिल का ठीक अर्थ समझा। उन्होंने यह विश्वास किया कि परमात्मा का ठीक नाम I AM (अहमस्मि) है और प्रत्येक व्यक्ति परमात्मपद पा सकता है। इस श्रद्धा के अनुकूल उन्होंने मांस, मदिरा, लहसन, प्याज और चाय-काफी पीने का भी त्याग कर दिया है। वे निरामिषभोजी हैं। मिसेज क्लीन स्मिथ लिखती है कि ऐसे श्रद्धालु लोग लगभग तीन करोड़ हैं।

इंगलैंड में भी गांधी, जज जे० एल० जैनी और बैरिस्टर चम्पतराय जी ने जैन सिद्धांतो का प्रचार किया था, जिससे अनेक अंग्रेज बंधु अहिंसा-धर्म के अनुयायी हुए हैं। लदन में 'जैन लायब्रेरी'' की स्थापना बैरिस्टर सा० ने की थी। उसके द्वारा अहिंसा धर्म का प्रसार थोड़ा बहुत होता आया है। परिणामतः ब्राइटन के श्री मैके सा० और फेयरहाम के डॉ० टालबोट ने जैनधर्म का विशेष अध्ययन करके सम्यक् श्रद्धा प्राप्त की है। वे दोनो ही सज्जन अपने लोगों में अहिसा धर्म का प्रचार करते रहते हैं। उनकी बार बार यह प्रेरणा है कि भारत से कोई जैन विद्वान् अथवा सन्त उनको सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये भेजा जावे। उन लोगों का आग्रह देख कर हमने अहिसा धर्म का प्रचार सगठित रूप में करने के उद्देश्य से 'श्री अखिल विश्व जैन मिशन' की स्थापना की है। उसके द्वारा विश्व की सभी भाषाओं में अहिंसा धर्म का प्रतिपादक साहित्य प्रकाशित कराकर वितरण किया जाता है। श्री मैके आदि उत्साही बंधुओं द्वारा प्रचार कराया जाता है, जिसके कारण शाकाहार की उल्लेखनीय प्रगति हो रही है। लंदन में अहिंसा प्रचार के लिए एक सोसाइटी पहले से खुली हुई है और अमेरिका में शाकाहार का प्रचार किया जाता है। 'वेजीटेरियन-न्यूज' आदि समाचार पत्र भी वहाँ प्रकाशित किये जाते है। उनकी संख्या में अब वृद्धि हो रही है। निस्सन्देह पश्चिम के देशों में आध्यात्मिक-अध्ययन और अहिंसक-जीवन बिताने की भावना बढ़ रही है। भारतीय संस्थायें इस समय वहाँ विशेष लोकोपकार करने में सफल हो सकती हैं।

वीर शासन की उदारता

श्री जयभगवान् वकील

महावीर के उत्तरकाल में भी जिन शासन का प्रवाह, जैसा कि जैन साहित्य से विदित है, स्वतन्त्र गति से बहता रहा, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तकालीन स्थूल-भद्र श्रमणसंघाचार्य ने कोशा नाम की गणिका को जो ससार से विरक्त हो गई थी, जिन दीक्षा दे आर्यिका संघ में प्रविष्ट किया था[1]। पुरातत्त्व की खोजो से पता चला है कि ईसा से एक शताब्दि पूर्व मथुरा नगर में वर्धमान और वसु नाम की गणिकाओं ने जो मुनि उपदेश से श्राविका हो गई थीं एक विशाल जिन भवन बनवाया था[2]। इसी काल के लगभग होने वाले कार्तिकेय नाम के जैन आचार्य एक बहुत ही घृणित व्यभिचार की उपज थे। इस प्रकार के सैकडो उदाहरण जैन साहित्य में विद्यमान हैं जिनका असन्दिग्ध रूप से एक यह ही निष्कर्ष निकलता है कि वर्णव्यवस्था और जातीयता लौकिक जीवन के व्यवहार में चाहे कितनी ही प्रचलित रही हो, चाहे इन्होंने रोटी बेटी के व्यवहार क्षेत्र को कितना ही परिमित बना दिया हो, परन्तु वह कभी भी जिन शासन की शिक्षा दीक्षा में बाधक नहीं हुई।

जिनशासन ही की क्या ससार में जितने भी धर्म प्रवर्तक सन्त हुए हैं, सब ही ने पारमार्थिक जीवन का क्षेत्र सब ही प्रकार के मनुष्यों के लिए खुला रखा है। बुद्ध, कन्फिसियस, ईसा और मुहम्मद आदि के द्वारा प्रचलित सब ही धर्मपन्थों का इतिहास इसी तत्त्व का द्योतक है।

जिन शासन ने जहा लौकिक जीवन में यथाकाल, यथादेश, यथास्थिति, अपनी व्यवस्थाओ, सस्थाओं और प्रथाओ में यथावश्यक परिवर्तन करने की स्वतंत्रता दी है वहां स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है, वही व्यवस्था, वही संस्था और वही प्रथा श्रेयस्कर है, जो प्राणिमात्र को उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति और मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि में बाधक न हो[3]।

---

१ हेमचन्द्राचार्य परिशिष्टपर्व ८।११०-११३।

२ Catalogue of Archeological mounat mathura by Vogal Pt. d. 1916 P. 185.

३ सोमदेव यशस्तिलक चम्पू—

'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥"

जो व्यवस्था, जो प्रथा, प्राणिमात्र के आत्म-विकास के लिए पूर्ण सुविधायें प्रदान न करे वह स्वार्थ और संकीर्णता की उत्पत्ति है। उससे समाज को जितना जल्दी मुक्त किया जाय उतना ही समष्टिगत और व्यक्तिगत जीवन के लिए लाभप्रद है।

आज की दशा—

आज की जैन समाज ने मिथ्या विश्वासों, अहितकर रूढ़ियों, जटिल क्रियाकाण्डों और जातीय संकीर्णता से आक्रांत हो जिस रूप को धारण किया है उसे देख कर भ्रान्ति होती है कि यह समाज उदार हृदय वात्स्य लोगों की प्रतिनिधि है या वात्स्य विरोधियो की श्रेणी है। यह वीर शासन की उपासक है या लोक प्रतिष्ठा की पूजक है। यह वीर का धर्म संघ है या धर्म के व्यापारी लोगो का समूह है।

जैन समाज के अन्तर्गत दिगम्बर सम्प्रदाय वालो की संकीर्णता तो याज्ञिक पुरोहितों से भी आगे बढ़ गई है। इस सम्प्रदाय का न केवल श्रावक वर्ग ही बल्कि त्यागी वर्ग भी संकीर्णता की दौड़ में एक दूसरे से आगे बढ़ने की स्पर्धा कर रहा है। क्या ठिकाना है इनकी शुद्धि के अभिमान का और संस्थाओं के विमोह का? इनको अपने अतिरिक्त सकल जन समाज में से अशुद्धि की दुर्गन्ध आती है। अन्य आचार विचार वाले लोगो के सम्पर्क से हानि की आशंका होती है। इसीलिए अपनी शुद्ध संस्कृति की रक्षा का यह सहज उपाय निकाल लिया है कि बहिष्कृतसम पृथक् जीवन व्यतीत किया जावे। इसी संकीर्णवृत्ति का आज यह परिणाम है कि जहां एक ओर भट्टारक प्राचीन शास्त्र भण्डारों को तमावृत कर रहे है,वहां दूसरी तरफ साधु वर्ग अन्य भारतीय वर्गों के साथ सम्बन्ध विच्छेद करा जैन समाज को अपने ही घर में घेर कर बन्दी बनाने में लगे है और तीसरी तरफ श्रावक वर्ग वीर प्रभु को ही अपने देवालयों में बन्द कर उन्हें बन्दी बनाने में जुटे हुए है। ऐसा भान होता है कि अब वीरशासन नहीं बल्कि जैनसमाज-शासन है। सजीव वीर अपने शासन काल में बिना रोक टोक प्राणिमात्र को अपने चरण छूने की इजाजत देते, परन्तु, अब मूर्तिमान वीर केवल उन ही से अपने चरण छुआ सकते है जिनको जैन समाज इजाजत दे। कैसी घोर बिडम्बना है!

कहां तो मन्दिरों में बैठकर धर्मतत्त्व और उसके अष्टांगिक सम्यक्त्व की उदार सर्व व्यापक चर्चा और कहां समाज का वास्तविक जीवन! इसे देख प्रत्येक हृदय में यही प्रश्न ध्वनित होते हैं—

कहां है वह धर्म जो नीचों को नीचता के गर्त से ऊपर उठाने के लिए अवलम्बन देता था?

कहां है वह ग्यारह प्रतिमाओं वाला श्रावक जीवन का सोपान, जिस पर आरूढ़ हो सब ही भव्य जीव मोक्ष पुरुषार्थ की योजना करते थे ?

कहां है वह धर्म प्रवाह, जो प्राणिमात्र के दुःख हरण कर उनमें सुख-शान्ति का सञ्चार करता था ?

कहां है वह निर्ग्रन्थ साधुसंघ, जो अनेक उपसर्ग सहकर भी सर्वतोभद्र मूर्ति के समान विचरते हुए प्राणिमात्र को अणुव्रतो और महाव्रतों की दीक्षा देते थे ?

कहां है वह धर्म परिषद, कहां है वह समवशरण का अनुकारि देवालय, जहां सब ही उच्च नीच, नर, तिर्यञ्च भ्रातृसम धर्म की शरण पाते थें ?

कहां है वह निर्जुगुप्सा गुण, जिसके अनुभव से प्रत्येक जीव के प्रति उसकी दरिद्रता, क्षुद्रता, नीचता से ग्लानि न करके उसके उद्धारार्थ हाथ बढ़ाया जाता था ?

कहां है स्थितिकरण गुण, जो सुपथ से विचलित कुमार्गरत मनुष्यों को सद्बोध, प्रोत्साहन देकर आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा उनके आत्मस्थ मल का प्रक्षालन कर उनको धर्म मार्ग पर स्थिर करता था ?

कहां है प्रभावना गुण, जो अपने जीवन को इतना उच्च और प्रभावशाली बनाता था कि वह संसार सागर में पतित जीवों के लिए आदर्श होता था ? जो जिन धर्म का उत्कर्ष बढ़ाने और जिन धर्म के अनुयायियो की वृद्धि करने के लिए श्रावक को अग्रसर करता था ?

कहां है वह व्रात्य वृत्ति, जो अपवाद उपसर्ग सहकर भी मिथ्या विश्वासो और विकृत व्यवस्था का मूलोच्छेद करने में लग जाती थी ? इत्यादि ।

विपरीतता के कारण—

इस स्थल पर प्रश्न पैदा होता है कि अर्हतमत अनुयायी समाज के इतने विपरीत परिवर्तन का क्या कारण है ? क्या वीर भगवान के आचार और उपदेश में कुछ अन्तर था, क्या उनका उपदेश इतना अविशद था कि उसके कई अर्थ हो सकते थे ? कहना होगा कि उपरोक्त कारणो में कोई भी कारण नहीं है । तो फिर क्या हेतु है ?

इसका उत्तर भारतीय सभ्यताओं के उत्थान पतन के इतिहास में छिपा है । ईसा की चौथी शताब्दी में जब उत्तरीय भारत के राजशासन की बाग-डोर गुप्त वंशीय राजाओं के हाथ आई तो ब्राह्मणिक मन्तव्यों ने फिर ओर पकड़ा, और जैन संघ को बहुत धक्का पहुंचा । वीरजन्मभूमि को छोड़कर श्वेताम्बर संघ ने जहां सुराष्ट्र देश को अपनाया—दिगम्बर संघ ने राजगृह, उज्जैन, पाटलिपुत्र, और मथुरा के केन्द्रस्थानों से निकल दक्षिण को अपना घर बनाया । आठवीं शताब्दी में जब श्री शंकराचार्य की अध्यक्षता में दक्षिण देश में भी ब्राह्मण धर्म को महती प्रगति मिली तो बढ़ती हुई ब्राह्मणिक सभ्यता की दिग्विजय के आगे जैन संघ को अपने जीवन की रक्षा के लिए ब्राह्मणों की व्यवस्थाओं, संस्थाओं और संस्कार प्रथाओ के प्रति उपेक्षा और विरोध का त्याग करना पड़ा और उन्हें नवीन रूप दे जैन शासन का अंग बनाना पड़ा ।. यह बात जिनसेन रचित आदि पुराण के

३९वें पर्व से भली भांति विदित है।

८वीं शताब्दी के बाद जब उत्तरीय भारत के देशों में विभिन्न राजपूत वंशों के राज्यशासन स्थित हुए तो जैन आचार्यों ने पुनः उत्तरीय भारत में घूम कर द्विज जातियों में से इस जैन संघ की वृद्धि करना शुरू किया। आज उत्तरीय भारत में जो जैन अनुयायी लोग विद्यमान हैं वह अधिकतर ८वीं शताब्दी के बाद के दीक्षित हैं, और वैश्य जाति के हैं। चूंकि यह लोग शताब्दियों से ब्राह्मणिक संस्कृति से अनुरञ्जित थे और जैन शासन भी स्वयं ब्राह्मणिक जातीय व्यवस्था से अनुरञ्जित हो चुका था। अतः उत्तरीय भारत में जैन संघ में जातीय संकीर्णता का ब्राह्मणिक प्रथाओं का आलोक होना स्वाभाविक ही है।

आज जातीयता का मिथ्यात्व सन्तति रूप से आते आते इतना गाढ़ हो गया है कि वह हमारे धर्म का अंग ही बन गया है। यह ही नहीं वह तो अब हमारे मान और प्रतिष्ठा का पोषक बन गया है। इस मिथ्यात्व पाश से मुक्त होने के लिए हमें जैन शासन के मूल सिद्धान्तों का, शासन प्रवर्त्तक महावीर के जीवन का, और व्रात्य जाति के इतिहास का अवलोकन करना होगा। इसी बात को दृष्टि में रखकर उपरोक्त बातों पर कथञ्चित प्रकाश डाला गया है।

स्थितिपालक दल पूछ सकता है कि जैन संघ को अपनी रक्षा के लिए जिस जातीय व्यवस्था और प्रथाओं को ग्रहण करना पड़ा वह आज इसके जीवन के लिए आवश्यक क्यों नहीं है? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा, कि जो भय जैन संघ के जीवन में उस समय उपस्थित हुआ था, वह भय आज नहीं है। उस समय ब्राह्मणिक प्रभाव के सामने बौद्ध धर्म लुप्त होता चला जा रहा था। और भय था कि कहीं यही दुर्दशा जैन संघ को भी न हो। परन्तु अब तो भारत स्वतंत्र है और भारत सरकार तथा कांग्रेस का लक्ष्य वर्गविहीन असाम्प्रदायिक समाज की स्थापना कर वीरोक्त मानव समानाधिकार के प्रसार का है तब कोई कारण नहीं जो इस भ्रममूलक संस्कृति-विरुद्ध व्यवस्था का अनुसरण किया जाय। स्थितिपालक हिन्दू संघ में से ही थियोसोफिकल सोसाइटी (Theosophical Society) ब्रह्म समाज, आर्य समाज, राधास्वामी समाज, देव समाज, हरिजन सेवा संघ, जातपांत तोड़क मण्डल आदि संस्थाएँ और सभा सोसाइटियां जात पांत और क्रियाकाण्ड का मूलोच्छेद करने के लिए खड़ी हो गई हैं। हिन्दू रियासतों में शिव और विष्णु मन्दिरों के द्वार धड़ाधड़ हरिजनों के लिए खोले जा रहे हैं।

इस युग के परमावतार स्वयं महात्मा गांधी ने भारतीय जनता को इस जातीय संकीर्णता और क्रियाकांड से निकाल समता और सरलता का मार्ग दिखाया है।

बौद्धमत जो भारत से बिलकुल बहिष्कृत हो चुका था, भारत के उपरोक्त वातावरण का फायदा उठा पुनः अपनी जन्मभूमि में प्रवेश कर रहा है। यह समय सोने का नहीं है, नवयुग के प्रभात का उदय हो चुका है, अतः अब जैन संघ को भी केंचली के समान अपना संकीर्ण रूप छोड़ कर पूर्वकालीन उदार रूप ग्रहण कर इस नवयुग के सभ्यता संघर्ष स्थल में आ जाना चाहिए और शिक्षा दीक्षा द्वारा अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

श्रमण हरिकेशी

श्री केशरीचन्द्र सेठिया बीकानेर

उसे बचपनमें हरिया कहते थे। चांडाल कुलका यह बालक आवश्यकता से अधिक नटखट और वाचाल था। गाँवसे दूर नदी किनारे इस बालकका जन्म एक टूटे फूटे झोंपड़ेमें हुआ था। गरीब माँ बाप कैसे दिन गुजारते हैं इसकी चिन्ता करना उसका काम न था। दो समय खाने और रातको सोनेके समय ही वह घरको याद करता था। बाकी समय अपनी मण्डलीमें बिताता। हाँ कभी कभी इस समयके सिवाय भी उसे हाजिर होना पड़ता था, जब वह किसी लड़केके दो चार झापड़ जड़ देता या किसीका सिर फोड़ देता। पेशीके समय वह इधर उधरकी बात बना विपक्षीको झूठा बना देता और अगर इसपर भी छुटकारा नहीं मिलता तो बड़ी सफाई और फुर्तीसे बापकी मारसे अपनेको बचा लेता। शिकायत करनेवालेकी तो उस दिन शामत ही आ जाती। घरवाले उसकी शिकायतोंसे परेशान थे और लड़के उसके कठोर शासन से।

एक दिन वह खेलता खेलता बस्तीसे आगे निकल आया, जहाँ धर्मका साम्राज्य विप्रोंके हाथमें था। जिस बस्तीमें उसकी परछाई भी असह्य थी। जिसके गमन मात्रसे वेद पाठ रुक पड़ते, आबहवा तक दूषित और अपवित्र हो जाती वहीं एक चाण्डाल बालक निर्भीक रूपसे चहल-कदमी करे यह कैसे सहन कर सकते थे भू-देवता! उन्होंने उसे जानवरकी तरह पीटा। इस विपत्तिमें उसके साथी भी उसे अकेला छोड़ भाग गए। फिर भी उसने डटकर मुकाबला किया किन्तु वह निःशस्त्र अकेला बालक क्या कर सकता था उन बड़े-बड़े सोटाधारियोंके सामने। वे उसको पीटते पीटते बस्तीसे बाहर ले आये। उसके सिरमें बड़ी चोट आई और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। इस पर भी उनको संतोष न हुआ। उन्होंने उसके बापसे कहा—अगर अपना भला चाहता है तो इस दुष्ट लड़केको अपने झोंपड़ेसे बाहर निकाल दे। अभी, इसी समय। बेचारा बाप गिड़गिड़ाया, जमीनपर नाक रगड़ी और बोला—माई बाप, दया करो, ऐसी दशामें मैं इसे कहाँ निकालूँ? जगह-जगह से सिर फूट गया है। ठीक हो जानेपर जैसी आज्ञा देंगे करूँगा। किन्तु कौन सुनता था उसकी बात। लाचार उसे अपने आदेशदाताओंके आदेशको स्वीकार करना ही पड़ा। उसे टालकर रहता कहाँ?

*

पक्षियोंका कलरव शांत हो गया। बसेरेके लिए सब अपने घोसलोंमें आ गए। सूर्यदेव अपनी आतप्त किरणोंको समेट कर अस्त हो गए। शुभ्र शीतल चाँदनीके साथ चन्द्रोदय हुआ। ठण्डी-ठण्डी हवा बहने लगी हरिकेशीको कुछ कुछ होश आया। उसने धीरे-धीरे अपने मुँदे हुए नेत्र खोले। चारों तरफ देखा। एकएक करके सारे दृश्य आँखोंमें तैरने लगे। प्याससे उसका कंठ सूख रहा था। उठनेका प्रयत्न किया किन्तु उठ न सका। सिरसे अभीतक रक्त बहता था। अङ्ग-अंङ्गमें असह्य पीड़ा थी। जिन्दगीमें पहली बार वह इस तरह मजबूरन सोया था। आगे भी अनेक बार चोटें लगी थी, किन्तु तब उसकी माँ उसको अपनी गोदमें सुलाकर उसकी सेवा करती थी। घाव जल्दी भर जानेके लिए उसे गुड़का हलवा खिलाती थी। माँका ध्यान आते ही उसके स्वभावके विपरीत उसकी आँखोंसे बड़े-बड़े आँसू टपकने लगे। उसे पश्चात्ताप हो रहा था। उसके लिए उसके माँ-बाप प्रतिदिन लोगोंके उलाहने सहते थे। बिरादरीके लोगोंमें नीचा देखते थे। आज भी उसके कारण उन्हें सबकी जली-कटी सुननी पड़ी और विवश उसे अपनेसे दूर करना पड़ा। किन्तु किसने उन्हें विवश किया? चंद लोगोंने जिन्होंने धर्मको और ईश्वरको खरीद रखा है। जो अपने ढोंगकी खातिर एक नादान बच्चेकी जान तक ले सकते हैं, उसे अपने माता-पितासे दूर तक करवा सकते हैं। उसमें ऐसी क्या कमी है, जिसके कारण उसे दुनियाँमें रहकर भी दुनियाँसे दूर रहना पड़ता है। हाथ-पैर नाक-कान सभी तो उसके उनके जैसे हैं। कुशलतामें भी किसीसे कम नहीं। आसमानसे वे भी नहीं टपके, आसमानसे वह भी नहीं टपका, उसने भी माँके उदरसे जन्म लिया है। फिर उसे क्यों नहीं है उस बस्तीमें जानेका अधिकार, उनके बच्चोंके साथ खेलनेका अधिकार? किन्तु कौन देता उसे इन सब बातोंका उत्तर। उसके पैसे मन्दिरोंमें चढ़ सकते हैं, उसे भू-देवता खुशीसे हजम कर सकते हैं, किन्तु उसकी परछाईंसे भी परहेज है। रातभर वह इन्हीं विचारोंमें उलझा रहा। किन्तु समाधान कुछ न हो सका।

*

प्रभात हुआ। किसी तरह उठा जलाशयकी तलाश करनेके लिए। कुछ दूर चलनेके बाद उसे एक नदी मिली जहाँ उसने जी भरकर पानी पिया। थोड़ी देर विश्राम करके वह उठा कि उसे विचार आया वह जायगा कहाँ? क्या वहीं, जहाँसे वह निर्दयताके साथ निकाला गया है। नहीं नहीं, वह वहाँ नहीं जायगा। जहाँ उसके सदृश मनुष्यका कोई स्थान नहीं। तो फिर क्यों न इस नदीकी प्रखर धारामें सदाके लिए शांत हो जाए। यह विचार उसे ठीक जँचा। उसके लिए यही एकमात्र उपाय शेष रह गया जिसके द्वारा उसे हमेशा

के लिए शान्ति मिल जायगी। वह ज्योंही डूबनेके लिए झुका कि उसे किसीके हाथके स्पर्शका अनुभव हुआ। उसने चौंककर पीछे देखा तो अपनेको एक निर्ग्रन्थ साधुके समक्ष पाया। वह कुछ कहे, इससे पहले ही साधु अपनी सहज स्वाभाविक मृदुतासे बोले-विवेकसे काम लो वत्स! आत्म घात करना सबसे बड़ा पाप है। इसमे शांति नहीं मिलेगी।

"आप कौन हैं मुझे रोकनेवाले? मैं अब जीना नहीं चाहता। क्या करूँगा मैं जीकर! मेरी किसीको आवश्यकता नहीं! आप अभी तक नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? वर्ना आप भी मुझे नहीं रोकते। और न इतनी मृदुतासे ही बात करते। इसी नदीमें एक धक्का और दे देते।" हरिकेशी बोला।

साधु मुसकराए, उन्होंने कहा-वत्स, शांत हो जाओ। मै देख रहा हूँ कि तुम मानव हो। तुमने दुर्लभ मनुष्य जीवन पाया है। मैं इससे अधिक और कुछ जानना नहीं चाहता।

हरिकेशीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इतनी मृदुतासे तो उससे आज तक किसीने बात नहीं की। कोई चमत्कारी और महान पुरुष मालूम पडा। किन्तु फिर उसे विचार आया शायद इन्हे पता नहीं कि मै एक चांडालबालक हूँ। उसने कहा- मैं एक चांडाल-पुत्र हूँ। शायद आप यह नहीं जानते?

तुम बहुत ही दुखी और सताए हुए जान पडते हो? तुम्हें क्या दुख है, निर्भीक होकर कहो।

हरिकेशी बोला-आपने ठीक कहा, मैं बहुत दुखी हूँ। मुझे शांति चाहिये, किन्तु कौन देगा मुझे शान्ति? मै अस्पृश्य हूँ, अन्त्यज, सबकी घृणाका पात्र। सबकी गुलामी करना मेरा कर्त्तव्य है। जबान है, किन्तु बोलनेका अधिकार नहीं। फिर भी आप मुझे कहते हैं आत्म घात करना पाप है। आत्म-घात न करूँ तो और क्या करूँ? आप ही बताइये?

नहीं वत्स, ऐसा सोचना ही भूल है कि आत्मघात से दुखोंसे छुटकारा मिल जाता है। इससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती। यह शान्तिका मार्ग कतई नहीं। एक बार भले ही तुम स्थूल शरीरको त्याग कर समझ लो कि तुम मुक्त हो गए, किन्तु आत्मा कभी नहीं मरती। कर्मोंसे कहीं नहीं बच सकते। फिर, हीन कुलमें जन्म लेने मात्रसे कोई हीन नहीं होता। ये श्रेणियाँ तो मनुष्यने अपनी अपनी सुविधाके लिए बना ली हैं। उच्च कुलमें जन्म लेने मात्रसे ही कोई उच्च नहीं हो जाता, न इसमें कोई गौरवकी ही बात है। वह तो आत्मशुद्धि और अच्छे कर्मों पर आधारित है। आत्मशुद्धिके लिए सबसे उत्तम मार्ग साधुजीवन बिताना है।

हरिकेशीने कहा- क्या मेरे जैसा आदमी भी इसे ग्रहण कर सकता है?

साधुने किसी अदृश्य शक्तिको नमस्कार करके कहा—महाप्रभुके धर्म राज्यमें सबको समान स्थान है। वहाँ व्यक्ति और उसके कुलकी पूजा नहीं होती, बल्कि उसके गुण और ज्ञानकी पूजा होती है। मुक्तिके द्वार सबके लिए समान रूपसे खुले हैं। महाश्रमण वर्धमानने उच्च नीच गोत्रके संबंधसे में कहा है कि—"यही जीव अनेक बार उच्च गोत्रमें जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्रमें। इसलिए न कोई हीन है और न कोई ऊँच। अतः उच्च गोत्र आदि महास्थानोंकी इच्छा भी न करनी चाहिए। इस बातपर विचार करनेके बाद भी कौन अपने गोत्रका ढिंढोरा पीटेगा ?" इसी तरह उनने वर्णव्यवस्थाका आधार ही बदल दिया है—"मनुष्य कर्मसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्रिय होता है, कर्मसे ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कर्मसे ही होता है।

हरिकेशीको ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई महान् शक्ति उसमें प्रवेश कर रही है। उसका हृदय आनन्दसे गद्-गद् हो उठा, उसने मुनिके युगल चरण स्पर्श कर गुरुमंत्र देनेका अनुरोध किया।

साधुने अपनी विधिके अनुसार उसे दीक्षित किया। और कहा—आजसे तुम समय मात्रका भी प्रमाद न करते हुए ज्ञानकी वृद्धि और जन जनमें फैले हुए इन घृणित विचारोंसे जनताको जाग्रत करो। अपनी आत्मा तथा दूसरोंकी आत्माको उन्नतिके पथमें लगाओ। दूसरोंकी भलाई अपना कर्त्तव्य समझकर करो न कि किसी फलकी आकंक्षासे। दूसरोंके अवगुणोंकी तरफ लक्ष्य न करके स्वयंकी आत्मा टटोलो।

हरिकेशीने विनय सहित गुरुके आदेशको शिरोधार्य करते हुए कहा—मैं यथाशक्ति गुरुके आदेशका प्रतिपालन करूँगा।

श्रमण हरिकेशीका हृदय ज्ञानके आलोकसे उज्ज्वल हो उठा। उसने जातिवाद और कुलीनतावादसे रौंदे हुए मानव समुदायकी त्रस्त वाणी और करुण क्रन्दनको हृदयङ्गम किया। श्रमण धर्मके समतावादमें मानवकी मुक्तिका संदेश उसे सुन पड़ा। आत्मसाधनाके कठोर मार्गका अवलम्बन करके निर्लिप्त दृष्टिसे उसने दो सीमान्तिक विचार धाराओंको तौला और अपने अनुभवको सही पाया। व्यवहारमें, जगत्में, सर्वत्र उसे अपना निर्णय ही मुक्तिका द्वार प्रतीत हुआ। उसने स्वसमाधिको गौण कर अपने विचारोंका विजयतूर्य इतनी ओरसे फूँका कि पाखण्डका सिंहासन डोल उठा, यज्ञ कुण्डमें पशुओंकी बलि देनेवाले पुरोहितोंके हाथ काँपने लगे, कुलीनतावादके हिमायती वर्गके पैरोंके नीचेसे भूमि खिसकने लगी। अनेक विप्रों, महर्षियों और मनीषियोंने आकर चाण्डाल बालकके उपदेशको सुना और उसकी मनीषाको प्रणाम किया। समतावादकी वह पहली विजय थी, आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व। आज फिर दुनियाँमें उसीकी विजयका निर्घोष सुन पड़ने लगा है।

दो महत्त्वपूर्ण पत्र

कहाँ तो यह कहना कि जैनधर्म सार्वजनिक है, कहाँ यह हट ?

[१]

पू० क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा श्री पन्नालाल जी अग्रवाल दिल्लीको लिखा गया पत्र।

"......क्या कहूँ देहली समाजने जिस पथका अनुसरण किया वह उन्हींके परमार्थ लाभमें बाधक हुआ। मेरी जैनधर्मके प्रति गाढ़ श्रद्धा है, मैं तो निरन्तर यही भावना रखता हूँ—हे आत्मन्! अनादिसे आज तक शान्तिके रसका आस्वाद जो नहीं आया उसमें तेरी ही अज्ञानता है। उचित तो यह था जो इन परकीय कल्पनाओंको त्याग, व्यर्थकी लोक प्रतिष्ठाकी ओर अपनेको न जाने दे। अस्तु, यह जो शूद्र समस्याका आन्दोलन हो रहा है इसमें समाजको महती हानि उठानी पड़ेगी। किन्तु कौन कहे, सुननेवाला कौन? सत्याग्रह परके यहाँ करनेसे लाभ क्या? इतनी निर्मल परिणति बनाओ जो जगत् स्वयं तुमसे मार्ग पूछे। अहिंसाकी उपासना करना तो सीखते नहीं, अहिंसा धर्म हमारा है यही ध्वनि क्यों? यदि तुम्हारा है तब क्यों नहीं पालन करते! केवल कहनेसे क्या लाभ! विचारो तो सही। धर्म तो वह वस्तु है जिसके उदयमें कोई रागादिका अंश भी नहीं रहता शुद्ध द्रव्य हो जाता है। फिर शूद्रको मन्दिर आनेका अधिकार नहीं? मेरा तो यह विश्वास है मन्दिर आनेका अधिकार भले ही न हो किन्तु आंशिक मोक्षका अधिकारी जैसे आप लोग हैं वैसे वह भी है। उच्चकुलमें पैदा होनेसे धर्मात्मा हो यह नियम नहीं। और यह भी नहीं जो मन्दिर जानेसे ही धर्म हो सकता है। धर्म तो आत्माके निर्मल भावोंसे सम्बन्ध रखता है। निरन्तर यह भावना भावो जो हे आत्मन्! जैसे मोक्षमार्ग तुम्हें इष्ट है इसी प्रकार प्राणीमात्रको इष्ट है। अस्पृश्य भी तो प्राणी है, संज्ञी है, वे भी सदाचारी हो सकते हैं। पञ्चलब्धिमें देशनालब्धि क्या हम जैनोंके वास्ते ही है? कहाँ तो यह कहना जैनधर्म सार्वजनिक है, और कहाँ यह हठ? यदि शूद्र लोग मन्दिरमें आ गए तब आगे क्या होगा? कुछ न होगा। मन्दिरोंमें देशनाका प्रबन्ध करो और उन्हें समझाओ धर्मका मर्म तो यह है। पहले अनात्मीय बुद्धि छोड़ो पश्चात् पञ्च पापोंका त्याग करो, पश्चात् विधिविहित

धर्मका आचरण करो। सो तो कुछ है नहीं। हम सत्याग्रह करके दिखा देवेंगे, जो वर्तमान सरकारको अन्ततो गत्वा झुकना ही पड़ेगा। अस्तु जो हो। हमको तो अब श्रीगिरिराज जाना है और वहाँ पार्श्वप्रभुकी निर्वाण भूमिमें वीर प्रभुके निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करेंगे।"

आपका शुभचिन्तक–गणेश वर्णी

हरिजन मन्दिर प्रवेशमें बचनेके लिए जैन हिन्दू नहीं हैं का आत्मघाती नारा। **[२]** महामहिम राष्ट्रपतिकी सेवामें सन्मार्ग प्रचारिणी समिति बीना द्वारा भेजा गया स्मृतिपत्र।

मान्यवर,

स्वतन्त्र भारतको ऊँचा उठानेके लिए प्रत्येक देशवासीके अन्तःकरणमें राष्ट्रीयताका जागरण अत्यन्त आवश्यक है। सुदूर अतीतमें धर्म, समाज और राजनीतिका एकमात्र यही लक्ष्य रहा है। लोगों द्वारा स्वार्थवश धर्मका दुरुपयोग करनेके कारण भारतवर्षमें विभिन्न मतोंका आविर्भाव हुआ और तब धर्मके बाह्यरूपमें भी विविधता आ गई जिससे धर्मके नामपर मानव मानवके बीच अन्तरका अंकुरारोपण हुआ और यह अन्तर यहाँ तक बढ़ा कि मानव समाज उच्च और नीच इन दो वर्गोंमें बँट गया। इस विभाजनके परिणामस्वरूप नीच कहे जानेवाले लोगोंको अछूत मानकर उनके प्राकृतिक अधिकार छीन लिए गये। इसका भारतवर्षकी राष्ट्रीयतापर इतना बुरा असर हुआ कि अन्तमें हमें अनिच्छापूर्वक देशका हिन्दोस्तान और पाकिस्तानके रूपमें विभाजन स्वीकार करना पड़ा और अपनेको धर्मका ठेकेदार समझनेवाले मानव समाजने विकराल दानवताका नग्न नृत्य भी दिखा दिया।

वर्तमान युगके महापुरुष महात्मा गांधीके पुनीततम प्रसादसे हमारे जन-नेताओंने देशकी जड़ोंको जर्जरित करनेवाले विकारोंको समझा और देशके शासनकी बागडोर सम्हालने पर उन्होंने उन विकारोंको समूल नष्ट कर देनेका बीड़ा भी उठाया तथा अपनी इस प्रतिज्ञाको पूरा करनेके लिए ही कतिपय प्रान्तीय सरकारोंने सार्वजनिक स्थानोंमें हरिजनोंके प्रवेशपर लगी सामाजिक रोकको हटानेके इरादेसे अधिकार विषयक बिल अपने-अपने प्रान्तोंमें पास किए, जिन्हें सर्वत्र हरिजन मन्दिर प्रवेश कानूनके नामसे पुकारा जाता है।

यह बात प्रत्येक सवर्ण कहे जानेवाले व्यक्तियोंके लिए गौरवकी तो है ही साथ ही जैन समाजका तो यह सौभाग्य है कि श्रमणसंस्कृतिके असली रूपपर परिस्थितिवश जो परदा पड़ चुका था जिससे उसकी आवश्यक विशेषताओंकी ओर आज भी दुर्लक्ष्य किया जा रहा था उस परदेको हटानेका यह चिरप्रतीक्षित अवसर सहज ही प्राप्त हो गया है।

हम इस बातके लिए अत्यन्त दुखी और लज्जित हैं कि जैन समाजमें आज भी कतिपय ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो अपनी नासमझीके कारण न केवल उक्त अवसरको हाथसे निकाल देनेका दुष्प्रयत्न कर रहे हैं बल्कि इस तरहसे दूसरे व्यक्तियोंकी दृष्टिमें वे श्रमण संस्कृतिको बदनाम भी कर रहे हैं। ऐसे ही व्यक्तियों की आज यह माँग है कि 'हरिजन प्रवेश कानून' जैन मन्दिरोंपर नहीं लागू होना चाहिए और अपनी इस अनुचित एवं देशके लिए खतरनाक माँगकी सरकारसे सिर्फ पूर्ति करवानेके लिए ही बिना सोचे समझे 'जैन हिन्दू नहीं हैं' का आत्मघाती नारा भी बुलन्द कर रहे हैं।

हमें भय है कि कतिपय जैन व्यक्तियोंके इस अविवेकपूर्ण दुराग्रहसे ऊबकर मध्यप्रान्तीय सरकारकी तरह दूसरी प्रान्तीय सरकारें अथवा केन्द्रीय सरकार भी जैन समाज और देशके लिए हानिकारक इन लोगोंकी बातको कहीं मान न ले, इसलिए हम यह पत्रक आपकी सेवामें भेज रहे हैं ताकि उनकी बात माननेके पहले उनके परिणामके बारेमें जवाबदार व्यक्तिके नाते आपको गम्भीरतापूर्वक सोचना आवश्यक हो जाय।

वैसे तो हम देशहितकी दृष्टिसे एक ही अखण्ड भारतीय संस्कृतिके कट्टर पोषक हैं, परन्तु देशमें भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंकी मौजूदगीको लेकर जब हम विचार करते हैं तो अब तकके अध्ययनके आधारसे हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि वास्तवमें श्रमण संस्कृति दूसरी संस्कृतियोंकी तुलनामें विज्ञानके अधिक नजदीक है। उसमें विश्वकी सभी समस्याओंका हल निकालनेके लिए अचूक एवं स्थायी साधन विद्यमान हैं। राष्ट्र और विश्वकी अखण्डताको सुरक्षित रखनेके लिए उसमें वर्गविहीन समाज रचना पर अधिक बल दिया गया है। उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके अनुसार एक मनुष्य छूत और दूसरा अछूत नहीं है और यहाँ तक कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वर्ग और लिंगजनित भेदोंको बाधक कारण मानना अस्वाभाविक बतलाया गया है। लेकिन यह बीती हुई बात है कि भगवान् महावीर और बुद्धके जमानेमें जिस प्रकार वैदिक संस्कृतिको श्रमण संस्कृतिसे प्रभावित होकर अपना रूप उस संस्कृतिके अनुरूप बनानेको बाध्य होना पड़ा था उसी प्रकार बादमें श्रमणसंस्कृतिको भी केवल जीवित रखनेके अभिप्रायसे ही उसके नेताओंने वैदिक संस्कृतिके साँचेमें ढालना ठीक समझा था। इस प्रकार श्रमण संस्कृतिमें इस समय जो मानवताविरोधी अप्राकृतिक तत्त्व पाये जाते हैं वे सब वैदिक संस्कृतिके तत्कालीन प्रभावके ही परिणाम हैं।

अतः हम आपके द्वारा सभी प्रान्तीय सरकारों व केन्द्रीय सरकारसे विनम्र निवेदन करते हैं कि कतिपय व्यक्तियों व उनके नेतृत्वमें संचालित संस्थाके

विरोधसे प्रभावित होकर जैन मन्दिरोंको 'हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून' से बरी न किया जाय। उक्त कानूनमें जो व्यवस्था सम्बन्धी धाराएँ हैं उनसे हमें इस बातका पूरा सन्तोष है कि जैन मन्दिरोंकी पवित्रता और उपयोगितामें कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी।

इसी प्रकार यद्यपि श्रमण और वैदिक दोनों संस्कृतियोंमें मौलिक अन्तर है फिर भी जैनियोंका अपनेको हिन्दू नहीं मानना अथवा दूसरोंका जैनियोंको हिन्दू समाजसे पृथक् रखनेका प्रयत्न करना दोनों ही बेहूदा बातें हैं। जैन हिन्दू हैं और रहेंगे। हमें इस बातका बिलकुल भय नहीं है कि इस तरहसे श्रमण संस्कृति पर वदिक संस्कृति हावी हो जायगी और श्रमण संस्कृति समाप्त हो जायगी। क्योंकि हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि कोई भी वस्तु अपनेमें आई हुई कमजोरी अथवा बुराईके कारण ही नष्ट हो सकती है। उसमें जबतक कमजोरी अथवा बुराई पैदा नहीं होगी तबतक दूसरी कोई भी शक्ति उसे समाप्त करनेके प्रयासमें सर्वदा असफल ही रहेगी। फिर हमारी यह मान्यता है कि संस्कृतियोंमें परस्पर ऐसी जो व्यावहारिक विविधता पायी जाती है जिससे मानव मानवके बीच संघर्ष पैदा होता है वह अपने आपमें एक बुराई है इसलिए उसका दूर किया जाना न केवल अत्यन्त उपयोगी है अपितु इससे संस्कृतिके संशोधनका अवसर मिलता है।

अतः हम आपकी मारफत सभी प्रान्तीय सरकारों व केन्द्रिय सरकारसे यह भी निवेदन करते हैं कि जैन समाजके जो कतिपय व्यक्ति 'जैन हिन्दू नहीं हैं' की आवाज उठा रहे हैं उस ओर विशेष ध्यान न दिया जाय क्योंकि एक तो उनकी इस आवाजको पूरी जैन समाजका समर्थन प्राप्त नहीं है, दूसरे यदि समस्त जैन समाज भी हिन्दू समाजसे अपनेको पृथक् रखनेकी चेष्टा करनेको तैयार हो तो भी उसकी यह माँग अबतककी व्यावहारिक परम्पराके प्रतिकूल होनेसे उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय।

हम पूर्ण विश्वासके साथ आशा करते हैं कि सरकार जैन समाज और देशहितको ध्यानमें रखते हुए हमारे इस पत्रककी उपेक्षा नहीं करेगी।

निवेदक—

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, बनारस	वंशीधर व्यकरणाचार्य, बीना
अध्यक्ष	मन्त्री
सन्मार्ग प्रचारिणी समिति।	सन्मार्ग प्रचारिणी समिति।

निर्मल मानवता ही संस्कृति है

[महात्मा भगवानदीन जी के 'संस्कृति' लेखका कुछ अंश]

"...संस्कृतिका आधार आदमी है। मानव समाज है। उसका आधार मन्दिर, महल, कपड़े-लत्ते, पोथी-पुस्तक नहीं है। ये मील के पत्थर हैं। इन्हें इतना ही समझनेसे काम चलेगा। इन्हें आखिरी मंजिल समझ बैठनेसे कुछ भी हाथ न आयेगा। क्या उस ऋषिकी बात याद नहीं है जिसने भूल से एक आम बागके मालिकसे पूछे बिना तोड़कर खा लिया था और जो आत्मामें चमक आनेके बाद सीधा राजाके पास पहुँचा था और अपने कियेकी सजा माँगी थी और अपना हाथ कटवाये बिना उसकी तसल्ली नहीं हुई थी। क्या यह कथा इस बातको नहीं बताती कि आत्मा माँजने पर मैला होता रहता है और उसे हमेशा माँजते रहना चाहिये और यह कि आत्माका माँजना ही संस्कृति नाम पाता है। किसी देशकी संस्कृति उस देशकी इमारतें या उस देशका साहित्य नहीं हुआ करती, पर उस देशके भले आदमी हुआ करते हैं जो उस देशमें आये यात्रियोंके मनपर ऐसा असर छोड़ देते हैं जिसे वे कभी नहीं मिटा पाते, और इसी तरह संस्कृति एक देशसे दूसरेमें फैलती रहती है।

अपनेको वशमें करना—मानव संस्कृति

विकासवाद बताता है कि कीड़ा ही विकसते-विकसते आदमी बन गया। विकासवादकी गहराईमें न भी जायँ और सिर्फ एक आदमीके ही उसके गर्भके पहले दिनसे उसके मरने तकके इतिहास पर नजर डाला जाय तो हमें पता चलेगा कि आदमी सचमुच कीड़ेसे विकास कर आदमी बना है। गर्भके पहले दिन तो वह कीड़ा ही नहीं, बल्कि इतना छोटा जर्म होता है कि आदमीकी आँख उसे नहीं देख सकती। माँके पेटके अन्दर वह कीड़ेसे भी गई बीती हालतमें रहता है। इसे भी जाने दीजिये। पैदा होनेके बाद भी वह कीड़ेसे क्या ज्यादा होता है। पशु-पक्षियोंके बच्चे आदमीके बच्चेसे जल्दी बड़े और समझदार होते हैं और अपना स्वाधीन जीवन शुरू कर देते हैं। यह ठीक है कि वे एक सीमाके अन्दर ही तरक्की कर पाते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ पाते। इसीलिए वे कई बातोंमें आदमीसे ज्यादा संस्कृत होते हुए भी संस्कृत नहीं माने जाते। स्वामी-भक्तिमें आदमी कुत्तेका क्या मुकाबला कर सकता है? इसी तरह घोड़ेका आदमी क्या जोड़ है? पर कुत्ता-संस्कृति और घोड़ा-संस्कृति नामकी संस्कृतियाँ सुननेमें नहीं आतीं। मनुष्यमें सब जानवरोंसे और कुत्तों और घोड़ोंसे भी बढ़कर एक खासियत है। वह यह कि अपने साथियोंका ही

नहीं, पशु पक्षियों तकका सुख दुःख जान और समझ सकता है। उनका सुख-दुःख देख कर उसके मनके भावोंमें लहरें उठने लगती हैं। उसका उसके मस्तक पर असर होता है जो मस्तक उसको दूसरोंके सुख दुःखमें शरीक होने का हुक्म देता है और वह उसके हुक्मपर थोड़ा बहुत अमल भी करता है। यह हुक्म असलमें मस्तकका नहीं होता, अन्तरात्माका होता है। मस्तक तो अन्तरात्माके हाथका औजार है। अब अन्तरात्मा जितना संस्कृत यानी मँजा हुआ होगा उतना ही मनोभावों और मस्तकके विचारोंमें मेल बिठा सकेगा। बस इसी मन-मस्तकके मेल मिलानेका नाम मानव-संस्कृति है। और यह देश और धर्मके नामसे या वंश और नस्लके नामसे किसी तरह अलग नहीं की जा सकती। आत्माकी मँजाई जब इस हद तक पहुँच जाती है कि वह अपने आत्मा और दूसरोंमें रहनेवाले आत्मामें कोई भेद ही नहीं कर पाता तब उससे दुनिया की चीजोंसे और अपने तनसे बेजा मोह-ममता दूर हो जाती है और उसका रहन-सहन कुछ इस ढंगका हो जाता है कि लोग उसे देवता कहकर पुकारने लगते हैं। अब वह अपनी जरूरतके मुताबिक खाता-पीता-पहनता है और अपनी शक्तिके अनुसार काम करता है। इस तरहसे आदमीको लोग साधु कहने लगते हैं। अब दुनियाकी कोई चीज उसकी नहीं रह जाती। यानी वह सब चीजोंको सबकी समझता है। ऐसा ही आदमी मानव संस्कृति का निशान बन जाता है। ऐसा आदमी चाहे कभी रहा न हो, पर आदमी किसी-न किसी वक्त कभी न-कभी अपने जीवनमें थोड़ी देरके लिए इस अवस्थाको पहुँचता जरूर है और उस उतनी देरका इतना गहरा असर उसके मनपर रह जाता है कि वह उसे उमर भर नहीं भूलता। संस्कृत आत्माको अपने किये हुए कामों पर बहुत कम पछताना पड़ता है या बिलकुल नहीं पछताना पड़ता। उसे तो उन भलाईके कामोंकी याद भी नहीं रहती जो उसने दूसरोंके साथ किये होते हैं। भलाई करना उसका स्वभाव बन जाता है और वह स्वभाव स्वयं आत्मानन्दमें बदलता रहता है। इसलिए उसे भले कामोंकी याद आनन्दका कारण नहीं होती बल्कि आत्माका वह हल्कापन आनन्दका कारण होता है जो उसने ममता और खुदी छोड़कर सहजमें ही पा लिया होता है। यही है मानव-संस्कृतिका निचोड़। यह आदर्श जरूर है, पर पहुँचना वहीं है। वहाँ पहुँचकर संसारके महल-मकान, कल कारखाने, पोथी-पुस्तक, शाल-दुशाले, सोना-चाँदी आडम्बर बन जायँगे। आदमी जितना-जितना इस बाहरी आडम्बरमें रस लेता है उतना ही वह आत्माको मैला करता है और उतना ही वह असंस्कृत है।...

निर्मल मानवता ही संस्कृति

संस्कृति निर्मल मानवताके सिवाय और हो ही क्या सकता है? इन्सा-

नियतके बिना इन्सानको संस्कृत कहना भेड़ियेको इन्सान कह डालने जैसा है। मानव धर्ममें रँगे मानवके काम ऐसे हो ही नहीं सकते जिनपर कोई किसी दृष्टिसे उँगली उठा सके। जिस इतिहासमें राजाओंकी लड़ाइयोंका ही वर्णन हो वह इतिहास मानवकी मानवताका इतिहास नहीं है। वह तो उस वक्तका इतिहास है जिस वक्त मानवता भूलकर अपने अन्दरके परमात्माको इतना भूल जाता है कि उसे यह याद ही नहीं रह जाता कि वह अपनी धुनमें जो काम किये जा रहा है वह पशुतासे अगर गिरा हुआ नहीं है तो बराबरका जरूर है। आदमीको शेरके नामसे पुकारने लगना क्या किसी संस्कृत आदमी-की सूझ हो सकती है? बुराईका बदला भलाईसे देनेकी बात पशुको सूझ नहीं सकती, और यही तो मानव-संस्कृति है। कुत्ते और घोड़े मार खाकर भी प्यारसे चाटते हैं। पर मालिकको ही चाटते हैं। इस बुराईके बदले भलाईकी जड़में दासता और भय है, पर आदमी घरमें आये चोरको माल उठवा देता है और घरमें आये डाकूके सामने निडर होकर अपनी गरदन झुका देता है। इसकी जड़में आत्मविश्वास और परमात्म विश्वास रहता है। तभी तो चोर एक क्षणमें शाह बन जाता है और डाकू साधु बन जाता है। असलमें संस्कृति भूतलपर स्वर्गकी रचना कर देनेका दूसरा नाम है। स्वर्ग तो कल्पनाकी चीज है। संस्कृत मानवका बनाया हुआ स्वर्ग उस कल्पनाके स्वर्गसे कई गुना बढ़िया होगा। मगर होगा तभी जब दुनियाके बाहरी आडम्बरोंको हमारे विद्वान् संस्कृतिके नामसे पुकारना छोड़ देंगे।...

मानव संस्कृतिमें उन्हीं कामोंको लेते हैं जो माँजे हुए आत्मा अपनी उम्रके ज्यादा दिनों करते रहे हैं और आज भी अनेकों आत्मा खास-खास अवसरोंपर चमक कर करती रहती हैं। देश और धर्मके नामसे संस्कृतिको पुकारनेवाले खुद ही संस्कृतिके नामपर उन कामोंको ज्यादा गिनाते हैं जो संस्कृतिके असंस्कृत पुजारियोंने संस्कृतिके नामपर कर डाले हैं। सीधे संस्कृतिके काम भी इधर उधर ढूँढ़नेसे मिल सकते हैं, पर उनकी गिनती उस आडम्बरके ढेरमें इतनी कम रह जाती है कि पढ़ने, समझनेवालेको उसकी याद ही नहीं रहती। काव्यका अत्युक्ति अलंकार जितनी जल्दी लोगोंकी जीभपर चढ़ता है उतनी काव्यके भीतर रहनेवाली सत्य और अहिंसाकी कीर्ति पढ़नेवालोंके मनपर असर नहीं कर पाती। इसीलिए देश धर्मवाली संस्कृतिकी कथाएँ आत्माको माँजने की जगह उसको मैला करनेका काम ही करती रहती हैं। संस्कृतिको देश या धर्मके नामसे पुकारना बेहद बुरी चीज है। इसे जल्दीसे जल्दी छोड़ना चाहिए।"

'जैनजगत्' मार्च ५०

सम्पादकीय

महावीर जन्म दिन–

२५७८ वर्ष पूर्व आजके ही दिन भगवान् महावीरने वैशालीके कुण्डग्राममें जन्म लिया था। श्रमण परम्परामें यद्यपि सीधा जन्मका कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि यहाँ कोई सर्वशक्तिमान् अनादिसिद्ध प्रभु अवतार नहीं लेता; किन्तु साधारण आत्मा ही अपनी साधनाके द्वारा अन्तरात्मा बनकर अन्तमें स्वरूपस्थित सिद्धात्मा या परमात्मा बन जाता है। इस परम्परामें उसकी वीतरागता, समभावपरिणति, प्राणिमात्रमैत्री, अपरिग्रह, तत्त्वज्ञान और अनेकान्तदृष्टिका महत्त्व है। इन्हींके कारण वह तीर्थंकर शास्ता बनता है। कुल, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदिके संकुचित बाड़ोंसे तीर्थंकरत्वकी कोई विशेषता नहीं। उसका मर्म तो–

> 'श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव-
> स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणान् अतिचकितमिमान् उद्धरेय वराकान् ॥'

अर्थात् त्रिविध दुःखकी दावाग्निसे चारों ओर जलनेवाले इस संसार रूपी महाभयानक वनमें श्रेयोमार्ग–आत्मस्वरूपको न समझनेके कारण अत्यन्त चकित होकर इतस्ततः भटकनेवाले विचारे इन प्राणियोंको आत्मस्वरूप समझा कर उद्धार करूँगा' इस विश्वहितैषिताकी सर्वोदयी भावनामें समाया हुआ है।

यही कारण है कि महाश्रमण वर्धमान ने बाल्यकाल या जवानीमें क्या किया इसका विस्तृत विवरण शास्त्रोंमें नहीं मिलता। हाँ जबसे उनने समता–अहिंसा की साधनारूप सामायिकका व्रत स्वीकार किया तबसे उनके इहलौकीय जीवनका एक एक क्षण हमारे लिए आदर्श है।

अँगूठेसे मेरुकम्पन हुआ, चण्डकौशिक सर्पको वशमें किया, तथा इन्द्र आकर उनकी सेवा करता था आदि अतिशयोंसे उनके परमात्मत्वकी पहिचान नहीं होती। परमात्मत्वकी पहचान तो जो उन्होंने धार्मिक साम्राज्यके उस भीषण युगमें धर्मका प्रत्येक द्वार प्राणिमात्रको जाति, वर्ण, कुल, सम्प्रदाय आदिका कोई बन्धन नहीं मानकर खोला था; उन तिरस्कृत, निर्दलित, शोषित, पीड़ित, बिलबिलाते मानवोंको गले लगाया था; यज्ञबलिका विरोध करके अहिंसाकी भावना जगाई थी और बुद्धिके पंखोंपर आसन जमानेवाली पुस्तककी

गुलामीको उखाड़कर उसे स्वतः विचरनेका उन्मुक्त मार्ग प्रशस्त किया था उससे होती है।

उन्होंने धर्मके पुनीत क्षेत्रकी ठेकेदारीको समाप्तकर प्रत्येक प्राणीको अपना हित अहित समझनेकी स्वावलम्बी प्रवृत्ति उत्पन्न की थी और वर्णविशेषकी संस्कृत भाषाके कृत्रिम बन्धनों से धर्मको मुक्तकर लोकभाषाके द्वारा वे जन-जन तक स्वयं पहुँचे थे। विहार, वर्धमान, वीरभूमि, नाथनगर जैसे उनके नामांकित क्षेत्र आज भी उनकी गुणगरिमाको पुकार-पुकार कर कह रहे हैं।

इस तरह पुराने बन्धनोंको तोड़कर अपने श्रम और अपनी साधनासे जीवनमें पूर्ण शम और समत्वको प्राप्त कर वे केवली (केवल–अकेला, परम स्वावलम्बी) बने। तीस वर्षतक उनने अहिंसा समता स्वतन्त्रता और शान्तिका उद्बोधन किया।

उनकी इस परमात्मदशाकी प्राप्तिके बाद उनके जन्मदिन उपदेशदिन और निर्वाणदिनकी भी महत्ता प्रस्थापित हुई।

स्वतन्त्र भारतमें आज उस महा-श्रमणकी पुण्य जयन्ती मनाई जा रही है जिसके अहिंसा विश्वमैत्री और मानवसमत्वके आधारपर भारतका वह नवविधान बना, जिसमें जाति, धर्म, लिंग, कुल आदिके आधारसे हथियाए गये संरक्षण समाप्त हो गए और मानव केवल मानव रहा। जनभाषा हिन्दीको राष्ट्रभाषा का पद मिला। वर्णव्यवस्था का निकृष्टतम घृणितरूप अस्पृश्यता दफना दी गई और विश्वके प्रत्येक मानवकी स्वतन्त्रताका पुण्यनाद किया गया।

हमारी भावना है कि उनका सर्वोदय तीर्थ अपने वास्तविक रूपमें हमारे जीवनमें आवे और उनके धर्मबीजको हम अपने मानसमें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित करें।

हमारा इस अवसरपर भारत सरकारसे अनुरोध है कि वह अहिंसाके इस परम साधकके जन्मदिनकी सार्वजनिक छुट्टी घोषित करके अहिंसक तत्त्वोंको प्रोत्साहित करे।

*

हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा—

'ज्ञानधारा' स्तम्भमें हम सन्मार्ग प्रचारिणी सभा बीनाका तथा पूज्य क्षुल्लक पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका पत्र छाप रहे हैं। यह पत्र प्रायः अनेक जैनपत्रों में भी प्रकाशित हो चुका है।। पू० वर्णीजी जैन समाजके सुपरिचित अध्यात्मवेत्ता सन्त हैं। उनकी विद्वत्ता, त्याग, सरलता और अहिंसकवृत्ति अन्यत्र दुर्लभ है। उनके ये वाक्य "जैसे मोक्षमार्ग तुम्हें इष्ट है इसी प्रकार प्राणिमात्रको

इष्ट है। अस्पृश्य भी तो प्राणी हैं, संज्ञी हैं, वे भी सदाचारी हो सकते हैं। पंच-लब्धिमें देशना लब्धि क्या हम जैनोंके वास्ते ही है? कहाँ तो कहना जैनधर्म सार्वजनिक है और कहाँ यह हठ! यदि शूद्र लोग मन्दिरमें आगए तब न जाने क्या होगा! कुछ न होगा! मन्दिरोंमें देशनाका प्रबन्ध करो और उन्हें समझाओ, धर्मका मर्म तो यह है" आशा है स्थितिपालक बन्धुओंको मूल जैन संस्कृतिका यथार्थ बोध कराएँगे और इससे वे जैनधर्मकी आत्माके दर्शन कर सकेंगे।

खेद है कि ऐसे समभावी संस्कृतिद्रष्टा सन्तपर कुछ स्थितिपालक भाई अनाप-शनाप आक्षेप करते हैं और उन्हें धर्मके स्वरूप समझनेकी सलाह भी देते हैं। हमारा उन भाइयोंसे कहना है कि वे जैन संस्कृति, जैन आगम और मूल जैन परम्पराकी आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करें और जैनधर्मके स्वरूप-पर आए हुए तमस्तोमको हटाकर प्रकाश पानेकी चेष्टा करें।

* *

'संजद' पदका बहिष्कार : सूत्रोच्छेदका दुष्प्रयत्न—

गजपन्थासे घोषणा हुई है कि ताम्रपत्रोंमें लिपिबद्ध किये गए जीवस्थान सत्प्ररूपणाके ९३ वें सूत्रमेंसे 'संजद' पद अलग किया जाता है। हेतु यह बतलाया गया है कि इस सूत्रमें 'संजद' पदके रहनेसे द्रव्यस्त्रीको मुक्तिका प्रसंग आता है जो कि दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध है। पत्रोंमें प्रकाशित हुई विज्ञप्तिसे ज्ञात होता है कि यह घोषणा पीछी कमण्डलुको आगे रखकर की गई है और इसमें माया सत्य खुलकर खेली है। जैन परम्परामें इन चिह्नोंका क्या महत्त्व है यह किसीसे छिपी हुई बात नहीं है। व्यवहारतः जो व्यक्ति इन चिन्होंको धारण करता है वही आदर्श मान किया जाता है। उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करना प्रत्येक जैनका कर्तव्य हो जाता है और इस कर्तव्य का तबतक निर्वाह करना पड़ता है जब तक कि उक्त व्यक्तिमें चारित्र और सम्यक्त्वको कलंकित करनेवाला व्यवहारतः कोई दोष नहीं दिखाई देता है।

यह तो प्रसन्नताकी बात है कि इस कालमें ऐसे व्यक्तियोंका सद्भाव है और यह भी चाहते हैं कि उनका सद्भाव सदा काल बना रहे, क्योंकि व्यक्तिकी मुक्तिका अन्तिम मार्ग वही है। किन्तु जब हम देखते हैं कि ये व्यक्ति जिस महान् उद्देश्यको लेकर इस मार्गके पथिक बनते हैं उस उद्देश्यकी पूर्ति न कर अपने पदके सर्वथा अयोग्य अनधिकार चेष्टा करने लगते हैं तब हमारा मस्तक लज्जावश झुक जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो इस विवादमें कोई सार नहीं है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि ताडपत्रीय प्रतिमें यह पाठ मौजूद है और दूसरा यह कि ९३ सूत्रमेंसे इस पदके निकाल देनेपर षट्खण्डागमके मूल सूत्रोंमें विसंगति

आ जाती है। संशोधनकी यह विशेषता मानी गई है कि प्राचीन पाठकी रक्षा की जाय। जब डा० हीरालाल जी सोलापुर गये थे तब उन्होंने यही सलाह दी थी। फिर भी इस तथ्यपूर्ण स्थितिकी ओर ध्यान न देकर कुछ भाइयोंने यह सूत्रोच्छेदक अविवेक पूर्ण घोषणा कराई है।

साधुके आदेश और उपदेशकी चर्चा जैन ग्रन्थोंमें की गई है। हर कोई हर किसीको आदेश नहीं दे सकता। आदेश चारित्रके विषयमें व्यक्तिगत कारणोंके उपस्थित होनेपर ही दिया जाता है। सो भी व्रती पुरुषोंके लिए ही। किन्तु हम देखते हैं कि यहाँ इस व्यवस्थाकी पूरी तरहसे अवहेलना की गई है।

यह सोचा जाता है कि आगम में द्रव्यस्त्री की योग्यता का विधायक सूत्र वचन होना चाहिये। इसी वृत्ति के परिणाम स्वरूप यह अंग भंग का कार्य किया गया है। जैसा कि षट्खण्डागम और उसकी धवला टीकाके सम्यक् अवलोकन से ज्ञात होता है कि आगममें मात्र भाव मार्गणाओं का ही विचार किया गया है। क्षुल्लक बन्धके मूल सूत्रोंमें १४ मार्गणाओंका विवेचन किया है। यदि इस आगममें आचार्यको द्रव्य मार्गणाओंका विवेचन करना इष्ट होता तो वे वहाँ मात्र भाव मार्गणाओंका ही विवेचन नहीं करते और न ही आचार्य वीरसेन स्वामी मार्गणाओंके स्वरूप निर्देशके प्रसंगसे यह भी कहते कि इस आगममें भावमार्गणाओंका ही ग्रहण किया गया है, द्रव्य मार्गणाओंका नहीं। एक बात यह भी कही जाती है कि जहाँ भी पर्याप्त शब्दके साथ मनुष्यणी शब्द आया है वहाँ द्रव्य स्त्रियोंका ही ग्रहण होता है किन्तु सत्प्ररूपणाके आलाप अधिकारमें पर्याप्त मनुष्यिनियोंके आलापोंका निर्देश करते समय उनके १४ ही गुणस्थान बतलाये हैं। यह बात तभी बन सकती है जब कि पर्याप्त शब्दके साथ मनुष्यनी पदसे भावस्त्रीका ही ग्रहण किया जाता है।

इन सब प्रमाणोंसे आगमकी स्थिति स्पष्ट होते हुए भी कुछ भाइयोंने यह अविवेकपूर्ण कार्य किया और कराया है। यह ऐसा कार्य है जो किसी भी तरह क्षमा करने योग्य नहीं कहा जा सकता। इससे केवली, श्रुत, संघ और धर्मका अवर्णवाद तो हुआ ही, साथ ही जैन परम्परा और भारतीय परम्पराकी श्रुत प्रतिष्ठाको भीषण धक्का लगा है। और दुराग्रह तथा हठवादके काले इतिहासमें 'दिगम्बर परम्परा' को नाम लिखानेका कुप्रसंग उपस्थित हुआ है। ताडपत्र या ताम्रपत्रका पुद्गल किसी व्यक्ति या व्यक्तियोंके अधिकारकी वस्तु हो सकते हैं पर उसमें लिखा गया श्रुत और धर्म तो उन लोकोत्तर महापुरुषोंकी साधनाका श्रेयमार्ग प्रदर्शक फल है जिससे मार्ग दर्शन पानेका प्राणीमात्रको अधिकार है।

हम यह जानते हैं कि जिन भाइयों ने यह दुःसाहस का काम किया है वे अपनी भूलको कभी भी स्वीकार करनेवाले नहीं हैं। अतः इस सूत्रोच्छेदसे हुए

अपराधके परिमार्जन करनेका एक मार्ग यह हो सकता है कि १०–१५ ऐसे ताम्र-पत्र तैयार किये जायँ जिनमें ताडपत्रके आधारसे ९३वाँ सूत्र अंकित रहे और इन भाइयोंकी काली करतूतको प्रकट करनेवाला इतिहास भी लिपिबद्ध रहे। इससे भविष्यमें जब भी इस विषयकी गवेषणा होगी तब यह कार्य कुछ व्यक्तियोंकी करनी तक ही सीमित रह जायगा। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने गोम्मटसारमें यह गाथा तो उन व्यक्तियोंको लिखी है जो समझाने पर भी दुराग्रहवश सम्यक्-अर्थको नहीं मानना चाहते–

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥

अर्थात् सूत्रसे सम्यक् अर्थ दिखानेपर भी जो श्रद्धान नहीं करता वह व्यक्ति तभीसे मिथ्यादृष्टि है।

पर जिनने इससे भी आगे बढ़कर सूत्रोच्छेदका दुष्कृत्य किया है उन्हें मिथ्यादृष्टि और निह्नवी कहना भी कम है।

सन्तोषकी बात इतनी ही रही कि, इस सूत्रोच्छेदक जमातमें भी पं० खूब-चन्द्रजी शास्त्रीने दृढ़तासे इस जघन्य कृत्यका विरोध किया और त्यागपत्र देकर अपने सम्यक्त्वकी रक्षा तो की ही साथही समाजकी प्रतिष्ठाको भी बचाया।

* * *

विश्वविद्यालयोंमें जैन दर्शनका पाठ्यक्रम–

गतमाह 'विश्वविद्यालय बोर्ड जयन्ती'के अवसरपर उपस्थित भारत बर्मा और सीलोनके सभी कुलपतियोंकी सेवामें 'जैन दर्शन एवं पुरातत्त्व'को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रममें स्थान देनेके लिए एक स्मृतिपत्र दिया गया था। निवेदन कर्ता-ओंमें भारतजैन महामण्डल, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, जैन संस्कृति संशोधनमण्डल, भारतीयज्ञानपीठ, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, स्याद्वाद विद्यालय, सन्मति जैन निकेतन आदि स्थानीय संस्थाओंके साथ ही साथ विश्वविद्यालयके संस्कृति विभागके अध्यक्ष डॉ० पी० एल० वैद्य, दर्शनविभागके अध्यक्ष डॉ० बी० एल० आत्रेय, इतिहास विभागके प्रो० डॉ० राजबली पाण्डेय आदि थे। इसके संयोजक श्री इन्द्रचन्द्रजी एम० ए० वेदान्ताचार्य थे। स्मृतिपत्रका क्या फल होगा यह तो अभी भविष्यके गर्भ में हैं। पर अखण्ड भारतीय संस्कृतिके उपासकोंका कर्तव्य है कि वे इस आवाजको बुलन्द करें और जगह जगह प्रस्ताव पास करके सम्बन्धित अधिकारियोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट करें। अभी भारतीय पुरा-तत्त्व विद्यालय काशी विश्वविद्यालयके अध्यक्ष श्री डॉ० मजूमदारसे भी डेपुटेशन मिला था। उनने भी आश्वासन दिया है।

प्रस्तावका रूप यह हो सकता है—

"भारतीय संस्कृति एवं साहित्यमें जैन संस्कृति एवं साहित्यका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसमें जैन आचार्योंके प्रामाणिक एवं उच्चकोटिके ग्रन्थ न हों। स्थापत्य एवं मूर्तिकलामें तो जैन स्थापत्यका बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशामें विश्वविद्यालयोंमें जैनदर्शन और पुरातत्त्वकी उपेक्षा होना अनुचित है। इसलिए यह सभा भारतकी जनतन्त्र सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा विश्वविद्यालयोंसे निवेदन करती है कि विश्वविद्यालयोंके पाठ्य-क्रममें जैनदर्शन एवं पुरातत्त्वको भी उचित स्थान दिया जाय।"

* * * *

खेदजनक भूल—

'सेवाग्राम शान्ति सम्मेलन' लेख (विश्वशान्ति अंक पृष्ठ ६०४) में श्रीमती काशीबेनको स्व० श्री मगनलालभाईकी पत्नी लिख दिया गया है जब कि काशी-बेन श्री छगनलाल भाईकी पत्नी हैं। श्रीछगनलाल भाई जीवित हैं और वे आश्रमके कार्यकर्त्ता हैं। ज्ञानोदय परिवार को इस भूलसे बहुत खेद है। बहिन चिरसौभाग्यवती हों।

पृष्ठ ५८५ पर पाकिस्तानी प्रतिनिधियोंके नाम जितेन्द्रनाथ कुसेरी और के. एम. हसन पढ़ना चाहिए।

विश्व शान्ति अंक

मनीषियों की दृष्टि में

श्री किशोरलाल घ. मशरूवाला सम्पादक 'हरिजन सेवक'–

'सम्पादन अच्छा हुआ है।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त–

'विश्वशांति अंक बहुत सुन्दर हुआ है। प्रारम्भ में जो वाक्य दिये गये हैं वे अमूल्य हैं।

कविवर सुमित्रानन्दन जी पन्त–

'ज्ञानोदय का क्षेत्र जैसे जैसे युगीन तथा व्यापक होता जायगा उससे हिंदी जगत को अवश्य सांस्कृतिक प्रेरणा मिलेगी। पत्र सुरुचिपूर्ण है।'

महापंडित राहुल सांकृत्यायन–

'बहुत सुन्दर पाठ्य-सामग्री एकत्रित की गई है।'

डॉ० अमरनाथ झा, अध्यक्ष जन सेवा आयोग, अलाहाबाद–

'इसमें सभी लेख पठनीय हैं और कुछ महत्त्व के हैं।'

श्री सम्पूर्णानन्द जी, शिक्षा सचिव उत्तर प्रदेश–

ज्ञानपीठ के अन्य प्रकाशनों की भाँति यह अंक सुन्दर और शिक्षाप्रद है। मुझे पसन्द आया।'

श्रीप्रकाश जी, राज्यपाल आसाम–

'लेखों का बड़ा सुन्दर संग्रह है। संघर्ष के युग में ऐसी पत्रिकाएँ हृदय को शांति देती हैं।'

श्री सिद्धराज ढड्ढा, मन्त्री राजस्थान–

'ज्ञानोदय का विश्वशान्ति अंक मिला। प्रयत्न सराहनीय मालूम होता है।'

श्री भूरेलाल बया, मन्त्री राजस्थान जयपुर–

'अंक बहुत ही उच्चकोटि का है और वास्तविक ज्ञान का, जिसकी कि आज दुनिया को जरूरत है, द्योतक है।'

श्री मोरार जी देसाई, गृहमंत्री, बम्बई–

'अंक में जो सामग्री परोसी गई है उसका बहुत महत्त्व है।'

श्री श्यामलाल जी, मंत्री लोक सेवक संघ वरधा–

'ज्ञानोदय का विश्वशान्ति अंक पाकर बड़ी शान्ति मिली।'

श्री पं० सुखलाल जी संघवी अहमदाबाद—

'अंक जितना दलदार है, विचार संग्रह भी उतना ही अच्छा है। ज्ञानोदय की व्यापकता बढती जाती है इससे प्रसन्नता है।'

श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी बम्बई—

'अंक मुझे बहुत पसन्द आया है और आप लोगों का उद्योग सब तरह से सराहनीय है। जैन समाज में यह बिल्कुल नया प्रयत्न है।'

श्री यशपाल जी, सम्पादक 'जीवन साहित्य'—

'ज्ञानोदय का विश्वशान्ति अंक बहुत अच्छा निकला है। उसकी सामग्री उपादेय और स्थाई महत्व की है।'

श्री पं० बेचरदास दोशी, अहमदाबाद—

'ज्ञानोदय का शांति अंक बहुत प्रशंसनीय निकला है, पढकर बहुत खुशी हुई।'

श्री चिमनलाल गोस्वामी, सम्पादक 'कल्याण'—

''इसके सभी लेख अधिकारी विद्वानों के लिखे हुए हैं। इनके द्वारा मन पर सात्विक प्रभाव पड़ता है और ये कलह दूर करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं।''

श्री बैजनाथ महोदय, इन्दौर—

'ज्ञानोदय जैसे मासिक हिंदी के लिए गौरव की वस्तु हैं। विश्वशांति अंक की सारी सामग्री बहुत अच्छी है।'

श्री मोहनलाल गोयनका बांकुरा—

'आप लोगों का प्रयत्न बहुत ही सुन्दर है। ऐसी चीजों के लिए भारत की आत्मा तरसती है।'

कवि पोद्दार रामावतार अरुण—

'आप की अखण्ड साधना का स्निग्ध प्रकाश इस विशेषांक पर पूर्ण रूप से पड़ा है।'

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन—

'भाषा की सरलता, भाव की तरलता और विचार की गहनता के कारण यह विशेषांक सर्वथा संग्रहणीय है।'

श्री रघुवीरशरण दिवाकर, जिला सूचनाधिकारी बिजनौर—

'ज्ञानोदय का हर एक अंक अच्छा होता है और मेरी चुनी हुई स्वाध्याय सामग्री का वह अंग बन जाता है, पर विशेष रूपसे यह अंक सुन्दर व पठनीय है।'

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक
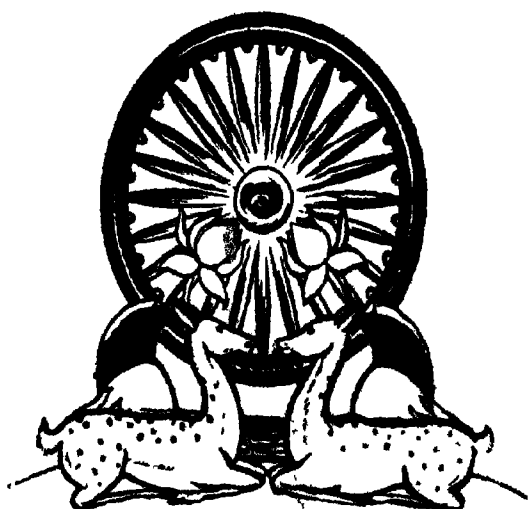
भारतीय ज्ञानपीठ काश

मई १९५० [११] वीर नि० २४७६

सम्पादक—

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

*

वार्षिक ६)   *   एक प्रति ॥=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, मई १९५० * अंक ११

सवेरे का सुमिरन

हे मन राम, आज तुम ठीक उस वक्त उठे हो जब हर ऐसे आदमी को उठना चाहिए जो रोगी नहीं है।

तुम मुर्गे की बाँग के साथ उठे हो, चिड़ियों की चहचहाहट के साथ उठे हो, पर न मुर्गे की बाँग ने तुम्हें उठाया है और न चिड़ियों की चहचहाहट ने।

मुर्गे और चिड़ियोंको जैसे कोई नहीं उठाता, वे अपने आप उठते हैं वैसे ही किसीको तुम्हें नहीं उठाना पड़ता, तुम आप ही वक्तसे उठ बैठते हो।

हे मन राम, तुम राम हो पर न तुम्हें तुलसीदासजी को प्रभाती गानेके लिए तकलीफ देनी पड़ती है और न कौशल्याजीको सुहलाकर जगाने की।

तुम कौशल्यासे जन्मे हो और तुम्हारी कौशल्या आज भी जीती जागती है, और जब तक तुम हो वह जीती जागती रहेगी। हाँ, तुम्हारी कौशल्याको मैं और सब अन्तरात्मा नामसे पुकारते हैं।

वह तुम्हारी कौशल्या कुछ इस तरह तुम्हें जगाती है कि न मुझे पता लग पाता है और न किसी और को।

अगर मैं यह कहूँ कि तुम जागते ही ईश्वरको याद करते हो तो तुम्हारे साथ यह कुछ ज्यादती होगी, तुम्हारा सोना और जागना अपने ढंगका न्यारा है। तन जैसा नहीं। तुम्हारा सोना यानी ईश्वरकी (शुद्ध आत्मा की) गोदमें बैठ जाना और इस दुनियाको भूल जाना और ऐसे-ऐसे तमाशे देखना जो ईश्वरकी गोदमें बैठकर ही देखे जा सकते हैं।

तुम्हारा जागना यानी ईश्वरकी गोदसे उतरकर उसके सामने बैठ जाना और

इस जीती जागती कहलानेवाली दुनियामें आ जाना इसलिए यह मैं कैसे कहूँ कि तुम जागते ही ईश्वरको याद करते हो ? तुम्हारे लिए यह बात बनती नहीं, तुम या तो ईश्वरकी गोदमें रहते हो या उसकी आँखोंके सामने रहते हो। फिर जब उसे भूलते ही नहीं तब याद करनेकी बात कैसी ?

तुम्हें ईश्वरसे अन्तरात्मा जैसी ज्योतिमान्, सत्यकी मूर्ति और अजर-अमर माँ मिली हुई है। फिर तुम ईश्वर से यह क्यों कहने लगे-

'मुझे अन्धेरेसे प्रकाशमें ले चलिये।'

'मुझे खोटे रास्तेसे सच्चे रास्तेपर लाइये।'

'मुझे मौतके मुँहसे निकालकर अमर बनाइये।'

ईश्वरने तुम्हारी सेवाके लिए पाँच इन्द्रियाँ दे रक्खी हैं। वे तुम्हारी दासी हैं। तुम उनसे सुन सकते हो, देख सकते हो, चख सकते हो, सूँघ सकते हो और छू सकते हो, और इन सबकी मददसे विचार सकते हो और बोल सकते हो, तब तुम यह भी क्यों कहने लगे—'हे ईश्वर, तू मुझे सद्बुद्धि दे।'

क्योंकि वह तो तुम्हें पहलेसे ही मिली हुई है और अपनी माँके यानी अन्तरात्माके आज्ञाकारी होनेसे और ईश्वरके हरदम पास रहनेसे वह बुद्धि तुम्हें एक पलके लिए भी छोड़कर नहीं जाती।

ईश्वरसे तुम्हें दो हाथ, दो पाँव और साथ ही बल और हिम्मत मिली हुई है। फिर तुम ईश्वरसे यह भी क्यों कहने लगे-

'हे ईश्वर, तू मुझे भूख मिटानेके लिए रोटी दे, तन ढकनेके लिए कपड़ा दे और सर्दी-गर्मीसे बचनेके लिए झोपड़ी दे।'

हे मन राम, मैं खूब जानता हूँ कि तुम अपनी माँ अन्तरात्मा और परम पिता ईश्वरकी हाजिरीमें दिन भर लगे रहकर भी न थकते हो, न घबराते हो, इतना ही नहीं, तुम्हारे चेहरेपर वह हँसी छाई रहती है जिसे देखकर काममें लगे दूसरे और अपने कामके दुःखको भूल जाते हैं।

मैं तुमसे कुछ नहीं कहता, मैं तो तुम्हें देख देखकर ललचाता हूँ और लो, अब मैं छुट्टी लेता हूँ, तुम अपनी माँ और परमपिताके साथ काममें लगो और हँसते मुस्काते दिखाई दो।

—भगवानदीन

दान और त्याग

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, घर, धन, दौलत आदि सब मुझसे भिन्न हैं, तत्त्वतः मैं इनका स्वामी भी नहीं हूँ। यह सब नदी नावका संयोग है। न तो कोई साथमें आया है और न कोई साथमें जायगा। ये या इसी प्रकारके विचार सुननेको तो बहुत मिलते हैं। इसी प्रकार अपने पुत्रादिकके लिए सर्वस्वका त्याग करते हुए भी प्राणी देखे जाते हैं पर ऐसे प्राणी विरले हैं जो इनमें मोह-को संसारका कारण जानकर त्याग करनेकी इच्छासे ऐसा उद्यम करते हैं जिससे इनका उपयोग मोक्षमार्गके निमित्त त्याग रूप से किया जा सके। सच पूछा जाय तो धर्म जीवनके समग्र सद्गुणोंका मूल है। गृहस्थ अपने जीवनमें जितने ही अच्छे ढंगसे इसका उपयोग करता है मानवमात्रमें सदाचारकी उतनी ही वृद्धि होती है। यद्यपि इससे आत्मीक गुणोंका विकास तो होता ही है पर धर्म मर्यादाको बनाए रखना भी इसका फल है। गृहस्थ न्यायपूर्वक अपनी आवश्यकतानुसार जो कुछ कमाता है उसमें-से सद्गुणोंकी प्रवृत्ति चालू रखनेके लिए कुछ हिस्सा खर्च करना दान है, इससे दान देनेवाले और दान लेनेवाले दोनोंका हितसाधन होता है। दान देनेवालेका हितसाधन तो यह है कि इससे उसकी लोभवृत्ति कम होती है और आत्मा त्यागकी ओर झुकता है तथा दान लेनेवालेका हितसाधन यह है कि इससे जीवनयात्रामें मदद मिलती है जिससे वह भले प्रकार आत्म-कल्याण कर सकता है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा हितसाधन मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिको चालू रखना है। यह वर्तमान व्यवस्थाके रहते हुए दानके बिना सम्भव नहीं है इसलिए जीवनमें दानका बड़ा महत्त्व है।

अनुग्रह शब्द उपकारवाची है और स्वशब्द धनवाची है। शरीरके रहते हुए उसके भरण पोषणके लिए बाह्य पदार्थोंका सहयोग लेना आवश्यक है। बिना आहार पानीके चिरकालतक वह स्थिर नहीं रह सकता इसलिए जो स्वावलम्बी जीवन यापन करनेका निर्णय करते हैं, भोजन पानकी आवश्यकता तो उनको भी पड़ती है। उसके बिना उसके शरीरका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे जीवनमें दानका सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। दान केवल परकी उपकार

बुद्धिसे नहीं दिया जाता है। इसमें स्वोपकारका भाव मुख्य रहता है। ऐसे बहुत कम मनुष्य हैं जो न्यायकी मर्यादाको जानते हों। न्यायका अर्थ केवल कानूनका उल्लंघन नहीं करना या तत्काल चालू रूढ़िको पालना नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ है आवश्यकतासे अधिकका संचय नहीं करना। जो लौकिक सभी प्रकारकी मर्यादाओंका यथावत् पालन करता हुआ भी आवश्यकतासे अधिकका संचय करता है उसकी वृत्ति न्याय नहीं कही जा सकती, धन कुछ स्वयं आकर नहीं चिपकता जिससे उसे पुण्यका फल कहा जाय। वह तो विविध मार्गोंसे प्राप्त किया जाता है। अतः धनके संचय करनेमें लोभकी अधिकता ही मुख्य कारण है और लोभ जीवनका सबसे बड़ा शत्रु है। इस लिए जो संचित धनका त्याग करता है, वह वास्तवमें लोभका ही त्याग करता है। यही कारण है कि दानको परोपकारके समान स्वोपकारका मुख्य साधन माना है।

वर्तमान समयमें जो दान देते हैं वे ऐसा मानते हैं कि हमने बहुत बड़ा काम किया है। पर इसका महत्त्व तब है जब देनेवालेके मनमें अहंकार न हो। अहं बुद्धिके हो जानेपर देनेपर भी दानका फल नहीं मिलता। तथ्य यह है कि देनेवाला कुछ देता ही नहीं, क्योंकि जो पर है उसमें वस्तुतः वह दान व्यवहार करनेका अधिकारी ही नहीं और जो स्व है उसका वह कभी भी त्याग नहीं कर सकता। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो अपना कुछ छोड़ता हो और दूसरेका कुछ लेता हो। फिर भी दानादान व्यवहार तो होता ही है सो इसका कारण केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। यह हो सकता है कि यह सम्बन्ध जिस रूपमें आज है कल न भी रहे।

यह तो हम प्रत्यक्षसे ही देखते हैं कि बहुतसे देशोंने वर्तमान कालीन आर्थिक व्यवस्थाका सर्वथा ध्वंस कर दिया है और वे इस बातपर तुले हुए हैं कि समूचे विश्वमें यह आर्थिक व्यवस्था नहीं रहने दी जायगी। भविष्यमें क्या होगा यह तो विश्वासपूर्वक कह सकना कठिन है, पर इतना निश्चित है कि मुट्ठी भर लोगोंको छोड़कर अधिकतर लोग पुरानी आर्थिक व्यवस्थासे ऊब गये हैं, वे इसमें परिवर्तन चाहते हैं।

देखना यह है कि आखिरकार ऐसा क्यों हो रहा है? बहुत कुछ विचारके बाद हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि यह सब मनुष्योंकी वैयक्तिक कमजोरीका ही फल है। जहाँ सहयोग प्रणालीके आधारपर प्रत्येक मनुष्यको व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता मिली वहाँ वह अपने लोभका संवरण नहीं कर सका। उसे इसका भान न रहा कि जीवनमें अर्थकी आवश्यकता जिस प्रकार मुझे है उसी प्रकार दूसरेको भी है। मुझे उतना ही संचय करनेका अधिकार है

जिननेकी कि मुझे आवश्यकता है। इससे अधिकका संचय करना पाप है। जीवनमें इस वृत्तिके जीवित रहनेके कारण ही आर्थिक दृष्टिसे समाजवादी मनोवृत्तिको जन्म मिला है और अब तो यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें घर करती जा रही है। जो साधनहीन हैं वे तो पुरानी आर्थिक व्यवस्थामें आये हुए दोषको समझ ही रहे हैं किन्तु जो साधनसम्पन्न हैं वे भी उसके इस दोषको समझ रहे हैं। फिर भी वे अपनी नियतमें संशोधन करनेके लिए तैयार नहीं हैं यही तो आश्चर्यकी बात है। आगे जो होनेवाला होगा सो तो होगा ही। उसे कोई रोक नहीं सकता, पर तत्काल केवल इस बातपर विचार करना है कि मनुष्यका जीवन केवल अर्थप्रधान बन जानेपर अध्यात्म जीवनकी रक्षा कैसे की जा सकेगी? पूर्वकालीन ऋषियोंने अपने अनुभवके आधारपर यह उपदेश दिया था कि-'जीवनमें यह मानकर चलना चाहिए कि अपने आत्माके सिवा अन्य सब पदार्थ पर हैं। इसलिए उनसे मोह छोड़कर जिससे जीवनमें पूर्ण स्वावलम्बनकी वृत्ति जागृत हो ऐसे मार्गपर स्वयं चलना चाहिए और दूसरोंको भी इसी मार्गसे ले जानेका प्रयत्न करना चाहिए। जीवनमें पूर्ण स्वावलम्बिनी वृत्तिका आना ही मोक्ष है और इसे प्राप्त करनेका मार्ग ही मोक्षमार्ग है।

साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि यद्यपि सब मनुष्योंके जीवनमें इस वृत्तिका जागृत होना कठिन है। इसलिए जो मनुष्य पूर्ण रूपसे इस वृत्तिको अपने जीवनमें नहीं उतार सकते हैं उन्हें इतना अवश्य करना चाहिए कि वे एक तो आवश्यकतासे अधिकका संचय न करें। दूसरे अपनी आवश्यकताके अनुसार संचित किए गए द्रव्यमें से भी वे कुछका त्याग करें और इस तरह अपनी आवश्यकताओंको कम करते हुए उत्तरोत्तर जीवनमें स्वावलम्बनको उतारनेका अभ्यास करें।

ग्रहण कर उसका त्याग करना इसकी अपेक्षा ग्रहण ही नहीं करना सर्वोत्तम माना गया है। अपरिग्रहवादका भाव भी यही है। किन्तु वर्तमानमें मनुष्यके जीवनमेंसे इस वृत्तिका सर्वथा लोप हो गया है। दानको सामाजिक प्रतिष्ठाका स्थान मिल जानेसे अब तो अधिकतर लोगोंका भाव ऐसा भी देखा जाता है कि वे किसी भी मार्गसे धन संचय करते हैं और फिर उदारताका स्वांग करनेके लिए उसमेंसे कुछ अंश उन कार्योंके लिए, जिनसे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है, दे देते हैं। यह अध्यात्मवादको जीवित रखनेका सही मार्ग नहीं है। सामाजिक न्यायको तो समाजवादी या कम्यूनिष्ट भी स्वीकार करते हैं। चालू जीवन सबका सुखी बना रहे, यह भला कौन नहीं चाहता। किन्तु अध्यात्मवाद इतना उथला नहीं है। उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। वह

प्राणीमात्रका कल्याण किसीकी कृपाके आधारपर नहीं स्वीकार करता और न ही वह ऐसा मानता है कि अन्य अन्यका किसी भी प्रकार भला बुरा कर सकता है। वह तो भीतरसे जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्रता स्वीकार करता है। और इसलिए इस स्वतन्त्रताकी जिन जिन मार्गोंसे रक्षा होती है उन्हें वह ग्राह्य मानता है। इसकी रक्षाका प्रशस्त मार्ग तो यही है कि अन्य अन्यका अपनेको स्वामी या कर्ता न माने। कदाचित् मोह, अज्ञान या रागवश वह ऐसा मानता भी है तो उसे इन भावोंका त्याग करनेके लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। जब कोई व्यक्ति अन्य वस्तुका त्याग करता है तो उसमें यही भाव छिपा रहता है। इसलिए दान यह स्वोपकारका प्रमुख साधन माना गया है। इससे त्याग करनेवालेकी आन्तरिक विकार परिणतिका मोचन होता है। दानका यही रहस्य है। प्रकृतमें जो दानका विधान किया गया है वह इसी भावको ध्यानमें रखकर किया गया है। इससे पर वस्तुका त्याग हो कर व्यक्तिगत जीवनको स्वतन्त्र और निर्मल बनानेका अवसर मिलता है। समाजवाद और अध्यात्मवादमें मौलिक अन्तर यह है कि समाजवाद स्वेच्छासे त्यागकी बात नहीं कहता जब कि अध्यात्मवाद स्वेच्छासे त्यागकी ओर प्रवृत्त होता है। यदि विश्वको विपुल साधन उपलब्ध हो जायँ तो समाजवाद सम-विभागीकरणके आधारसे उन्हें स्वीकार किये बिना नहीं रहेगा। तब वह मानेगा कि प्रत्येक व्यक्तिको इनको स्वीकार करनेका अधिकार है। किन्तु अध्यात्मवाद ऐसे अधिकारको स्वीकार ही नहीं करता। पर वस्तुके स्वीकार को वह जीवनकी सबसे बड़ी कमजोरी मानता है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी भावना और उसे कार्यान्वित करनेकी प्रवृत्ति यह अध्यात्मवादकी रीढ़ है। इसमें जीवनमें आई हुई कमजोरीपर प्रमुखतासे ध्यान दिया जाता है। दान उस कमजोरीको दूर करनेका प्रमुख साधन है। इस द्वारा गृहस्थ त्यागका अभ्यास करता है और धीरे धीरे जीवनमें त्यागको प्रतिष्ठित करता जाता है। इसलिए जीवनमें दानका बहुत बड़ा स्थान है। इससे सब प्रकारकी सत् प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिलता है। साधुकी निर्विघ्न रीतिसे आत्मसाधनामें भी यह सहा-यक है। इसमें उत्साहित होना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है।

यद्यपि वर्तमान कालमें उसकी तीव्र भर्त्सना की जाती है। अधिकतर लोगोंका यह विश्वास होता जा रहा है कि दान एक प्रकारकी लाँच है। हम कहते हैं कि यह दोष यद्यपि वर्तमानमें पैदा हो गया है और इस दोषको दूर करनेके लिए जो भी प्रयत्न किये जायँगे वे उपादेय हैं, पर दानके मूलमें यह हेतु नहीं था इतना निश्चित है।

[वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले तत्त्वार्थसूत्रके दानसूत्रकी व्याख्या]

सम्यग्दर्शन : एक दृष्टि

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

[१]

प्रश्न—निजहित और परहितकी खिचड़ी पकानेसे परहित हो या न हो निजहित खटाईमें पड़ जायगा। संसारको छोड़कर आत्मसाधन करनेमें निज-हितकी पराकाष्ठा है, पर हितका भुलावा मिटानेमें निजहितकी सर्वोच्च साधना है। निवृत्ति ही सुखकी कुञ्जी है पर आप जिस दृष्टिकोणको रख रहे हैं वह प्रवृत्ति-प्रधान है।

उत्तर—निजहित और परहितके प्रश्नको एकान्तवादी दृष्टिकोणसे देखनेकी प्रवृत्ति प्रायः रही है और है। एक पक्ष है यह कि निजहित ही सब कुछ है और प्रकारान्तरसे परहित भी उसीमें है। दूसरा पक्ष है यह कि परहितमें ही निजहित है, परहितसे निरपेक्ष निजहित कोई चीज नहीं है। पर सत्य दोनोंके मध्यमें है। निजहित किए बिना परहित नहीं हो सकता, यह सत्य है क्योंकि जब अपना ही हृदय शुद्ध नहीं है, अपनी ही नीयत साफ नहीं है, अपना ही मार्ग हमारे सामने स्पष्ट नहीं है तो दूसरेको हम क्या मार्ग दिखायेंगे? पर दूसरोंसे दूर हटकर या स्वकेन्द्रित होकर भी निजहितकी साधना नहीं चल सकती। आधिभौतिक हितसाधनके लिए तो निर्विवाद रूपसे यह सर्वमान्य है ही, पर सच यह है कि आध्यात्मिक हितसाधनकी दृष्टिमें भी यह एक खरी सच्चाई है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों व दुर्वासनाओंको या आत्माके जितने भी दुर्गुण या विकार हैं उनको मिटानेका यह अर्थ नहीं है कि नैमित्तिक दृष्टिसे ही उन्हें अव्यवहार्य बना दिया जाय। उपादान रूपसे उन्हें मिटाना ही सचमुच उन्हें मिटाना है। ऐसी परिस्थितियोंमें व्यक्ति रहे जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि बुराइयोंका क्रीडास्थल हो और वहाँ रहते हुए उन्हें दूर करनेका अभ्यास सतत करता रहे और इस आन्तरिक संघर्षके परिणाम स्वरूप वह अपना हृदय इतना शुद्ध व निर्विकार बना सके कि उन सब परि-स्थितियोंमें रहते हुए भी वह अलिप्त व अनासक्त रहे, जलमें कमलकी तरह भीतर रहते हुए भी ऊपर रहे—यह अवस्था ही सचमुच वीतरागताकी अवस्था है। शान्तिपूर्ण परिस्थिति या एकान्त वासमें साधनाकी तैयारी हो सकती है।

सच्ची साधना नहीं हो सकती। साधना संघर्षमय है। तूफानके बीच अचल बने रहना साधना है। वीतरागताकी साधना रागद्वेषके विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते हुए उनपर विजय पानेमें हैं। रागद्वेषके वातावरणसे दूर भागकर या संघर्षमयी साधनासे घबराकर कमजोरीको उभारनेसे रोका जा सकता है, पर कमजोरीको दूर नहीं किया जा सकता। कषाय भावना दबी रहना वास्तविक संयम नहीं है। उसे मूलसे मिटाना और उसके पुनः भीतर प्रवेश करनेका मार्ग अवरुद्ध करना ही सच्ची संयमसाधना और तपस्या है। और निश्चय ही ऐसी अवस्था संघर्षके बीचमेंसे ही निकलकर प्राप्त हो सकती है। रहा यह प्रश्न कि परहितमें ही निज हित है सो यह भी पूर्ण नहीं है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि निजहित और परहित आपसमें गुँथे हुए हैं। निजहित किए बिना परहित करनेकी क्षमता, योग्यता व पात्रता नहीं आ सकती और परहित किए बिना निजहितकी साधना आगे नहीं बढ़ सकती, ज्यादह ऊँची नहीं उठ सकती। भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे निज परहितका यह समन्वय ही परम सत्य है। निवृत्ति और प्रवृत्तिका सामञ्जस्य भी यहीं है। कोरी निवृत्ति अनावश्यक कष्ट सहन ही नहीं है, विश्वहितकी भावना, परहितकी साधना और अन्ततः निजहित की सच्ची तपस्याके अनुकूल भी नहीं है। कोरी प्रवृत्ति भी इसी तरह एकपक्षीय है। सत्य व कल्याण किसी एकमें ही नहीं है, दोनोंमें है। परिस्थितिविशेषको लक्ष्यमें रखते हुए कभी एक पर ज्यादह जोर भले ही दिया जाय लेकिन सत्यदृष्टि दोनोंके सन्तुलित संयोगमें ही है। एक बात और है। प्रकृतिका नियम आदान-प्रदान है। नीतिका-आधार भी यही हो सकता है। मैं किसीसे कुछ लूँ और लेता ही रहूँ, उसे कुछ न दूँ तो यह नहीं चल सकता। परस्पर लेन-देनके आधार पर ही यह संसार स्थित है, यह जीवन टिका हुआ है। एक व्यक्ति संसारका परित्याग करे या जगको मिथ्या या माया कहकर उससे नाता तोड़े, पर इसके बाद भी वह दुनियासे लेता ही रहे और उसे देनेका नाम न ले यह उसकी अनधिकार चेष्टा ही है। जो दुनियाको देनेके कर्त्तव्यको भुला बैठा है वह दुनियासे लेनेके अधिकारका भी उपयोग नहीं कर सकता। कर्त्तव्य और अधिकारकी जोड़ी है। जिस व्यक्तिका दुनियाके प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसका दुनियापर कोई अधिकार नहीं है। कर्त्तव्यहीन अधिकारका प्रयोग शोषण है, अन्याय है, पाप है। हम देखते हैं एक निवृत्तिवादी यद्यपि वह दावा करता है कि उसने संसारका परित्याग कर दिया है और इस दावेको लेकर वह कह दिया करता है, उसे संसारसे क्या प्रयोजन, पर सच यह है कि पूरी तरह वह संसारपर या समाजपर निर्भर है। उसकी सारी दिनचर्या व सारी जीवन-व्यवस्था तथा

उसकी साधनाका सारा कोर्स समाजकी कृपा, उदारता या दानशीलतापर अवलम्बित है। उसकी खान-पानकी अत्यधिक शुद्धि, अत्यन्त असुविधापूर्ण व टेढ़ी-मेढ़ी आहार विधि तथा उसकी सभी क्रियाओं व व्यवस्थाओंसे प्रायः इतना बनावटीपन है कि समाजके सहारेके बिना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वह पूरी तरह परावलम्बी है। भला ऐसी पराश्रय की स्थितिमें स्वकेन्द्रीकरण कहाँ तक नीतियुक्त और उचित कहा जा सकता है? हाँ, जिस अप्रमत्त अवस्थाकी कल्पना निवृत्ति मार्गने की है, उसमे परावलम्बन नहीं है पर वह अवस्था कहाँतक व्यवहार्य है यह एक प्रश्न है? और जबतक उसका कोई प्रत्यक्ष उदाहरण सामने नहीं है, उसे व्यावहारिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। यूँ सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अप्रमत्त योगी के विरुद्ध परहितकी उपेक्षाकी शिकायत करनेके लिए गुंजाइश नहीं है। पर ऐसी गुंजाइश होने न होनेका अभी कोई प्रश्न ही नहीं है। हमारे सामने सीधासाधा यही प्रश्न है कि जो संसारको न दे वह संसारसे ले भी नहीं सकता, उसे लेने देना भी नहीं चाहिए। समाजकी सेवा, विश्वकी कल्याण-साधना, इन सद्वृत्तियों–प्रवृत्तियोंके प्रति उदासीनता या अरुचि होना ऐसे किसी भी व्यक्तिको शोभा नहीं देता जिसकी साधनाके ताने-बानेका एक एक तार समाज की देन है। दुनियाको देखकर जिसे नाक भौं सिकोड़नी है उसका समाजमें रहना, समाजपर टिककर रहना क्षम्य नहीं है। किसीको किसीपर भार बननेका अधिकार नहीं है। स्वावलम्बन ही सामाजिक जीवनकी आधार शिला है और जो इस शिलाके टुकड़े-टुकड़े करता है, वह समाज-व्यवस्थाकी जड़ोंको हिलाता है, वह मानवजीवनको रौंदता है। वह समाज अभागी है जिसमें ऐसे व्यक्तियोंका बाहुल्य है। खैर, किसी भी दृष्टिसे देखें हम इसी निर्णयपर आयेंगे कि निजहितमें परहित है और परहितमें निजहित है। निज-परका यह समन्वय व्यक्ति और समाजका यह सामञ्जस्य, अङ्ग और पूर्णकी यह एकरूपता एक ध्रुवसत्य है और इस सत्यमें अटूट विश्वास सत्यदृष्टिकी एक ऐसी माँग है जो पूरी होनी ही चाहिये।

प्रश्न—दृष्टि विश्वव्याप्त हो क्या इसका यह अभिप्राय है कि एक और अखण्डमानवता इसका आधार हो?

उत्तर—वास्तवमें सत्यदृष्टिको अपेक्षा प्राणीमात्रसे है, मानवसे ही नहीं। मानव एक प्राणी ही है और इस अपेक्षासे वह अमानव प्राणियोंसे बिल्कुल अलग भी नहीं है। चेतना प्राणीमात्रका गुण है। जहाँ चेतना है वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति है। मानव सुख चाहता है, दुखसे बचना चाहता है—अपने इस अनुभवके आधारपर यह सहज ही समझा जा सकता है कि हरेक

प्राणी सुखमें प्रवृत्ति और दुखसे निवृत्तिके लिए इच्छुक है। ऐसी स्थितिमें आदर्श प्राणीमात्रका सुख अधिकतम प्राणियोंका अधिकतम सुख-ही कहा जा सकता है। पर व्यवहारमें इस आदर्शको लेकर बड़ी कठिनाइयाँ हैं, बड़ी मजबूरियाँ हैं। फिर प्राणीजगत्का बहुत कुछ अभी अज्ञात है। मनुष्य अनुसन्धान कर रहा है, आगे बढ़ रहा है। फिर भी वह अभी बहुत कम जानता है, बहुत अधिक अभी उसे जानना है। ऐसी स्थितिमें सूक्ष्मरूपसे आदर्शको शिरोधार्य करते हुए भी तथा जहाँ तक व्यवहार्य हो उसे मान्य करते हुए भी एक और अखण्ड मानवताका आदर्श ही उसके लिए विशेष प्रेरणाजनक व महत्त्वपूर्ण है। मानव-जीवनका प्रश्न ही यद्यपि उसके सामने नहीं है और न होना ही चाहिए पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यही प्रश्न उसके सामने सबसे अधिक मूल्यवान् है। इस अपेक्षासे बहुत हद तक निःसन्देह यह कहा जा सकता है एक और अखण्ड मानवता विश्वव्याप्त दृष्टिसे अपेक्षित हो, यह अनिवार्य है।

प्रश्न—छोटी-छोटी समस्याएँ विश्व समस्याका अङ्ग हों, यह माननेसे ऐसी दलबन्दियों या ऐसे बन्धनों व भेदभावकी खाइयोंको जिनकी न कोई उपयोगिता है और न जो प्राकृतिक या स्वाभाविक ही हैं, अनुमोदन मिलता है। होना यह चाहिए कि ऐसी निकम्मी समस्याएँ समस्याएँ ही न रहें, विश्व-समस्याका अङ्ग बननेसे उन्हें प्रश्रय व प्रोत्साहन ही मिलेगा।

उत्तर—नहीं। अप्राकृतिक, अस्वाभाविक और निरर्थक सीमाओंको मान्यता न मिलनी चाहिए। वे सब दीवारें धराशायी कर देनी चाहिए जिनकी कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसे सब सङ्गठन तोड़ देने चाहिए जो मानव-हित और विश्व हितके शत्रु हैं। विश्व समस्याका अङ्ग बनानेसे यह भाव नहीं है कि जो समस्या उसका अङ्ग बननेकी क्षमता ही नहीं रखती है वह भी उसका अङ्ग बनकर प्रश्रय पाए। आखिर, नियमका ठीक ठीक पालन तो विवेक बुद्धिपर ही अवलम्बित है। फिर किसी समस्या को विश्व-समस्याका अङ्ग बनाना उसका अनुमोदन करना है, ऐसी धारणा भ्रममूलक है। व्यक्तित्व, परिवार, राष्ट्र आदि प्राकृतिक बन्धनोंको लेकर जो समस्याएँ हैं उन्हें विश्व-समस्याकी गोद मिलनी ही चाहिए। पर कुछ मानव की बनाई हुई भी ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें अनुपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। समाज आखिर एक ऐसी ही व्यवस्था है। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि भी मनुष्यकी बनाई हुई चीजें हैं। मौलिक दृष्टिसे इन्हें मान्यता या विशेष मूल्य देनेके लिए गुँजाइश नहीं है, नियमरूपसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। समाज या मनुष्यकी सामाजिकता एक विराट् सत्यके रूपमें हमारे सामने है। उसे कृत्रिम कहकर उसका उपहास हम नहीं कर सकते। अन्य अनेक संस्थाओंके

विषयमें भी कम ज्यादह इसी तरहकी बात है। हर हालतमें व्यावहारिक दृष्टिसे इन्हें लेकर विचार करना जरूरी ही है और इसका अर्थ उनका अनुमोदन नहीं है। आदर्शकी प्रतिष्ठा वास्तविकताकी अवहेलनामें नहीं है बल्कि वास्तविकतासे जूझनेमें है। प्रयत्नका विषय क्या है या प्रतिद्वन्द्वी कौन है इसको लेकर नहीं बल्कि प्रयत्नकी दिशा क्या है अथवा द्वन्द्वके पीछे क्या भावना व उद्देश्य है इसे लेकर ही यह कहा जा सकता है कि आदर्श साधना की जा रही है या नहीं। सत्यदृष्टि वहाँ है या नहीं? यदि दिशा ठीक है, यदि भावना अच्छी है, यदि उद्देश्य उत्तम है तो प्रयत्न कितना भी छोटा हो तथा उसका क्षेत्र कितना भी संकुचित हो, दृष्टि वहाँ विश्व व्याप्त है और सत्य वहाँ विद्यमान है।

उपालम्भ

मानव, तेरी अबतक मिटी न प्यास रक्त की!

धरती, जिसपर पहले खेला,
उसकी तूने की अवहेला

जो जीवन की हरित ध्वजाएँ
फहराती क्रमशः आगे ला

उसपर अविरत रुधिर बहाकर
लाया पास प्रलय की वेला
स्वर्च्छा, तूने सृष्टि-कल्पना की अशक्त की!

रण-गर्जन से बधिर गगन है
कम्पमान पृथ्वी का तन है

तेरा यह उल्लास विजय का,
महाप्रलय का आवाहन है

ओह दूध पर पलने वाले,
नहीं प्रकृति तेरा दंशन है
ओ सभ्यताभिमानी क्या कृति अभिव्यक्त की!

तेरे अन्तःप्राण गुनेंगे
वह स्वर या परिताप चुनेंगे

जो अब तक गूँजे अरण्य में
जो जीवन परिधान बुनेंगे

बुद्ध, निग्गण्ठ तथा ईसा के
गान्धी के स्वर-सार सुनेंगे
प्रथा मिटायेगा अशक्त की औ सशक्त की!

—त्रिलोचन शास्त्री

द्रव्य, क्षेत्र और काल

माईदयाल जैन बी० ए०, बी० टी०

आठ दस वर्ष हुए मैंने एक अंग्रेजी कहानी किसी पाठ्य पुस्तकमें पढ़ी थी। उस कहानीका नाम और उसके पात्रोंके नाम तो मुझे अब याद नहीं है, पर उस कहानीका सारांश मुझे अबतक खूब याद है। वह कुछ ऐसी थी।

एक राजाने नीचे लिखे तीन प्रश्न तैयार किए और घोषणा की कि उन प्रश्नोंका राजाके मनमें उत्तरोंके समान संतोषजनक उत्तर देने पर काफी पुरस्कार दिया जायगा–

१. संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण आदमी कौन है?

२. संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान क्या है?

३. संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण समय कौनसा है?

अपनी बुद्धिमत्ता, विद्या और चतुराई जिताने और पुरस्कार पानेके विचारसे बहुतसे मन्त्री, विद्वान् और स्याने आदमी राजाके पास आये और उन्होंने भाँति भाँतिके उत्तर राजाको दिए। किसी ने उस राजाको ही सबसे महत्त्वपूर्ण आदमी बताया, तो किसीने राजाको धर्मके अवतारका नाम लिया। किसीने राजाके प्रसिद्ध पुरखाका नाम लिया, तो किसीने उस युगके महापुरुषका नाम लिया। ऐसे ही उत्तर सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान और सबसे महत्त्वपूर्ण समयके बारेमें दिए गये। राजा के सोचे हुए उत्तरसे ये सब उत्तर भिन्न थे। उनसे राजाको संतोष भी नहीं हुआ। राजाने एक-एक करके उचित आदरमानके साथ सबको विदा कर दिया।

कुछ दिनके बाद एक वृद्ध और अनुभवी आदमी राजदरबारमें आया और दरवान से अन्दर कहला भेजा कि–राजाके प्रश्नोंका उत्तर देने एक आदमी आया है, उसे अवसर दिया जाय।

दरबान पुराना अनुभवी आदमी था। उसने मनमें सोचा कि जिन प्रश्नोंके उत्तर राज्यके बड़े-बड़े मन्त्री और विद्वान् नहीं दे सके, उनके उत्तर यह बूढ़ा क्या देगा। पर इन्कार न करने और सूचना न देनेका भी उसे साहस न हुआ। उसने यह भी सोचा कि आदमी वृद्ध और अनुभवी है, सम्भव है कि राजाके प्रश्नोंके ठीक-ठीक उत्तर दे दे।

उसे राजाके सामने पेश किया गया। राजाने उसे आसनपर बैठनेका संकेत किया और अपने प्रश्न और उनकी शर्तें उसे बताईं।

बूढ़े आदमीने बड़ी गम्भीरता और बिना किसी झिझकके नीचे लिखे उत्तर दिये :–

१–संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण आदमी वह है, जिससे या जिसके बारेमें आप बात कर रहे हैं।

२–संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान वह है, जिसकी आप किसी समय चर्चा कर रहे हों।

३–संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण समय वह है, जिसके बारेमें आप बात कर रहे हों।

उत्तर संक्षिप्त तो थे, पर थे राजाके मन सोचे उत्तरोंके समान। राजा उन्हें सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उस बूढ़े आदमीको सम्मानपूर्वक पुरस्कार देकर विदा किया। मन्त्री और दरबारी आदमियोंको इन उत्तरोंकी यथार्थता समझनेमें देर न लगी। वे अपने मनमें बड़े लज्जितसे अनुभव करने लगे कि वे इतने साधारणसे उत्तर न सोच सके।

मैं जब जब इस कहानीको याद करता हूँ, तब तब मुझे जैन-ग्रंथोंका यह वाक्य याद आता है कि द्रव्य, क्षेत्र और कालके अनुसार काम करो। इस कहानीमें द्रव्य, क्षेत्र और कालको प्रकटरूपसे सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं बताया गया, पर मुख्य आशय कह दिया है। 'द्रव्य' के सामने 'आदमी' बहुत सीमित अर्थका सूचक है, जब कि द्रव्यमें आदमी, वस्तु, समस्या और काम आदि सभी गर्भित हैं।

आदर्श, नीति और व्यवहार सभी दृष्टियोंसे उपरोक्त जैन-कथन एक बड़े आदर्श वाक्य (Motto) के समान है। संसारमें जिन देशों, जातियों और व्यक्तियोंने द्रव्य, क्षेत्र और कालके अनुसार काम नहीं किया उन्होंने धोखा खाया और संसारमें पिछड़ गये। कभी-कभी वह मिट भी गये। द्रव्य, क्षेत्र और कालके अनुसार काम करनेमें न तो अवसरवादिता ही है और न अपने आदर्शोंसे गिरना ही है, ऐसा करना न कमजोरी है और न समयके प्रवाहके साथ तिनकेके समान बह जाना ही है।

ऊपरकी कहानीका सार तीन शब्दोंका यह पद 'द्रव्य, क्षेत्र और काल' ही है और इस सारमें वह शिक्षा भरी हुई है, जो सबके लिए गुरुमन्त्रका काम दे सकती है। जीवनमें इनपर आचरण करनेसे सब कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं और सब समस्याएँ हल हो सकती हैं। और आचरण न करनेपर इनसे कुछ लाभ नहीं होगा।

सम सामयिक भारतीय-साहित्य का विकास

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

भारतवर्षके नाना जनपदों का साहित्य एक ही मालिक की अधीनता में पलने-बढ़ने वाले उद्यानों की तरह है। अपने जानेमें हो या अनजानेमें, हमारे प्रांतीय साहित्यों को परिचालित करनेवाली प्रेरणा युगों युगोंसे इसी देश की विशिष्ट संस्कृतिसे आई है। यह संस्कृति सारे महादेश को एकताके सूत्रमें गूँथने वाली संस्कृति और सामंजस्य की संस्कृति है। अथर्वके गायन ने आजसे शताब्दियों पहले कहा था कि वे हम सबको अपनी चिन्ता और आनन्द का सहयोगी बनाने की भावना करते हैं।

"सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥"

—३. ३०. ७

यह ठीक है कि आज जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। आज का लेखक अपनी बुद्धिके अणु वीक्षक यंत्रके द्वारा जीवनको देखता है और उसके असंख्य सूक्ष्म रूपोंके प्रति आकृष्ट होता है। उसके मुग्ध नयन जीवनके अभिनय दर्शन पर रीझे होते हैं। फलतः वह किन्हीं विशेष रूपोंमें ही उलझ जाता है जो जगत्के प्रति उसके भावों और विचारों का निर्माण करते हैं।

लेखक अपने आसपास की दुनिया की उपज होता है। न जाने किस अनादि कालसे उसकी यह प्रान्तीय दुनिया देशकी सभ्यतासे प्रभावित होती आ रही थी। कुछ दशाब्दियोंसे इस सभ्यताके साथ पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक जीवन दर्शन भी आ मिला जिसने प्राचीन संस्कृतिमें एक विक्षोभ ला दिया। रूढ़ियाँ विचलित होने लगीं।

लेकिन आज उसकी हालत बहुत कुछ उस आदमी की तरह है जिसने पहली बार कोई नई शराब ढाली हो। वह अपने वशमें नहीं, उसके पैर लड़खड़ाते रहे हैं। नाना परिवर्तनशील प्रतिक्रियाओंमें वह ठहरा नहीं पाता कि किनसे मेल करे और किनसे टकराये, किन्हें जोड़े और किन्हें छोड़े। इसीलिए समसामयिक भारतकी प्रांतीय साहित्यसृष्टि का कोई स्थिर मूल्य आँकना इतना कठिन हो गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि उसे प्रभावित करनेवाली शक्तियोंमें साधारण पाठक की बुद्धि और भाव उसपर गहरा असर डाल रहे हैं — इस साधारण पाठक की जिसे आज सबसे अधिक अर्थनैतिक या राजनैतिक चश्मेसे देखा जाता है। यही कारण है जो आज का लेखक समुदाय अपने काव्यमें, कहानी

में, नाटक और निबंधोंमें उसी साधारण मनुष्यकी लीला बखाना करता है। खासकर औद्योगिक केन्द्रों या व्यावसायिक बस्तियोंके आस पास रहने वाला लेखक इसी भावनासे परिचालित है। और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि किताबोंमें लिखा या छापा जानेवाला अधिकांश साहित्य आज प्रधान रूपसे नगरों का साहित्य है।

लेकिन भारतवर्ष तो शहरोंमें ही नहीं बसा। उसकी माया और प्राण गावोंमे बसते हैं। खेत-खलिहानों की शोभा और सुरभि हमारे देश भरमें व्याप्त है। इन भारतीय गाँवों का मूल जीवन प्रायः वही है, उसमें कोई बुनियादी अन्तर नहीं आया। वे आज भी हलधारी हैं और आसमानके ताराओंसे ही अपनी गणना करते हैं। उनकी बुद्धि पर आज भी अशिक्षा का मेघ छाया है उसके अन्धकारने वैज्ञानिक सभ्यता को अपने घटाटोपमें नहीं घुसने दिया। हमारा वर्तमान नागरिक साहित्य सर्वसाधारण के जीवन का प्रतिबिम्ब आज भी नहीं बन सका है। इसीलिए हमारे प्रान्तों का साहित्य अधूरा है। एक तो इसलिए कि उसमें समूचे देश की जनता का हृदय नहीं धड़कता, राष्ट्रीय वैभव उसमें नहीं झाँकता; दूसरे इसलिए कि उसका आधार रुचि और आदर्श की किसी उत्तरोत्तर ऊँचे चढ़नेवाली सीढ़ियों पर से अग्रसर नहीं हो रहा— जीवनकी किसी निर्दिष्ट रूपावलीकी बुनियाद पर नहीं खड़ा होता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज हमारे देशकी विभिन्न भाषाओंके साहित्यकी इकाई नगरोंकी वह सभ्यता या सीमित संस्कृति बनकर रह गई है जिसमें मनुष्य केवल पेट भरनेकी फिक्रमें लगा है या राजनीतिक अधिकारोंके पीछे पागल है। पेट और राजनीतिका अपने आपमें कोई अत्यधिक मूल्य नहीं होता; वे साधन हैं; साध्य नहीं। साध्य है मनुष्यका सर्वांगीण मंगल।

ऊपर जो आलोचनकी गई है वह आलोचना नहीं, एक दृष्टिकोण है, एक सुझावकी सूरत है। भारतीय साहित्यमें भारतकी बहुविचित्र संस्कृतिके मर्ममें निवास करनेवाली एकता होनी चाहिए; भारतके ऐक्यकी घोषणा होनी चाहिए। तर्कके दाँव-पेंचसे हम इस सुदृढ़ ऐक्यको—सांस्कृतिक आधारको धुँधला नहीं कर सकते। यह ऐक्य नाना रूपोंमें अपनी छटा दिखा सकता है किन्तु ये रूप उसी एकताके वैभवको व्यक्त करते हैं जो एकता भारतीय नगरोंसे लेकर ग्रामों तक अंतःसलिलाके समान धारावाहिक रूपसे बहती आ रही है। भावक रजबजीकी उस बानीको हम भुला नहीं सकते कि नाना प्रदीपोंमें नाना प्रकारके तेल डाले जा सकते हैं; उनकी बातियाँ भी कई तरहकी हो सकती हैं लेकिन जब उनकी लौ उठती है तो वह एक ही प्रकाशको अपने चारों ओर फैलाती है। हमें अपने प्रान्तीय साहित्योंमें इसी उज्ज्वल आलोककी आवश्यकता है।

मनुज चाहिए

कौन तमिस्रा अंध अमामें अपना दीप जलाए!
हिंसा-द्वेष असमताओंमें झुलस रहा मानव का जीवन,
धधक रहा है स्वार्थ, नाशका सर्वाहारी दावानल बन!
ओस-बिंदु की निर्मलतामें बूँद-रक्तकी काँप रही है,
मानवके प्राणोंको पूँजी श्रमके कणसे नाप रही है!
जीवनका अमृत दानवके हाथों जहर बना जाता है,
ज्योतिपुत्र—मानव द्वारा ही देखो, अंधकार आता है!

※

जडता माँग रही जग जीवन बस यंत्र-चक्रों में दलने,
और विषमता-लोलुपता रे मूर्त्त लौहमें खडी निगलने!
शरद-निशाके नवतारे-से आज मनुजके प्राण विकम्पित,
स्वार्थ आंधियाँ फूँक रही रे लक्ष-लक्ष जनताके सुख, हित!
मानव मानवका वैरी है आज पाप ही पुण्य बन रहा,
अमृत-धारा नहीं, अहर्निश आज मनुजका खून बह रहा!

※

कौन जो कि जीवनको पशुताके बन्धनसे मुक्त करे रे,
और हलाहल-स्नात जगत्में सरस सुधा संचरण भरे रे!
कौन जो कि तमकी प्राचीरें चीर ज्ञानकी ज्योत जगाए!
सहज सुलगते लोभ-अनलको, निज आहुति दे, भस्म बनाए!
भूल अमरता, नर विनाशकी परिक्रमा कर रहा निरन्तर,
चक्र मरणका परिचालित है, आहत पडा सृजन-अविनश्वर!
शिव-मन्त्रोंके साधक जन हों, नहीं यन्त्रके दनुज चाहिए,
देवालयके देव नहीं रे, आज मनुजको 'मनुज' चाहिए!
कौन मुक्तिका मोती पाने, जीवन सीप दलाए!
कौन तमिस्रा अंध अमामें अपना दीप जलाए!

—परदेशी।

प्रकृति, संस्कृति और कला

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

हमारे तीर्थ नदियों के तट पर बसे हुए हैं। इसमें क्या धार्मिक संकेत है? नदियों से ही जीव का जीवन और विकास है। उन्हीं में हमें प्रकृति, संस्कृति और कला एक दूसरे का पर्याय जान पड़ती है। गङ्गा जहाँ जमीन को उपजाऊ बना कर जीवन का पोषण करती है वहाँ वह प्रकृति है। जहाँ हमारे कृतज्ञ मन का उन्नयन करती है वहाँ संस्कृति है। यमुना? वह प्रकृति और सस्कृति के साथ साथ जीवन की एक कला भी है।

भिन्न-भिन्न नदियो के प्रवाह में लोक जीवन की भिन्न-भिन्न कथा बहती आयी है। जिस नदी में जिस कथा की प्रधानता है उसमें उसी भाव का माहात्म्य है। इसीलिए गङ्गा वृद्धा जगन्माता है, यमुना युवती सामाजिक सखी है। नदियाँ केवल जलधारा मात्र नहीं है, उनके भीतर भी अन्तःसंज्ञा (अन्तश्चेतना) है। त्रिवेणी में अंतर्लीन सरस्वती यही सूक्ष्म सूचना देती है।

नदियों में तीर्थ-स्नान करके हम उनके स्नेहसिञ्चन और लोक-सृजन की शक्ति को शिरोधार्य करते है। नदियों से यह वरदायिनी शक्ति मनुष्य को प्राकृतिक-उद्यम (कृषि) में मिली। इसी प्राकृतिक उद्यम से सस्कृति की सीता का जन्म हुआ। कला की राधिका का आविर्भाव हुआ। प्रकृति के पुरुषार्थी पुत्र पुरुष ने प्रकृति का सहयोग मानवी रूप में पाय।

राम और कृष्ण का अवतार, कृषि के उद्धार के लिए हुआ था। उद्यमी में उद्यम की तरह 'कृष्ण' में 'कृषि' ही साकार हो गयी। कृषक कृष्ण में जीवन की सुखश्री सुषमा का कलाकार हो गया था। कृषि को उर्वर बनाने के लिए ऋषियों ने भी अपना रक्त-दान दिया था। सूक्ष्म प्राण आध्यात्मिक युगो में भी जीवन की इस पार्थिव-साधना (कृषि) का लाक्षणिक संकेत मिलता है। बुद्ध ने कहा है "कायाश्रितं मनः" काया है पार्थिव उद्यम का प्रतीक, मन है स्थूल पर आश्रित सूक्ष्म।

जब हम कहते है कि भारत की संस्कृति और कला विश्व में सर्व-श्रेष्ठ है तब प्रकारान्तर से हम यह भी स्वीकार करते है कि भारतीय कृषि व्यवस्था संसार में सर्वोत्तम थी। कृषि की अधोगति के साथ-साथ भारत की

ही नहीं, स.रे संसार की संस्कृति और कला क्षियमाण होती जा रही है, आज वे मंदिरों और आश्चर्यगृहों में शव के अवशेषों के रूप में दीख पड़ती हैं। मदिर और आश्चर्यगृह संस्कृति और कला के शिवालय नहीं। उनका शिवत्व समाप्त हो गया है। आज संस्कृति का अर्थ है धर्मग्रन्थों का पिष्टपेषण, कला का अर्थ है निर्जीव प्रदक्षिणा।

ध्यान से यदि हम देखें तो सभी देशों की संस्कृति और कला का उत्थान कृषि और दस्तकारी के युगों में हुआ था। जैसा ही सजीव उद्यम था, वैसी ही सजीव कला थी, राजा थे, रईस थे, सामन्त थे, शासक थे, शासित थे किन्तु पृथ्वी शस्य-शून्य नहीं हो गयी थी, वह अन्नपूर्णा थी उसके वात्सल्य से परिप्लावित मानव-हृदय का वैभव संस्कृति और कला में परिस्फुटित हो उठा था।

यद्यपि विगत युगो में भी साम्राज्यवाद था, शोषण था तथ।पि इस कृषिप्रधान देश का सामाजिक सौहार्द बना हुआ था। राजनीति राजवर्ग तक ही सीमित थी। उसने प्रत्येक व्यक्ति को कूटनीतिज्ञ नहीं बना दिया था। धूप-छाँह की तरह जीवन में अकाल सुकाल के होते हुए भी समाज अभाव-ग्रस्त नहीं था। वस्तुत: अभाव-ग्रस्त तो राजवर्ग था जिसकी महत्त्वाकांक्षाओं का अन्त नहीं था। अपनी महत्त्वाकाक्षाओं के लिए हाथ में तलवार लेकर भी राजवर्ग इस देश की मानसिक हत्या (नैतिक-हिंसा) नहीं कर सका।

देश की नैतिक हिंसा उस समय से होने लगी जब कृषिभूमि में आधुनिक वणिक् बर्बरता का प्रवेश हुआ। अपने हल-बैल-चर्खे और कर्घे के साथ यह देश युगों से प्रकृति की पगडंडियों पर चला आ रहा था। पीछे से बनजारे की तरह आ कर वणिक् समुदाय ने अपने वाणिज्य का दुस्सह भार इसकी पीठ पर लाद दिया। देश की स्वाभाविक शक्ति क्षीण हो गयी। विदेशी वाणिज्य का भार वहन करने के लिए इसे अस्वाभाविक श्रम करना पड़ा। नील, अफीम और चाय की खेती की तरह भारत में पैसे की खेती होने लगी।

कृषि है सामाजिक साधना, वाणिज्य है राजनैतिक व्यवसाय। यह व्यवसाय अपने अतिलाभ के लिए अनुचित उचित सभी साधनों से काम लेने लगा। मानवीय सामर्थ्य (स्वाभाविक शक्ति) का ह्रास हो जाने पर उसका स्थान यंत्रों को मिल गया। यंत्रों ने मनुष्य का प्रकृति से संबंध विच्छेद कर दिया।

उत्पादन शक्ति अभी शेष है। यदि मनुष्य उत्पादक न बन सका, उपभोक्ता ही बना रहा तो विश्व की कोई भी आर्थिक शक्ति इस संकट से उसका उद्धार नहीं कर सकेगी। .

उत्पादक के लिए यह आवश्यक है कि यंत्रों से मुक्त मनुष्य का स्वाभाविक पुरुषार्थ जगाया जाय। यंत्रों से तात्कालिक लाभ ही हो सकता है स्थायी कल्याण नहीं। यांत्रिक साधनों से उत्पादन बढ़ा कर यदि वर्तमान पीढ़ी को किसी भी तरह बचा भी लिया जाय तो पृथ्वी की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाने के कारण अगली पीढ़ी सर्वथा निराधार हो जायगी। वह कृत्रिम आन्दोलनो से भी विमुख हो जायगी। दूरदर्शिता इसीमें है कि हम ऐसी श्रम-साधना करें जिससे सभी पीढ़ियों का भला हो।

वर्तमान संकट काल से मनुष्य को उबारने के लिए सोशलिज्म (समाजवाद), कम्युनिज्म (संघवाद) का प्रचार हो रहा है। किन्तु इन दोनों का दृष्टिकोण यांत्रिक है। इनका विरोध पूंजीवाद के साधनों से नहीं उसके स्वामित्व से है। पूंजीवादी विकृतियो का विकेन्द्रीकरण चाहते है। इनकी प्रकृति के साहचर्य में मनुष्य उसी की तरह मूलस्थ (गृहस्थ) हो कर फल-फूल रहा था। हमारा समाज गृहस्थों का समाज था। गृह-प्राणियो की तरह संपूर्ण समाज के भीतर आत्मीयता थी। यंत्रोद्योगो ने गार्हस्थ्य को निर्मूल कर प्रत्येक व्यक्ति को बाजारू बना दिया।

गार्हस्थिक युग एक सुखद स्वप्न की तरह पीछे छूट चला है। व्यापारिक युग एक विकराल यथार्थ की तरह हमारे सामने है। अपने सकीर्ण स्वार्थों मे आज का प्रत्येक मनुष्य वणिक् बन गया है। पैसा ही उसका उद्योग है, पैसा ही उसका उद्देश्य है। उद्योग भी जड़ है उद्देश्य भी जड़ है। ऐसी निर्जीव दुष्प्रवृत्ति का अनिवार्य दुष्परिणाम आज का विश्वव्यापी अकाल है। चारो ओर अन्न के लिए त्राहि-त्राहि मची है। 'अधिक अन्न उपजाओ' का गगनभेदी हाहाकार सुनायी पड रहा है। किन्तु, अब भी लोग धन के पीछे दौड़ रहे है, क्यों कि उसकी प्रतिस्पर्धा कुछ ऐसी ही जान पड़ती है कि "भाग विग तुम अकेले ही कैसे खा सकते हो ?" यही विषाक्त वर्ग द्वेष है, इसमें जनता को जीवन देने के लिए अमृत मन्थन नही। प्रेमचंद जी के शब्दों में "ईर्ष्या की व्यापकता ही साम्यवाद की सर्वप्रियता का कारण है।"

जहाँ चित्तवृत्ति शुद्ध नहीं, साधनों में प्रकृति की साधना नहीं, वहाँ किसी शुभ परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

एक तत्त्वदर्शी लेखक लिखता है कि जब हमे एजलों होती है तो

खुजली का रामबाण मलहम लगाने से वह अच्छी नहीं होती। क्योंकि खुजली रोग नहीं, रोग का चिह्न है। खून खराब हो गया है इसी की यह नोटिस है। इसलिए खूनको साफ करने की दवा जब तक हम नहीं लेंगे, खुजली नहीं जायगी। इसी प्रकार पूंजीवाद रोग नहीं, रोग का चिह्न है। असली बीमारी क्या है इसे हम जब तक नहीं समझ लेंगे और उसका उपाय नहीं करेंगे, तब तक पूंजीवाद और उसके दुष्परिणामो से समाज का पिण्ड नहीं छूटेगा। इसलिए हम उसकी जड़ पर विचार करेंगे।

इस रोग के दो मुख्य कारण है :–(१) परिश्रम को टालने की इच्छा (२) जहाँ तक सम्भव हो शरीर को सुख देने का यत्न।.... यंत्रों के निर्माण और तमाम वैज्ञानिक आविष्कारों की जड़ में यही दो कारण हैं। मनुष्य को जो परिश्रम करना पड़ता है, उसे कैसे कम किया जाय या एकदम टाल दिया जाय, केवल यही एक दृष्टि यंत्रों के निर्माण के मूल में है। और शरीर को लाड़ प्यार कर के इन्द्रियों को किस प्रकार आनन्द दिया जाय, यह है वैज्ञानिक आविष्कारों का सारा प्रयास।

सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट जो विरोध करते है वह यन्त्रो और वैज्ञानिक आविष्कारों का नहीं, उनके दुष्परिणामों का। हेतु-शुद्धि (कारण के निराकरण) की ओर उनका ध्यान नहीं है। पूंजीवाद के दुष्परिणामों की खुजली पर कौन-सा मलहम लगाया जाय, केवल यही ये सुझाना चाहते हैं।

हेतु-शुद्धि के लिए हमे प्रकृति के स्वास्थ्यदायक नियमों का पालन करना चाहिए। पञ्चभूतों का पुण्य शरीर जिस प्रकृति का दिव्य निर्माण है हमें अपने शरीर और जीवन के सञ्चालन में उसी का सहयोग लेना चाहिए। विश्वामित्र की तरह प्रकृति से असहयोग करना केवल आत्म-विडम्बना है।

जनवाद और पूंजीवाद दोनों प्रकृति का उल्लंघन करते हैं। अन्तर यह है कि पूंजीवाद प्रकृति और मनुष्य दोनों पर अपना प्रभुत्व रखना चाहता है, जनवाद मनुष्य को उन्मुक्त कर केवल प्रकृति पर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहता है। मूल प्रवृत्ति स्वामित्व की है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर स्वामित्व का अभ्यास करेगी वह मानव मन को कैसे मुक्त रहने दे सकेगी। यहीं पर 'डिक्टेटरशिप' आ जाती है।

हमें प्रकृति पर आधिपत्य नहीं जमाना है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। वेदों और उपनिषदों के युग में प्रकृति के साथ तादात्म्य था जिसका सांस्कृतिक सौंदर्य कृषिजीवी गृहस्थों के सामाजिक जीवन में साकार हुआ था। छायावाद का भी प्रकृति के साथ तादात्म्य था। किन्तु

इस वैज्ञानिक युग में कृषिकालीन सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण उसे जीवन का व्यावहारिक आधार नहीं मिल सका।

छायावाद को जिस व्यावहारिक आधार की आवश्यकता थी उसे गाँधी जी अपने ग्रामोद्योगों में ले आये। इस व्यावहारिक युग के विकारों का उन्होंने प्राकृतिक उपचार किया, हेतु-शुद्धि और जीवन-शुद्धि का मार्ग सुझाया।

ग्रामोद्योग तो हमारे यहाँ पूर्व से ही था। गान्धी जी का अवतरण उसका स्मरण दिलाने और आचरण में लाने के लिए हुआ। आचरण में उन्होंने पैसे को हटा कर श्रम को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने गृहस्थाश्रम में संन्यास आश्रम को मिला देना चाहा। यही उनका अनासक्त कर्मयोग है। यही मध्यकाल की अपेक्षा गांधीवाद की विशेषता है। नागरिक अर्थशास्त्र से दूर गाँवों में श्रम के आधार पर जो सामाजिक सहयोग था उसे ही गांधी जी सुलभ करना चाहते थे। मनुष्य-मनुष्य के सचेतन संबंध के बीच में निश्चेतन माध्यम (मुद्रागत अर्थशास्त्र) एक राजनीतिक प्रवञ्चना है। उनका असहयोग इसी प्रवञ्चना से था।

गांधीजी के ग्रामोद्योगों से एक बार हम फिर प्रकृति के पारस्परिक प्राणी बन सकते हैं। प्रकृति, संस्कृति और कला का अभिन्न योग ही ग्रामोद्योग है।

उद्योग के अनुरूप ही संस्कृति और कला का भाग्य बनता है। यदि उद्योग खनिज धातुओं पर ही निर्भर रहेगा तो संस्कृति और कला भी उसके हाथ निष्प्राण हो जायगी, जैसे पत्थर पर दूब, रेगिस्तान में स्रोतस्विनी। कृषि की तरह संस्कृति और कला के लिए भी प्रकृति की उर्वर भूमिका चाहिए। मानवता के शुभचिंतक कवि का यही उद्बोधन है :–

"आज बनो फिर तुम नव-मानव।
चुन चुन सार प्रकृति मे अतुलित
जीवन रूप धरो हे अभिनव।
नभ मे शान्ति, कान्ति रवि से हर,
भूतों में चेतनता दो भर,
निस्तलता जलनिधि मे लेकर
भू से विभव, मरुत से ले जव।
सुमनों से स्मिति, विहगों से स्वर
शशि से छवि, मधु से यौवन वर,
सुन्दरता, आनन्द, प्रेमका—
भू पर विचर करो नव उत्सव।"

जीवन-संग्राम और संतों का निर्वैर धर्म

श्री परशुराम चतुर्वेदी

(१)

योरप द्वारा प्रचलित किये गए विकासवाद के सिद्धान्तो से हमें पता चलता है कि सृष्टि के क्रमिक विकास का रहस्य उसके विविध अंगों के पारस्परिक सघर्ष में ही निहित है और एक के क्रमोत्कर्ष से दूसरे का अपकर्ष होना अनिवार्यसा है। इस विचार-धारा के अनुसार एक प्राणिवर्ग दूसरे को अपनी क्रमोन्नति की सीढ़ी बना कर ही आगे बढ़ता है और एक के जीवन में वृद्धि तभी संभव है जब दूसरे का विनाश हो। हम बराबर देखते आते हैं कि वनस्पति-वर्ग के प्राणी अधिकतर खनिज पदार्थों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, पशु-वर्ग का प्रधान खाद्य वनस्पतियां बन जाती हैं, जलचर व वनचर प्राणियों का जीवन बहुधा कीटों, पतंगों पर आश्रित रहा करता है और सृष्टि का सब से विकसित अंग मानववर्ग अपने जीवन व उत्कर्ष के लिए उक्त सभी प्राणियो वा पदार्थों को अपना साधन बना लिया करता है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टि का एक अटल व व्यापक नियम है जिसकी उपेक्षा किसी प्रकार भी नही की जा सकती। अतएव हमें चाहिए कि मानव-वर्ग से भी आगे आने वाले अतिमानव (Superman) के स्वागतार्थ अपनी भौतिक शक्ति के संचय का प्रयास उत्तरोत्तर करते चलें और शक्ति उपलब्ध करने के अपने संकल्प (Will to power) को अपने लिए मूल मंत्र मान कर ही किसी प्रश्न पर विचार करें।

योरप व अमेरिका जैसे देशों ने उक्त प्रकार की भावनाओ द्वारा प्रभावित होकर अनेक यंत्रों के आविष्कार किये और वाणिज्य एवं व्यवसाय की उन्नति क पथ पर अग्रसर होते हुए, उन्होंने राजनैतिक संघर्ष को प्रश्रय दिया तथा उनकी ऐसी भौतिक उन्नति की आभा से आकृष्ट होकर, अन्य देशों न भी उनका अनुसरण किया। परिणामस्वरूप एक ऐसी संस्कृति का क्रमशः निर्माण होने लगा जिसके कारण अनेक युद्धो व महायुद्धों तक की आवश्यकता पड़ती गई और धीरे धीरे सारा विश्व ही नैतिक पतन की ओर उन्मुख होता गया। विकासवाद के उक्त सिद्धांतों के भीतर विश्व की एकता का भाव निरंतर वर्तमान रहा और उनके आदर्शों पर चलने वालो में, क्रमिक विकास के उत्साह वर्धक नियमों के प्रति आस्था भी बनी रही।

फिर भी उन्होंने उक्त एकता के अंतर्गत लक्षित होनेवाली अनेकता की ही ओर अधिक ध्यान दिया और भिन्न भिन्न वर्गों को एक स्तर से दूसरे तक पहुंचाने वाले उनके आभ्यंतरिक गुणो को कुछ भी महत्त्व न देकर उसका सारा श्रेय केवल उस पारस्परिक होड़ को ही दे डाला। जिन बातो के कारण हमें एक वर्ग को दूसरे से विकसित मानना पड़ता है उनकी उन्होंने उपेक्षा कर दी और केवल बाहरी व्यापार मात्र को प्रधान कारण मान लिया। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि खनिज पदार्थों से वनस्पति वर्ग कई बातों में बढ़कर है और इसी प्रकार क्रमशः वनस्पति से जलचर, नभचर एवं पशुवर्ग तथा मानव भी एक दूसरे से, कुछ ऐसे गुणों के कारण, श्रेष्ठतर सिद्ध होते हैं जो कोई संघर्ष के ही परिणाम नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए साहचर्य, आत्मीयता व पारस्परिक सहायता की प्रवृत्ति जो अनेक पशु-पक्षियो तथा कभी कभी क्षुद्र जंतुओं तक में लक्षित होती है वह केवल संघर्षजन्य ही नहीं कहला सकती और न इसी प्रकार मानव वर्ग के प्रेम, दया, दाक्षिण्य, सौहार्द व संतोष जैसे गुणोंका संघर्ष की स्थिति में, कभी प्रदर्शन भी किया जा सकता है। संघर्ष की दशा में काम करने वाली तो वे ही प्रवृत्तियां समझी जा सकती है जिनका संबंध लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि के भावों से रहता है और जो इसी कारण, उन गुणो की भांति रागजनित न होकर द्वेष वा अलगाव के कारण उत्पन्न हुआ करती हैं।

विकासवाद के सिद्धांत बड़ी खोज व गवेषणा के अनंतर स्थिर किये गये थे और उन्हें विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया था तथा उनकी आधारभूत विचार-धारा को विज्ञान, इतिहास, ज्योतिष, आदि की कसौ-टियों पर जांच भी लिया गया था। फिर भी उस वाद के प्रमुख आचार्य स्वयं डार्विन साहब को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि दया, दानादि नैतिक गुणों के अस्तित्व का पूरा समाधान उनके द्वारा निर्दिष्ट जीवन-संग्राम के सिद्धांतों के सहारे नहीं किया जा सकता। स्पेन्सर ने भी आगे चल कर यही बतलाया कि इस प्रकार के नैतिक गुणों के उदय व विकास की कहानी रहस्यमय है और वह केवल प्रकृति को ही पूर्णतः विदित होगी। इसके सिवाय ! क अन्य विकासवादी हक्सले साहब ने, इसके स्पष्टीकरण में यहां तक सिद्ध करना चाहा कि मानव समाज के भीतर प्रचलित प्रायः सभी नैतिक नियम प्राकृतिक नियमों के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं और इनकी ओर से सदा सतर्क रहना चाहिए। तो भी निट्शे जैसे कुछ विचारक अपनी ठेठ विकासवाद की धारणाओं पर ही अड़े रह गए और इन्होंने भी

उधर के लोगों को सब से अधिक प्रभावित कर उन बार्बरिक कृत्यों के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्रिंस क्रोपाट्किन ने जीवन संग्राम की कटुता के स्थान पर अपने पारस्परिक साहाय्य (mutual aid) संबंधी नियमों का सद्भाव अवश्य रखना चाहा और उसे अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया किन्तु इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया।

जीवन-संग्राम को इतना अधिक महत्त्व देने और इसे मानव विकास को अग्रसर करने वाली, शक्ति तक का पद प्रदान करने वालों का कहना है कि इसकी प्रवृत्ति हमें अपने समाज के आदिकाल से ही लक्षित होती है। जीवन-संघर्ष ने न केवल हमें अपने से दुर्बलों व निर्बलों पर विजय करा कर हमारे लिए विकास का क्षेत्र निर्माण किया है, प्रत्युत इसी के द्वारा प्रेरित होकर हमने अपने लिए नवीन प्रदेशों की खोज की है, नये नये आविष्कार किये हैं तथा ऐसे ऐसे साधनों की रचना कर डाली है जो हमारी नित्यशः बढ़ती जाने वाली जनसंख्या की स्थिति में भी हमें किसी अभाव का अनुभव नहीं करने देते। जीवन-संग्राम के लिए प्रयत्न करते करते ही हमने अपने लिए सुंदर व विशाल निवास स्थान बना लिए हैं, भिन्न भिन्न प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थों को तय्यार करना जान लिया है, देश काल के विस्तार को संकुचित कर अपना कार्य यथाशीघ्र सम्पन्न करने का प्रबंध कर लिया है और अपने उपार्जित वैभव के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था भी कर डाली है। जीवन-संग्राम ने पहले हमें अपनी रक्षा व विस्तार के लिए प्रेरित किया था और वही आज हमें अपने सुख के साधन जुटाने तथा उनकी सहायता से अपनी सभ्यता निर्माण करने में भी सहायक हो रहा है। अत एव, जीवन-संग्राम की प्रवृत्ति न केवल हमें उत्तेजित करती है, बल्कि हमें सुख की ओर भी ले जाती है।

परंतु जीवन-संग्राम हमें जिस सुख की ओर ले जाता है वह क्या कभी दुःखों से अमिश्रित रहा करता है? क्या छीना झपटी द्वारा प्राप्त की गई वस्तुके फिर उसी प्रकार हाथ से चले भी जाने की आशंका नहीं बनी रहती? फिर, क्या आत्मरक्षा व आत्मप्रसार जिनके लिए हम जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं केवल घोर संघर्ष के बल पर ही साध्य हैं? क्या आत्मरक्षा कोरी पाशवी शक्ति पर ही निर्भर है, उसके लिए विविध प्रकार की परिस्थितियां भी नहीं अपेक्षित हुआ करतीं? और आत्म-प्रसार के मूल में तो एक प्रकार के उत्सर्ग की ही भावना काम करती है जो हमें, अपने को एक से अधिक देखने के लिए, उदार बन जाने को विवश कर

देती है। यह सच है कि मानव-समाज के अविकसित रूप में हमें इस प्रकार की बातें स्पष्ट नहीं दीख पड़तीं और आत्मरक्षा एवं आत्म-प्रसार के निमित्त किये गए बाह्य प्रयत्नो की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। किन्तु इनके अस्तित्व को न मानने का कोई भी कारण नहीं। ये बातें प्रकृति के अंतर्गत बीज रूप में सदा से विद्यमान रहती आई हैं और इनका विकास भी हुआ करता है। आत्म-रक्षा की भावना ने एक को दूसरे के साथ सम्मिलित होकर रहने की ओर आप से आप प्रवृत्त किया होगा और आत्मप्रसार की प्रवृत्ति ने भी, उसी प्रकार, एक को अधिकाधिक 'अपना' उत्पन्न करने के कार्य में लगाया होगा। ज्यों ज्यों मानव-समाज का विकास होता गया त्यों त्यों इस प्रकार की बातें और भी शक्ति ग्रहण करती गई और उन्हें सहयोग प्रदान करने वाली अन्य समान नैतिक भावनाएं भी साथ ही साथ विकसित होती गईं और इन सब ने मिल कर हमें आज तक नष्ट होने से बचाया है।

जीवन में दीख पड़ने वाले उस संघर्ष का वास्तविक अभिप्राय भी क्या है जिसके कारण जीवन-संग्राम की कल्पना की जाती है? संघर्ष की क्रिया एक से अधिक वस्तुओं में हुआ करती है जब उन सब के मार्ग कुछ न कुछ भिन्न होते हैं और एक के दूसरे के साथ टकरा जाने तथा उनमें से किसी न किसी पर इस बात का आघात पहुंचने की संभावना होती है। समाज के अंतर्गत ऐसी स्थिति इस कारण संभव होती है कि किसी एक व्यक्ति वा व्यक्ति समूह का हित दूसरे के ठीक समान नहीं हुआ करता। एक यदि किसी कार्य का परिणाम अपने लिए हितकर समझता है तो दूसरा उसे ही अपने हित के विरुद्ध मान लेता है। दोनों को अपनी अपनी भलाई की चिंता रहा करती है, अत एव, एक दूसरे को अपना शत्रु मान कर उसके विरुद्ध आचरण कर बैठता है। अंत में दोनों की प्रतिद्वंद्विता के कारण एक की हानि और दूसरे का लाभ हो जाता है। इस प्रकार इस संघर्ष की सारी योजना क्रिया में दो बातें सब से अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं और इन्हीं दो के कारण, साधारण संघर्ष का अवसर भी संग्राम पैदा कर देता है। एक तो यह कि सभी व्यक्तियों वा व्यक्ति-समूहों का हित एक समान नहीं हुआ करता और दूसरा यह कि, इसी कारण, किसी भी कार्य व घटना का परिणाम उनमें से किसी एक के प्रतिकूल जाता हुआ समझ पड़ता है। इन दो में से भी केवल प्रथम ही अधिक विचारणीय है, क्योंकि उसीमें पूर्ण विश्वास रखने के कारण कोई दूसरे की ओर भी ध्यान देता है।

तो क्या एक का हित दूसरे के हित से, वास्तव मे यहां तक भिन्न है कि दोनों की साधना एक साथ संभव नहीं हो सकती? यह प्रश्न हमारे हृदय में दुर्भाग्यवश बहुत कम उठा करता है और इसके उठ जाने पर भी कभी गम्भीरता से विचार नहीं होता, यदि कुछ गम्भीरता के साथ सोचा जाय और किसी एक के भी हित के स्वरूप पर समुचित ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट दीखने लगेगा कि उसके शुद्ध व सादे शरीर पर अनेक प्रकार के आवरण चढ़े हुए हैं और उसका आकार-प्रकार तक विकृत हो गया है। हमारा वास्तविक हित किस बात में है यह बहुधा हम जान भी नहीं पाते और केवल उन्हीं बातो पर विशेष ध्यान देते है जो हमें क्षणिक वा तात्कालिक लाभ के रूप में उसके ऊपर ऊपर से दीख पड़ती है। जीवन-संग्राम में निरत रहने की भावना ने हमारे भीतर ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि की प्रवृत्तियों को जागृत कर रखा है जो हमारे तथा हमारे आत्यन्तिक हित के बीच एक पर्दा सा डाल देते हैं और, उसके रंगीन पट के चमत्कारो से आकृष्ट हो जाने के कारण, हम बहुधा भुलावे में पड़ जाते है। यदि इस प्रकार के पर्दे हमारी आंखो के सामने से किसी प्रकार हटा दिये जा सकें तो हम सभी के समक्ष प्रायः एक सी ही बातें लक्षित होगी और हमारे स्वार्थ एव परमार्थ में एक प्रकार का पूर्ण सामंजस्य जान पड़ेगा।

[२]

विकासवादी को विश्व की एकता व उसकी नियमित प्रगति में अटूट विश्वास है, किन्तु जीवन-संग्राम की धारणा उसे उन मानवी वृत्तियो पर ही विचार करने को विवश करती है जो केवल संघर्ष में ही काम आती है। उन पर विचार करता करता वह उन्हीं के प्रवाह में बह निकलता है और जिन गुणों के विद्यमान रहने के कारण हम उक्त समर में विजय लाभ करते हैं उन पर गंभीरता पूर्वक सोचने का वह कभी प्रयत्न तक नहीं करता। वह पाशवी शक्ति, छल, कपट, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा आदि के कारनामो की बराबर चर्चा करता है, किंतु प्रेम, दया, सहयोग आदि को कोई स्थान तक नहीं देता। फिर भी यह स्वीकार कर लेना वास्तविकता से दूर नहीं कहा जा सकता कि उक्त दूसरे प्रकार की वृत्तियों की धाक हमारे ऊपर सदा बनी रहती आई है और उनकी उपयोगिता या महत्त्व को उन लोगों ने भी सिद्ध करने की चेष्टा की है जो उक्त प्रथम प्रकार की वृत्तियों से पूर्णतः प्रभावित समझे जाते रहे हैं और जो, वैसे होने पर भी, अपनी विजयके इच्छुक है। गत महायुद्ध के समय हिटलर. मुसोलिनी एवं तोजो

जैसे युद्ध के प्रेमियों ने भी सदा इसी बात की दुहाई दी थी कि हम सत्य व शांति के नाम पर लड़ रहे हैं और हमें विश्व-कल्याण का उद्देश्य लेकर ही, ऐसे क्रूरकर्मों में प्रवृत्त होना पड़ रहा है। वे समय समय पर इन बातों की बराबर घोषणा करते रहते थे और अपने प्रतिपक्षियों में ऐसी ही बातें दिखलाते थे जो नीतिविरुद्ध थीं। हम अपने दैनिक जीवन में भी इस बात के अनेक उदाहरण पाते हैं। असत्यवादी सदा सत्य की दुहाई देकर अपने कथन में विश्वास उत्पन्न कराना चाहता है, एक राष्ट्र दूसरे पर आक्षेप करते समय लोकहित की भावना को सर्व-प्रमुख स्थान देता है और छल, कपट एवं धोखे से जितने भी काम किये जाते हैं वे किसी के ऐसे विश्वास के कारण ही सफल हुआ करते हैं, जो उसके हृदय में अपने मानव बंधु की हित कामना से प्रेरित होकर स्वभावतः जागृत हो जाया करता है।

क्या हम, वास्तव में, एक दूसरे को सदा अपना प्रतिस्पर्धी ही समझा करते हैं और अपने सभी कार्य सशंकित रह कर करते हैं? यदि ऐसा है तो हम अपने किसी भी कार्य के परिणाम की पूरी आशा न कर सकें और न अपनी किसी संस्था के ही स्थायित्व में हमारा विश्वास जम सके। अच्छे से अच्छे कामों का सफल होना अधिकतर इसी अनुमान पर निर्भर रहता है कि हमारे उद्देश्य से अनेक लोग सहमत होंगे और उसके समर्थन में ऐसे लोग हमें सक्रिय सहयोग तक प्रदान कर सकेंगे। हम लोग सब किसी को अपना शत्रु स्वभावतः मान कर नहीं चला करते और न ऐसी समझ के रहते हुए हम कभी कुछ कर ही सकते हैं। प्रिंस क्रोपाट्किन का कथन है कि, "हमारे पास अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक आँसू रहता है और आनंद का अनुभव करने की हमारी शक्ति भी कभी अकेले व्यवहार में नहीं आती। अकेला मनुष्य सदा गिरी दशा में रहा करता है और उसे दूसरों पर अपने विचार व भाव प्रकट किये बिना कभी चैन नहीं मिलता। जब हमें कोई विशेष आनंद मिलने लगता है तो यह इच्छा आप से आप होती है कि कोई दूसरा भी मेरी इस दशा से परिचित होता; हमारा अनुभव, हमारा प्रेम, हमारा जीना तथा हमारी लड़ाइयाँ तक केवल इसी पर निर्भर हैं।.......पौधा बिना फूले नहीं रह सकता, यद्यपि कभी कभी फूलना ही उसकी मृत्यु का कारण भी हो जाया करता है। सब शक्तियों से सम्पन्न मनुष्य की भी यही दशा है। वह अपने जीवन को विस्तृत करना चाहता है और वह यदि निरंतर काम न करता रहे तो जीवित नहीं रह सकता। प्रिंस क्रोपाट्किन ने साइबीरिया के जंगल, स्विट्जरलैंड के पहाड़ तथा स्वीडन के मैदानों में रहने वाले विभिन्न प्रकार के प्राणियों से लेकर फ्रांस

व इंग्लैंड के शिक्षित व सभ्य लोगों को भी भली भांति देखा भाला था और उनका कहना था कि मेरे अनुभव में 'जीवन-संग्राम' के उत्कृष्ट उदाहरण कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। इसी कारण उन्होंने डार्विन आदि की संघर्ष संबंधी धारणाओं को सर्वमान्य ठहराने में आपत्ति की और 'पारस्परिक साहाय्य' का सिद्धान्त निश्चित किया।

भारतवर्ष में उक्त सारे प्रश्नों पर विचार करने का दृष्टिकोण कुछ और ही रहता आया है। यहां के मनीषियों ने विश्व की एकता में लक्षित होने वाली अनेकता का प्रधान कारण उस 'मैं-तू' के भेद-भाव को माना है जो स्वार्थ व परार्थ के बीच गहरी खाई बना देता है और जो एक को किसी अन्य के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने का कभी अवसर ही नहीं देता। इस पृथक्त्व की भावना के कारण हम समझने लगते हैं कि हमारा दूसरों के सुख दुःख से कुछ भी संबंध नहीं। केवल अपने ही स्वार्थसाधन में हमारी भलाई है। ऐसी स्थिति के रहते हमें, किसी अन्य का स्वार्थ-घात करते समय कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु जिस दिन हमें अपने पहले किये गए स्वार्थपर कर्मों का लेखा जोखा लेने का कभी अवसर मिल जाता है और हमें सूझ पडता है कि उनसे हमें वस्तुतः कोई स्थायी व यथार्थ सुख नहीं मिला है और न उनके त्याग से हमारी वैसी हानि ही हो जाती तो, हम अपने उन कृत्यों पर एक बार फिर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं और कह उठते हैं कि इसके कारण हमने व्यर्थ ही दूसरो का भी स्वार्थघात किया। कुछ और अधिक चिंतन करने पर हमें यह भी प्रतीत होने लगता है कि विश्व की एकता अक्षरशः सत्य है और, व्यापक दृष्टि व उदार-हृदयता के साथ देखने से, हमारे तथा इतर प्राणियो के हितों में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं जान पड़ता। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्राणिमात्र के एकत्रीभूत स्वार्थ को ही दूसरे शब्दों में परमार्थ कहा जाता है। इस वृत्ति को ग्रहण कर सुधर गई हुई मानसिक स्थिति को ही आत्मौपम्य दृष्टि कहा करते हैं जिसके अनुसार दूसरों के हित का घात करना अपना ही स्वार्थघात समझ पड़ने लगता है।

ऐसी समदृष्टि के आने पर ही धर्म के यथार्थ रूप का आविर्भाव होता है और उसके शाब्दिक अर्थ (ध्रियते अनेन इति धर्मः अर्थात् जो इस विश्व का आधारभूत नियम है वही धर्म है) की सच्ची संगति बैठ जाती है। इस समबुद्धि के साथ विचार करने पर व्यक्तिगत मोक्ष व समदृष्टिगत कल्याण में कोई भी अंतर नहीं दीख पड़ता। इस समबुद्धि को ही 'अहिंसात्मक बुद्धि' नाम दिया जाता है क्योंकि इसके ही बने रहते

अत्याचारी से भय का अनुभव नहीं होता और न उसके प्रति द्वेष वा प्रति हिंसा की भावना जागृत होती है, अपि तु एक ऐसे वातावरण का उदय हो आता है जिसके प्रभाव में पड़ कर हिंसात्मक वृत्ति भी शिथिल पड़ जाती है। इस समदृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते समय किसी संत ने कहा है कि–

सम दृष्टी तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एकसी सोय॥

और, उक्त अहिंसा का परिणाम बतलाते हुए, रज्जबजी ने कहा है कि–

रज्जब अज्जब काम है जो दिल न दुखाया जाय।
यहाँ खलक उस पर खुशी, आगे खुशी खुदाय॥

कबीर, दादू, मलूक, प्रभृति संतों ने इस विषय की चर्चा अनेक बार की है और इसे अपने शब्दों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है। कबीर साहब, समस्त प्राणियों की समानता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि–

हम तौ एक एक करि जाना
दोइ कहै तिनको है –दोजख जिन नाहिन पहिचाना।
एकै पवन एक ही पानी, एक जोति ससारा।
एक हि खाक घडे सब भाँडे, एक ही सिरजन हारा॥

और इसी कारण मलूकदास ने जीवहिंसा करने वालों के विषय में कहा है कि–

कुंजर चीटी पशू नर, सब में साहब एक।
काटे गला खोदायका, करे सूरमा लेख॥

एक ही समान पंच तत्त्व की रचना होने के कारण सब में स्वाभाविक समानता है और "खाक एक सूरति बहुतेरी" होने से ही इनकी एकता में अनेकता का आभास हो जाता है। दादू के अनुसार इस बात पर विचार करना चाहिए कि, वास्तवमें–

आपै मारै आपकौ, आप आपकौ खाइ।
आपै अपना काल है, दादू कहि समझाइ॥

कबीर साहब तो उक्त प्रकार से हत्या करने वाले की ही श्रेणी में वृक्षों की पत्तियाँ तोड़ने वालों को भी गिनते जान पड़ते हैं, जैसे–

पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीउ।
जिसु पाहनको पाती तोरै सो पाहनु निरजीउ॥
भूली मालिनी है एउ। सति गुरु जागता है देउ॥
ब्रह्म पाती बिष्णु डारी फूल संकर देव।
तीन देव प्रतख्य तोरहि करहि किसकी सेव॥

परंतु ये संत अहिंसा संबंधी अपने विचारो को केवल प्रत्यक्ष हिंसा व कष्ट तक ही सीमित नहीं रखना चाहते। और यद्यपि सुंदरदास ने एक स्थल पर--

मन करि दोष न कीजिए, वचन न लावै कर्म।
घात न करिए देहसों, इहै अहिंसा धर्म॥

कह कर अहिंसा के स्वरूप का परिचय दिया है, फिर भी अन्य संतों ने इसे अधिकतर 'निर्वैर' कहना ही पसंद किया है। उदाहरण के लिए संतों का लक्षण बतलाते समय कबीर साहब ने बतलाया है कि वह "निरवैरी" 'निहकाम' 'साई से नेह रखने वाला' और 'विषियासू न्यारा' हुआ करता है और यहां 'निर्वैर' को ही उन्होने प्रथम स्थान भी दिया है। जैसे--

निरवैरी निहकामना साई सेती नेह।
विषिया सू न्यारा रहे, संतनिका अंग एह॥

और इसी प्रकार दादू ने भी बतलाया है कि--

निरवैरी सब जीवसों, संत जन सोई।
दादू एकै आतमा, वैरी नहि कोई॥

इसके सिवाय दादू ने तो एक स्थल पर इस निर्वैर धर्म को ही संत मत का सार वा सर्वस्व तक मान लिया है, जैसे--

निरवैरी निज आतमा साधन का मन मार।

और इस एक पंक्ति से ही उसका महत्त्व बहुत स्पष्ट हो जाता है।

परतु यह निर्वैर धर्म अत्यत कठिन है और इसके नियमो का पालन करना सबके लिए संभव नहीं कहा जा सकता। अत्याचारी को अपने समक्ष खड्गहस्त खड़ा देख कर सर्व साधारण के हृदय मे भय वा क्रोध का भाव तत्क्षण जागृत हो जाता है और वह क्रमशः आत्मरक्षा वा प्रतिहिंसा के कार्य में प्रवृत्त होकर अपना मानसिक सतुलन खो बैठता है। इसी प्रकार निंदा, अपमान, धमकी आदि की बातें सुन कर भी हम अपना धैर्य खो देते है और वक्ता से बदला चुकाने पर उतारू हो जाते है। परंतु निर्वैरी साधु ऐसा नहीं करता; वह ऐसे असह्य आक्रमण को भी सहन कर लेता है। कबीर साहब का कहना है कि--

खूदन तौ धरती सहै, बाढ सहै बनराइ।
कुसबद तो हरिजन सहै, दूजै सहा न जाइ॥

इतना ही नहीं। वे ऐसे साधु के प्रति यह भी कहते है कि--

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख देइ॥

अर्थात् दूसरों की ओर से वाग्बाण बरसते रहने पर भी, सुंदर शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। कबीर साहब को तो अपने उस ठगे जाने में भी आनंद है,

जिसे आज के लोग अपनी बहुत बड़ी पराजय समझा करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्या सुख ऊपजै, और ठग्या दुख होइ॥

वास्तव में ऐसा निर्वैरी एक विचित्र जीव हुआ करता है जिसके विषय में रज्जबजी ने कहा है कि—

औगुण ढाके और के, अपने औगुण नाहिं।
रज्जब अज्जब आतमा, निरवैरी जग माहिं॥

और इसी कारण इनके अनुसार उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। ये कहते हैं कि—

नर निरवैरी होत ही, सब जग वाका दास।
रज्जब दुविधा दूर गई, उर आए इकलास॥

और ऐसी स्थिति के आने पर संघर्ष की सम्भावना भी नहीं रह पाती॥

अतएव, समदृष्टि वा आत्मौपम्य बुद्धि के आने पर हमें केवल सारे विश्व में एकता ही नहीं दीख पड़ती, अपितु सभी प्राणियों का हित भी अपना ही हित जान पड़ने लगता है और हम दूसरों के स्वार्थ पर आघात करने से स्वभावतः विरत हो जाते हैं। इस दशा तक पहुँच जाने पर हमारे भीतर, अपने प्रति अनिष्ट करने वाले के लिए भी, दुर्भावना जागृत नहीं होती और हम सब कुछ सह भी लेते है। इस मनोवृत्ति के ही कारण हम दूसरों के प्रति प्रेम, दया, परोपकार आदि के सद्भाव प्रदर्शित किया करते हैं। सब के साथ मिल जुल कर रहने, सब के दुःख में दुःखी होने तथा सुख में प्रसन्नता अनुभव करने का स्वभाव भी इसीके द्वारा पड़ता है। समत्व की बुद्धि का कुछ न कुछ परिचय हमें मनुष्योत्तर प्राणियो की उन स्वाभाविक प्रेरणाओं (Natural instincts) में भी मिला करता है जिनके कारण वे अपने बच्चे तथा अपने वर्ग की रक्षा में अनायास प्रवृत्त हो जाया करते हैं। जंगली जानवरों का, अपने वर्ग वालों के समूह बना कर ही घूमना फिरना, अपने में से किसी एक पर भी आघात पहुँचाने पर सब किसी का उसके प्रतिकार के लिए उद्यत हो जाना तथा हिंस्र पशुओ तक का अपने बच्चो के प्रति स्नेह भाव रखना मूलतः उसीके कारण होता है। मानव-समाज के भीतर पाये जाने वाले प्रायः सभी नैतिक गुण उसीके आधार पर प्रकट हुए दीख पड़ते हैं। समत्व बुद्धि वाले का जीवन-संग्राम बाहर न होकर अपने उन भीतरी षड्रिपुओ अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के साथ चला करना है जिनकी प्रबलता ही सभी अनर्थों की जड़ है और जिन पर विजय पा लेने पर ही उक्त निर्वैर धर्म का—अहिंसा धर्म का पालन संभव होता है। महात्मा गान्धी ने अपने 'सत्य के प्रयोग' इसी उद्देश्य से किये थे और विकासवाद वाले अति मानव (Superman) का स च्चा आदर्श भी, कदाचित् इसी ओर संकेत करता हुआ समझ पड़ता है।

रे मन, कर सदा सन्तोष

प्रो॰ राजकुमार साहित्याचार्य

"आशाया ये दासास्ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषा दासी तेषा दासायते लोक.॥"

जो आशा के गुलाम है, वे समस्त संसार के गुलाम है और जिन्होंने आशा पर विजय प्राप्त कर ली है, संसार उनकी सेवा के लिए उपस्थित रहता है।

आशा की दासता और आशा-विजय—ये दोनो विभिन्न वस्तुएँ है और इनके परिणाम भी जुदे-जुदे है, जैसा कि किसी कवि ने अपनी एक उल्लिखित सूक्ति में निर्देश किया है।

आशा की ज्वाला इतनी प्रबल और उद्दाम है कि मनुष्य का इस ओर झुकाव होते ही वह इसकी लपटों से आक्रान्त हो जाता है और अपना सर्वस्व खो बैठता है। इसके विपरीत जीवन मे वही सफलता प्राप्त कर सकते है जो आशा के वशवर्ती न होकर संतोष के पथ पर अग्रसर हुए है। जीवन का सुख संतोष में है, परन्तु मनमे जब तक लोभ और आशा की अणुमात्र भी वासना जागृत रहेगी, मानव सुखी नही हो सकता।

महाकवि बनारसीदास यहां मन को संतोष के पथ पर प्रयाण करने का ही उद्‌बोधन कर रहे है उनका सहज व्यक्त उद्‌बोधन देखिए—

"रे मन, कर सदा सतोष,
जातें मिटत सब दुख-दोष।
रे मन कर सदा सतोष॥

अरे मन, तू सर्वव सतोष धारण कर। तुझे मालूम नहीं, इस संतोष के आश्रय से ही संसार के समस्त दुख और दोष दूर होते है।

रे मन, तू सदैव संतोष धारण कर।

कलाकार यहां असन्तोष का बीज दिखला रहे है—

"बढ़त परिग्रह मोह बाढत
अधिक तिसना होति।
बहुत ईंधन जरत जैसे
अगनि ऊची जोति॥
रे मन कर सदा सतोष॥"

परिग्रह के बढ़ने से मोह बढ़ता है और मोहके बढ़ने से तृष्णा बढ़ती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि में अधिक ईंधन के डालने से उसकी ज्वाला और अधिक ऊँची होती जाती है।

रे मन, तू सदैव संतोष धारण कर।

देखिए, कलाकार परिग्रह-संबंध के मूल मे छिपी हुई किस रहस्यपूर्ण अन्तर्वृत्ति का उद्‌घाटन कर रहे हैं –

"लोभ लालच मूढ जन सो,
कहत कंचन दान।
फिरत आरत नहिं विचारत,
धरम धनकी हान।।
रे मन कर सदा संतोष।"

मानव परिग्रह-संचय करके सुवर्ण का दान करता है और कहता है हमारे परिग्रह में कौन-सा पाप है। हम तो ऐसा करके सुवर्ण-दान तक करते हैं? परन्तु यह मूर्ख परिग्रह-सचय के पृष्ठवर्ती लोभ और लालच की सीमा पर कुछ भी विचार नहीं करता, जिसकी प्रेरणा से यह परिग्रह संचित किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस संचय की आर्ति में जो यह अहर्निश निमग्न रहता है और इस प्रकार जिस धर्म धन की हानि उठाता उस ओर तो इसका ध्यान ही नहीं जाता।

रे मन, तू सदैव सतोष धारण कर।

देखिए, कलाकार ने आशा के पीछे मरने वालो का कैसा बीभत्स चित्र खींचा है –

"नारकिन के पाइ सेवत,
सकुच मानत सक।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि'
को नृपति को रंक।।
रे मन कर सदा सतोष।"

मूढ़ मानव आशा के पीछे नारकियों के–अन्यायी धनियों के पैर पूजता है–उनकी गुलामी करता है और अपने को दीन समझ कर सदैव संकोच करता है और संदिग्ध बना रहता है। इसे इतना आत्मभान नहीं हो पाता कि प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर अनन्त ज्ञान और शक्ति का पुञ्ज छिपा हुआ है और वह संसार में सब कुछ कर सकता है।

रे मन, तू सदैव संतोष धारण कर।

मैं, विश्व और शान्ति

श्री जैनेन्द्रकुमार

जब मैं इस दुनिया में आया तो वंश, परिवार या दौलत की पूंजी ले कर नहीं आया। पुस्तकों के ज्ञान का सहारा नहीं मिला, इसलिये किसी भी 'इज़्म' (ism) की मार्फत देख नहीं सका। जीवन को आसान कर देने वाली कोई सुविधा नहीं मिली। किसी की कल्पना नहीं थी कि मैं लिख या बोल सकूंगा।

परन्तु न पढ़ना, जिसे मैं दुर्भाग्य समझता था, सद्भाग्य बन गया है।

मैं गूंगा, बेकार और निकम्मा समझा जाता था। लिखने से जी चुराता था। प्रोफेसर को शिकायत रहती थी कि यह लड़का कभी निबंध लिखकर नहीं लाता।

फर्स्ट ईयर पास हो गया, गोया काफी चकमा दे गया। परन्तु एक बार क्लास में बेंच पर खड़ा कर दिया गया तो लड़कों ने हैरत से देख लिया कि कैसे-कैसे बेवकूफ आ जाते हैं जिन्हें न जाने कौन मैट्रिक में पास कर देता है। यह हालत थी।

किन्तु न जाने क्या हो गया है कि अब लगता है कि वही सद्भाग्य समझा जा सकता है।

अब कैफियत यह है कि मैं बात वही कह सकता हूं जो मेरी है। शुद्ध भाषा का भी मुझे पता नहीं। भाषाओं के रूप मुझे उपलब्ध ही नहीं हैं।

जब 'परख' निकली तो आलोचना हुई कि भाषा टकसाली नहीं है। उद्भट आलोचक स्वर्गीय श्री अवध उपाध्याय ने तो लिख दिया कि लेखक की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है। यों पुस्तक उन्हें समझदार की जान पड़ी। जैसे कि समझदारी की बात लिखनेवाला तो हिन्दी-भाषी हो ही कैसे सकता है!

ठीक-ठीक रूप में हिन्दी जानता हूं यह भरोसा ही मुझे नहीं होता।

कहा गया कि गांधीजी चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा के के सदस्य बन जाओ। मैं सदस्य बन गया। हिन्दी की शोभा और वृद्धि मैं उसमें देखता था, और देखता हूं। कोई भी भाषा अगर जीवन की है तो वह बन्द नहीं हो सकती। मेरा ईमान था कि हेल-मेल सब तरफ

बढ़ते जाना चाहिये। फिर उर्दू से भी क्यों नहीं? किसी वस्तु से डरना या उसे भूत समझना ही निषेध-वृत्ति को जन्म देता है। अंग्रेजी को भी यदि प्रभुता की बजाय इन्सान की भाषा मानें तो कोई वजह नहीं कि विद्रोह हो।

मौलिक होने का विचार या प्रयत्न नहीं था, मेरी निरीहता ने ही मुझे सहारा दिया। बहुत ही अकेला आदमी था। जीना निस्सार मालूम होता था। देखा कि दुनिया में जीना आसान नहीं है। आजीविका का सवाल सामने था। जीवन भार था। जीने से छुट्टी ले सकता था, मगर माँ का बन्धन था। माँ मेरी दुनिया थी। सोचा, पर न मरा गया।

माँ ने पढ़ाया; उसी में उनका सर्वस्व लग गया।

अब सोचा कि कोई हमारा उपयोग कर ले और रोटी मिल जाय। परन्तु ऐसा कोई न मिला। कलकत्ते गये। वहाँ भी २५ रुपये की भी नौकरी न मिली। अगर मैं किसी फर्म के लिये विज्ञापन आदि ला सकता तो 'उपयोगी' समझा जा सकता था। अन्त में, जो थोड़ी-बहुत अंग्रेजी जानता था उसके बल पर एक हिन्दी मासिक-पत्र में क्लर्की का काम मिला। पत्र स्वयं तो मेरे लिये अन्तःपुर था, यानी उसमें छपनेवाली साहित्य-सामग्री के बारे में जिज्ञासा तक रखने का मै अधिकारी नहीं माना जाता था। उनका ख्याल था यह बेचारा क्या समझे। खैर, मगर महीने सवा महीने में वह क्लर्की भी छूट गई।

जब जीना यूं मुहाल हो रहा था कि अपने को स्नेह के क्षेत्र में पाया। स्नेह का आना आसान है, स्वीकृति नहीं। वहाँ दिक्कत होती है। तब 'परख' जीने के लिये लिखी गई, छपने के लिये नहीं।

लेखकों को मैं अपर लोक के जीव मानता था। तस्वीर का छप जाना तो और भी बड़ी बात थी। डूबते को पानी ही ऊपर फेंकता है, ऐसा ही कुछ हुआ होगा। छपाई में आ गये। मामला व्यक्तिगत से सामाजिक हो गया। पहली चीज 'विशाल भारत' में छपी, मगर मेरे नाम पर नहीं छपी; पाँच रुपये का मनीआर्डर जरूर आया। पैसा तो एक तिलिस्म था। जैसे उस तिलिस्म-घर की चाभी बन कर ही मनीआर्डर आया हो।

व्यक्ति अगर अपने में अपने को रोके तो इससे रोग की गाँठ पैदा हो जाती है। न रोके तो वह समाज की ओर बढ़ जाता है। अपने को दे देना ही व्यक्ति की मुक्ति और समाज का कल्याण है। अगर मैं अन्दर ही अन्दर अपने को घुमड़ने देता तो 'टी० बी०' सरीखे किसी रोग का शिकार हो जाता और मुक्त हो जाता, छुट्टी पा जाता। परन्तु लिखना

जो शुरू किया तो दूसरों से संबंध स्थापित हो गया। पाठकों के साथ एक प्रकार के सूत्र से जुड़ गया। यूं, स्थिति व्यक्तिगत से सामाजिक हो गई। इसी प्रकार वह आगे चल कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो जाया करती है।

आदमी बुद्धिमान् होता नहीं है, बनता है। यदि आदमी प्रकृत आदमी रहे तो कोई झगड़ा न हो, मगर बुद्धिमान् बन जाने पर दो व्यक्ति एक ही समस्या को ले कर दुश्मन बन जाते हैं। लड़ाई तक होने लगती है। मसलन् मार्क्स को ले कर 'टॉटस्कीज्म', 'स्टेलिनिज्म', वगैरह हजार 'इज्म' बन जायें तो कोई ताज्जुब नहीं। हम जीते उतना नहीं हैं जितना जानते हैं। यहां जीने की इतनी मांग है कि हम जाने क्या? मैं अब निश्शंक भाव से जीना सीख गया हूँ।

मेरी 'परख' छप तो गई थी, परन्तु कहानी या सफल कहानी क्या है यह नहीं मालूम था। मैं तो अविवाहित था; एक मित्र की पत्नी नई-नई आईं जो मैट्रिक पढ़ी थीं। उनसे पूछता और वह बतातीं, पर कहती: "इतना बताते हैं, तुम समझते ही नहीं हो।"

उन दिनों इतना पैसा तो होता नहीं था कि अखबार खरीद लें। एक साहब आये और अखबार उनका छूट गया। उसमें मैथिलीशरण गुप्त पर लेख था। नजर गई तो देखता हूँ कि उसकी पूंछ की तरफ काले हरूफ में इस, जैनेन्द्र, का नाम छपा है। लिखा था कि, 'मानना होगा कि आज हिन्दी में जैनेन्द्र जैसा कहानी की टैकनीक का मास्टर नहीं है, मगर वह अनीति का प्रचारक है!" अब यहाँ यह आलम है कि टैकनीक के सवाल पर हमेशा चुप रह जाना होता है। लोग समझते हैं, "देखा, ट्रेड सीक्रेट, नहीं बताता!" और कहते हैं—"कहानी की गढ़न्त के बारे में जितना जैनेन्द्र 'कान्शस' है उतना कौन होगा?" प्रचार मुझ से होता होगा तो अनीति का ही हो सकता था, क्यों कि नीति को जानता हूँ यह आज तक भरोसा नहीं है। लेकिन किसी टैकनीक का मास्टर कहाँ, किस रोज मैं बन गया यह नहीं जानता।

इन सब को एक-एक तरफ रहने दे कर निश्शंक भाव से जीने से ही काम चलेगा। बौखलाये-से तो हम रहते हैं अब भी। बुद्धि है तो भटकती रहेगी, जानना चाहेगी, पूछती रहेगी; परन्तु चलना, जीना होगा श्रद्धा के बल पर ही। अपनी पूंजी से अपना व्यापार चलता रहेगा तो ठीक, वर्ना उधार की पूंजी से कब तक चलेगा?

जानना, यह बहुत नाकाफी बात है। समस्यायें जानने ने पैदा की हैं। उदाहरण के लिये कम्युनिस्ट यह कहता रहेगा, 'यह पढ़ो, वह पढ़ो', और

जब तक वही न बोलने लगो जो वह चाहता है तब तक तुम्हारे अध्ययन में कुछ कमी है। चुनाव जब तक ठीक-ठीक वही न निकलने लगे मुंह से, तब तक पढ़ते ही रहिये। अभी एक सज्जन बोले, 'आपने आचारांग पढ़ा है ?' मैं ने कहा, 'नहीं तो', फिर बोले, 'आप एक बार आचारांग जरूर पढ़ें, जैन धर्म का पूर्ण तत्त्वज्ञान आप को तभी विदित होगा।

जो ज्ञान ठोस है, परखा हुआ है, वह सापेक्ष है। भावुक अस्थिर और ठोकरें खाते हुए देखे जाते हैं। समस्या यह है कि जो ठोस या लौकिक ज्ञान के आधार पर सम्पन्न है वह दूसरे को अपने से अधिक सम्पन्न नहीं देखना चाहता। यानी, इस आधार पर मिली सफलता खुद विफलता बन जाती है। धनाढ्यता सफलता समझी जाती है लेकिन धनाढ्य के लिये संशयशील होना उतना ही अनिवार्य है। धन इस तरह एक ओर प्रयत्न और दूसरी ओर भय का कारण बनता है।

इतनी समस्याएँ गरीबी में से नहीं उठतीं जितनी धनाढ्यता में से। आज की समस्या कठोर और कड़क, 'क्रिस्प' (crisp) है। उसमें 'एक्स-क्लूजिविज्म' (exclusivism) है—'या तो यह या मैं' इस समस्या का रूप जरूर बदल जाना चाहिये। उसका वर्तमान रूप है: 'या तो फैसिज्म या कम्युनिज्म', 'या तो अमेरिका या रूस', 'या तो कांग्रेस या आर० एस० एस०', 'या तो....या.....'

समस्या का यह रूप संघर्ष और युद्ध को कैसे खत्म कर सकता है ? मैं 'मैं' तभी तक था जब तक अपने ही अन्दर बन्द था। जड़ बन कर ही 'मैं' अपने में कैद रह सकता है। चेतन रूप में अनेकों के साथ हो जाता है। आज भी पत्नी से झगड़ा होता है; मगर झगड़े को झगड़े के रूप में चला कर कभी खत्म नहीं किया जा सकता। वह प्रेम से शांत होता है। हारजीत की भाषा से समाधान नहीं आता। पहला महायुद्ध 'लड़ाई से लड़ाई को खत्म करने के लिये (war to end war) था। मगर पहले महायुद्ध ने ही दूसरे को जन्म दिया। हिटलर आये; खत्म हो गये। पहले युद्ध के बाद जैसे 'लीग ऑफ नेशन्स' बनी थी, दूसरे युद्ध के बाद 'यू० एन० ओ०' बना दी गई है। मगर चूंकि महाशक्तियों में स्पर्द्धा अभी तक बनी हुई है तो एक लड़ाई और भी हो जायेगी। मेरी अबतक यह समझ में नहीं आता कि लड़ाई क्यों न हो। खराबी को ऊपर से तोड़ा जायगा तो वह कटेगी क्यों कर, सिर्फ अन्दर ही घुसेगी। और चूंकि हमारी दृष्टि बहिर्गत है इसलिये उसमें से तो लड़ाई ही आयेगी। दूसरे को अपने दृष्टिकोण से देखने लगें तो एक नये प्रकार की प्रवृत्ति शुरू हो

जायगी। फिर भी समस्याएँ तो खड़ी होती ही रहेंगी। समस्या समाप्त तो होनी ही नहीं चाहिये, वर्ना जिंदगी खत्म हो जाय; लेकिन उसका कसाव और तनाव तो जरूर ढीला हो सकता है।

वैज्ञानिक बताते हैं कि मानव जाति की मुक्ति इस अर्थ में तो एक दिन होने ही वाली है कि वह खत्म हो जायेगी। जब तक नहीं होती तब तक समस्याएँ तो रहनी ही चाहियें, परन्तु कोमल हो जायें, कड़क न रहें। वे पानी की तरह हो जायें, काच की तरह न रहें। इस तरफ के मुक्के में सामनेवाले के मुक्के के जोर से जोर आता है। कोई हवा या रूई पर उस जोर से मुक्का नहीं चलाता। 'बॉक्सिग' का अभ्यास करने वाले मुक्केबाजी का अभ्यास ऐसी चीज से करते हैं जो आघात को ले लेती है, लौटाती नहीं। इससे मुक्केबाजों को सन्तोष नहीं होता; उन्हें ऐसी चीज की जरूरत लगती है जो आघात दे। फिर ऐसी मुक्केबाजी से वे लोहू-लुहान होते हैं। इस प्रकार एक तरफ से कड़क वर्तन हो दूसरी तरफ से नहीं तो कड़कपन का जोर अकृतकार्य हो कर लौटेगा।

'एक्सक्लूसिविज्म' (exclusivism), 'एलिमिनेशन', (elimination) से, डिक्टेटर को एक बना देने से, करोड़ों में एकता नहीं आ सकती।

आज दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं—आर्थिक और बौद्धिक। आर्थिक प्रवृत्ति में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान में आदमी अनेक प्रकार के दबाव अनुभव करता है, मगर वह चाहता है कि दबाइश न रहे। करोड़पति बन कर भी आदमी देखता है कि वह एक हद तक स्वतंत्र है, उसके आगे वह जकड़ा हुआ है। इसलिये उसे चैन नहीं। लिहाजा उसे बढ़ना ही पड़ेगा: करोड़पति को अरबपति बनना ही होगा। पदार्थ की ओर प्रवृत्ति की दौड़ में बेचारा बुद्धिवादी अपने को बेहद पिछड़ा हुआ पाता है, इसलिये वह मुड़ कर उल्टी तरफ चलता है; वस्तु की ओर नहीं, विचार की ओर बढ़ता है। 'आदर्श' कह कर वह उधर से अपने लिये अपनी ऊँचाई पाना चाहता है। स्वप्न में से वह अपनी प्रवृत्ति शुरू करता है। पैर से नहीं दौड़ पाता तो बैठ कर कल्पना दौड़ाता है। आर्थिक प्रवृत्ति पदार्थ को सामने रख कर होती है; बौद्धिक प्रवृत्ति सूक्ष्म (abstract) को सामने रख कर। मगर ये दोनों प्रवृत्तियाँ "समग्र" से निरपेक्ष हो कर नहीं चल सकतीं। समग्र से बचने का अवकाश किसी को नहीं है। बौद्धिक को चाहिये कि समग्र को देखते हुये अपने को शोषित समझना छोड़ दे। अर्थधर्मी समझते कि स्वयं धनिक बना जा सकता है और दूसरे को निर्धन रहने दिया जा सकता है, परन्तु समग्र की माँग से वह छूटा हुआ

नहीं रह सकता। समग्र की प्रतीक है हमारे बीच में सरकार। सरकार आपकी कमाई का हिसाब लेगी, उस पर से टैक्स लेगी और हो सकता है कि कानून बना कर जरूरत से ज्यादा कह कर आपका धन न्याय की पूर्ति में आपसे छीन लेगी। इस तरह समग्र से बच कर चलना व्यक्ति के लिये अधिकाधिक असंभव होता जा रहा है। विचारशील और वस्तुशील जब तक वैयक्तिक दृष्टि रखेंगे तब तक खैर नहीं!

अब, सब से ज्यादा आग्रहपूर्वक एक बात कहूँगा। आज हमने समग्र को राष्ट्र में मूर्त किया है। आज 'भारतीय', 'भारत माता', 'राष्ट्र', हमारा समग्र बना हुआ है। यह भयंकर भ्रम है! समग्र को जब तक हम बाहर से लेंगे, चाहे फिर हम अपने समग्र को 'मानव जाति' ही क्यों न कर दें, तब तक हमारा निस्तार नहीं। वह समग्र नहीं, समग्र के रास्ते की मंजिल है। एक 'अखण्ड ऐक्य' के नीचे, समस्त समग्रताओं को हम स्वीकार करें। 'परम समग्र' को, 'परम सम्पूर्ण' को स्वीकार करें। वर्ना समग्रता उत्सर्ग की जगह भोग ले आने वाली है! यज्ञ को भोगोपभोग की प्राप्ति के लिये तो राक्षस किया करते थे। परन्तु सम्यक् यज्ञ वह है कि उत्सर्ग ही जिसका अन्त है। उत्सर्ग ही जहाँ भोग है, वहाँ भोग आता ही नहीं है।

हमें स्वराज्य मिला और भुखमरी बढ़ गई। स्वराज्य को हमने विधान (constitution) में देखना चाहा। राम-राज्य (जिसे तंत्र में नहीं बाँधा जा सकता) में नहीं। जिस स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयास हमारे बन्धनों को काट रहा था, उसकी प्राप्ति हमें बाँधने लगी है! जिन्हें आस्था है, थोड़ी-सी, सीधी या परोक्ष, उन पर बोझ है कि इस पतन से बचें और बचायें।

बौद्धिकवर्ग, लेखकवर्ग, के सामने चुनौती खड़ी है कि उससे उसका व्यक्तिगत (अपना) और समाजगत (समाजका) श्रेय आना चाहिये। वर्ना उसकी प्रवृत्ति झूठी है। बहुत बड़ी चुनौती है।

विलायतों से खबरें आती हैं। मगर जिन खबरों को भेजनीय समझा जाता है उन्हें ही भेजा जाता है। वास्तव में उन हाँड़ियों में क्या पक रहा है मुझे मालूम नहीं। परन्तु खबरें उससे असम्बद्ध नहीं हैं। और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

ईर्ष्या और स्पर्द्धा दोनों प्रवृत्तियों में हो सकती है। धनिक और विद्वान् दोनों तृष्णार्त्त और दोनों ईर्ष्यालु हो सकते हैं। इस तरह युद्ध 'लेबर' और 'कैपिटल' में नहीं है; युद्ध तो स्वार्थ और सेवा के बीच है, भोग और योग में है, अपने को मिटाने की तैयारी और अपने को फुलाने की कोशिश में है।

•

अब हर एक को अपने लिये योगक्षेम जुटाना है, वह कैसे जुटे? एक तो इस तरह कि दूसरे से मैं उसे ले लूं। यहाँ तक कि छीन भी लूं। दूसरा यह कि वह मुझे स्वेच्छापूर्वक, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक, दे। पहला ढंग संघर्ष का है और शक्ति का है। दूसरा सहयोग का और श्रम का है। इस तरह आदमी की पहचान उसकी आजीविका की पद्धति है। जीविका हमें जुटानी है स्नेह से, प्रेम से। उपयोगी हो कर, असमर्थ भाव से नहीं, स्वस्थ भाव से, प्रेम से जिया जा सकता है, प्रेम में माननेवालों को यह दिखला देना होगा।

एक प्रकार के लोग सोचते हैं कि 'अच्छी चीज तो हम धर्म-शास्त्र में से ले लेंगे; लेकिन दुनिया तो बुरी है इसलिये दुनिया से मिलने वाली चीज पाने के लिये अच्छाई या नेकी के आग्रह की क्या जरूरत है? दुनिया बुरी है, बुराई देती है, इसलिये दुनिया की चीजों को पाने के लिये अच्छाई बुराई पर क्या रुकना?' ऐसा सोचना गलत है। इस तरह दीन और दुनिया नाम के खाने औसत इन्सान की जिन्दगी में बन जाते हैं।

अभी शांति कान्फ्रेंस हुई थी। भारत आतिथेय (मेजबान) था। चुनांचे सारा आतिथ्य भारत को ही जुटाना था। ढाई लाख चाहिये। चूंकि शान्ति चाहिये थी इसलिये कान्फ्रेंस चाहिये, और कान्फ्रेंस के लिये ढाई लाख की चिन्ता। लगा कि जितनी चिन्ता ढाई लाख की है उतनी शांति की नहीं है।

युद्ध इतना बड़ा उद्योग है कि उसकी इकाई अरबों की होती है; उसकी विरोधी वस्तु शांति की इकाई भी वैसी ही विराट् होती तब भी बात थी। शांति की इकाई है व्यक्ति, आत्मा। यों तो शांति (peace) के लिये पैसे की आवश्यकता को सामने रख कर कहा गया कि 'We shall girdle the lions in their dens यानी करोड़पतियों से हम चन्दा वसूल कर के लायेंगे। लेकिन करोड़पति अगर शेर हैं तो उनके दान में से शांति क्या सचमुच आ जायेगी?

गांधी के सोचने का तरीका यह था: "ढाई लाख हमें इकट्ठा करना है', यह नहीं; यूं कहो, 'खर्च करना है।' तो ढाई लाख से पचास हजार ज्यादा आ जाय तो उसे दूर रखना।" बस ढाई लाख आ जाते हैं। और अगर इच्छा यह रहे कि 'ढाई लाख की बजाय तीन लाख इकट्ठे हो जायें तो ज्यादा अच्छा रहे, और अच्छी मेहमानबाजी हो सके' तो वे नहीं आते।

असमर्थ को तो अशांति का उपदेश मिलना चाहिये। सत्ता से समर्थ असमर्थ है। नेहरू सत्ता से समर्थ हैं, तो पाकिस्तान की हद आने पर वह असमर्थ हैं।

•

कोई लौह-पुरुष सत्ताधीश समझ सकता है कि सब कुछ उसके किये होता है, तब शांति भी बिना उसके किये नहीं हो सकती। इस ढंग से डिक्टेटर आपस में कहीं दुनिया के नक्शे को बीच में ले कर मिलें और आपस में इत्तिफाक कर लें तो यह शांति को कायम करने की तरकीब हो जायेगी, यह समझना भूल है। जो सब करता है उसके द्वारा शांति नहीं होगी। शांति वह स्थापित कर सकता है जो स्नेह लेकर चलता है; आस-पास जो प्रेम-वर्षण करता है; आत्म-दान से समाज और देश के लिये जो कुशल-क्षेम जुटा सकता है।

यों तो सब-कुछ हाथ के किये होता है। पर शांति हाथ से नहीं होती। हाथ तो चलने-उठने का ही काम कर सकता है। शांति तो वहाँ से होगी जहाँ काम का कुछ काम ही नहीं है। यानी, अन्दर के दिल से जो न दीखता है न कुछ ऊपर से करता है। ऐसे ही वे जो ऊपर से निष्क्रिय हैं पर समाज के हृदय हैं, शांति का श्रोत तो वहाँ है और वहीं से खुल सकता है। ये लोग निश्चय ही सत्ता से दूर और अछूते पाये जायेंगे। पदार्थ द्वारा जो कुशल-क्षेम जुटा लेना चाहते हैं, उन्हें उतनी ही सफलता मिलेगी जितनी मुलायम बनने की बजाय कड़क बने रहने वाले को, कसी गाँठ को और कसने वाले को। 'यूनेस्को' (UNESCO) शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति का काम करने के लिये बनाई गई है मगर शक्ति-संघटन यानी 'यू० एन० ओ० (U.N.O.) के साये तले। इससे गाँठ और कसेगी। अधिकार के नीचे कर्तव्य नहीं, कर्तव्य के नीचे अधिकार जुटें तब कुछ भला होने की आशा हो सकती है।

पदार्थ-विज्ञान में एटम बम उधर तैयार होता है तो इधर ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्द्धा, आदि के एटम-बम अन्दर ही अन्दर तैयार हो रहे हैं।

ज्यादा कहना हमेशा ही नुकसानदह साबित होता है जब तक वह कर्म के साथ जुड़ा न हो। कहने की अभिलाषा दूर हो और ठोस प्रयास हो तो कुछ काम भी हो।

शक्ति परिमाण में नहीं, वेग में है; पहाड़ में नहीं विद्युत् में है। इस तरह श्रद्धा का कण भी पहाड़ों को तोड़ सकता है। पदार्थ का अणु तो भी पदार्थ का है। निश्चय ही चैतन्य का अणु उससे असंख्यगुणा शक्तिशाली होगा। उसी चेतना की शक्ति को पाने के हम प्रार्थी बनें।

धर्म और कला

श्री माधवप्रसाद टंडन

जिस प्रकार वैयक्तिक जीवन में मन और मस्तिष्क की विशेषता है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में धर्म और अर्थ की प्रधानता है। यही कारण है कि प्राचीन महाकवियों ने अवतार, धर्म, भक्ति, उपासना, मोक्ष आदि ईश्वरवाद-संबंधी प्रश्नों को उठाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सुन्दर और मनोरंजक ढंग से धर्म की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास उन्होंने किया है। उनके धार्मिक विश्लेषणों में लोक कल्याण की भावना सन्निहित है तथा उनका सांस्कृतिक स्तर भी बहुत उत्कृष्ट है।

किसी भी धर्म के प्रति श्रद्धा और अनुराग का भाव तभी सभव है जब उसके पीछे एक उन्नत साहित्य और उत्कृष्ट कला का इतिहास छिपा हो। उस इतिहास के द्वारा कोई भी व्यक्ति उसके सांस्कृतिक तत्वो को हृदयगम कर सकता है और उसके प्रति तभी अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण स्थापित कर सकता है। यदि उसका साहित्य और उसकी कला उसे प्रभावित कर सकी तो, यद्यपि वह उस धर्म का अवलम्बन न करे पर कम-से-कम उसके हृदय में उस धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा और अनुराग अवश्य ही उत्पन्न होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य में मानव जीवन की घटनाओं एव घात-प्रतिघातों की अभिव्यक्ति होती है। कवि या शिल्पी जब उन घटनाओ को अपने अन्तर की अनुभूति द्वारा हृदयंगम करता है तो उसे अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। वह अपनी कृति में मनुष्य के सार्वकालिक चिरन्तन रूप का चित्रण करता है। बाल्मीकि ने पहले अपनी कल्पना द्वारा एक आदर्श चरित्र पुरुषोत्तम की उद्भावना की होगी और बाद में उस आदर्श को रामचरित्र के रूप में दिखलाने की चेष्टा की। आगे चलकर यह साम्प्रदायिक रूप और भी पृथक् और स्पष्ट हो गया है। अपभ्रंश काल का संपूर्ण वाङ्मय इस आरोप की व्याख्या है। हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि और जिनवल्लभ सूरि जहाँ साहित्य के विकास स्तम्भ है वहीं जैन धर्म के त्यागी तपस्वी प्रचारक भी।

उसी प्रकार धर्म के संबंध में भारतीय कला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ से ही भारतीय कला एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में जीवित रही

है और समय समय पर भिन्न भिन्न संप्रदायों ने अपने युग और देश की कला को आवश्यकतानुसार अपनाया है। पर इस का यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि उनकी शैलियाँ संप्रदायों पर निर्भर थीं। आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में "यद्यपि प्रायः समस्त भारतीय कला धार्मिक है, फिर भी यह कहना गलत है कि उसकी शैलियाँ सम्प्रदायों पर निर्भर थीं।" अतएव भारतीय कला का साम्प्रदायिक वर्गीकरण करना भारी भूल होगी। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों ने कला के क्षेत्र में यथेष्ट सहायता और सहयोग प्रदान कर उसे समुन्नत बनाया है। विशेषतः जैनधर्म का स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के उत्कर्ष में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्थापत्य कला में तो जैनियों की बराबरी दूसरा भारतीय धर्म कर सकता है–यह संदिग्ध है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म से संबद्ध अजन्ता के भण्डोवक चित्र विश्व की चित्रकला में अपना सानी नहीं रखते उसी तरह स्थापत्य में जैनियों का स्थान अद्वितीय है। जैनियों की स्थापत्य कला के प्राचीनतम अवशेष उत्कल के उदयगिरि और खण्डगिरि तथा जूनागढ़ की पर्वत-गुफाओं मे मिलते हैं। इनके अतिरिक्त पारसनाथ, राजगृह, पावापुरी आदि स्थानों में भी इनके अवशेष पाये जाते है। कुछेक विद्वानों का मत है कि पाण्ड्य प्रदेश में कलुगमलई का अद्भुत मंदिर मूलतः जैनों का ही रहा होगा।

जब हम चित्रकला पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि बौद्ध-धर्म से इसका बड़ा ही घनिष्ठ संबंध रहा है। अजन्ता-एलोरा की चित्रकला आज भी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मध्यकालीन चित्रकला को जीवित रखने का श्रेय तो जैनों को ही प्राप्त है। अनेक धार्मिक ग्रंथ जैनियों द्वारा ताड़-पत्र पर लिखित और चित्रित कराकर इधर उधर बाँटे गये थे। ये जैन चित्र प्रधानतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं। सबसे प्राचीन जैनचित्र मद्रास में तञ्जौर के पास पुद्दुकोटा रियासत के सितन्नवासल के गुफा-मन्दिर की दीवारों पर पाये जाते हैं। संभवतः इनका समय ६२५–६५० ई० है। अनेक जैन पुस्तकों में चित्रकला के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। ये चित्र बड़े ही रोचक और निर्मल दीख पड़ते हैं।

भारतीय मूर्तिकला में विशेषतः योगी की सी आकृतिवाली मूर्तियाँ पाई जाती हैं–चाहे वह हिन्दू, बौद्ध या जैन किसी भी धर्म से अनुप्राणित क्यों न हों। निस्संदेह बौद्ध धर्म को इस क्षेत्र में सबसे अधिक श्रेय प्राप्त है फिर भी जैन धर्म के कार्य भी इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। इन मूर्तियों की कलात्मक उत्कृष्टता से यहाँ कोई विशेष संबंध नहीं है पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दू, बौद्ध और जैन मूर्तिकारों ने ही इन्हें पूर्णता

प्रदान की है। उन्होंने समाधि की अवस्था में योगाभ्यास के उस महत्त्व के निर्देशन की चेष्टा की है जो भारतीय जीवन में समय समय पर परिलक्षित था। जैन मूर्तिकला में शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता के अतिरिक्त सृजनात्मक प्रतिभा का भी सुन्दर आभास मिलता है।

धर्म पर साहित्य और कला का प्रभाव बहुत अंशो मे स्थायी और पूर्ण होता है। साहित्यकार या शिल्पी अपनी कल्पना या स्मरणशक्ति के द्वारा ऐसे स्पष्ट भाव उपस्थित करता है जो हमें पूर्वसंचित भांडार का अनुभव कराता है।

मित्र सदा मित्र है

ग्रहो की परिषद् में चन्द्रदेव सभापतिके पद पर आसीन थे।

शनिदेव बोले—यह सूर्य कितना तपता है? हम सब इसके सामने निस्तेज रहते हैं। काश,यह दिनमें उदित न होता तो हम सबको और भी चमकने का अवसर मिलता।

शुक्राचार्य ने सिर हिलाकर कहा कि यदि ग्रहपति इसके लिये सन्नद्ध हो तो प्रयत्न किया जाय।

बुध ने कहा—विचार तो ठीक है पर इसकी शक्यता और अशक्यता का विचार कर लेना आवश्यक है।

चन्द्र ग्रहोकी इन बातो को सुनकर हँसा। बोला—बन्धुओ, मित्र सदा मित्र है, वह तपता है तो अपनो के लिये। मित्रता सन्देह से परे की वस्तु है।

वह दिनभर तपकर माकी तरह हमें तेज और प्रकाश देता है। मित्र हर पहलू मे मित्र है।

शत्रु के मार्ग में

श्री रामगोपाल सिंह चौहान

वाचक—ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व, जब दिग्विजयी महान् सिकन्दर स्वयं अपने ही सैनिक-विद्रोह से क्षुब्ध—विवश सिन्धु नद द्वारा तटवर्ती प्रदेशों—कठ, शिवि, अग्रश्रेणी आदि गणतन्त्रों को, जो अपने छोटे-छोटे गण-राज्यों में स्वतन्त्र थे, जिनकी अपनी निज की संस्कृति थी; अपनी परम्परा थी, जनवादी शासनव्यवस्था थी और जो वीर थे, अपनी संस्कृति और स्वतन्त्रता पर प्राण उत्सर्ग करना जानते थे, जिनमें दूसरों की स्वतन्त्रता को स्वायत्त करके साम्राज्य स्थापना की लिप्सा न थी—को पदाक्रान्त करता हुआ स्वदेश लौट रहा था। कठों ने जो अपनी स्वतन्त्रता और सुन्दरता के पुजारी थे, जिनकी परम्परा थी, अपने गण में कुरूप असुन्दर व्यक्ति को न पनपने देने की—सिकन्दर की राह तट पर रोकी। उनकी अल्प सेना विशाल यवन सेना के सामने न टिक सकी पर उन्होंने सिकन्दर से सन्धि न की। स्वतन्त्रता की रक्षा करते करते प्राण विसर्जन कर दिये।. . . .सिकन्दर आगे बढ़ा।. . . . .दूसरा गण शिवि, जो उन्हीं की तरह स्वतन्त्रता और सुन्दरता का पुजारी था उसकी रक्षा के लिए अपनी अल्प सेना ले लाठी ले कर ही जंगली जानवरों के चाम के वस्त्र धारण कर विशाल यवनवाहिनी से आ टकराये। उन्होंने भी प्राण उत्सर्ग कर दिये अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए।. . . . .और उसके बाद ग्रीक-सेना आगे बढ़ी, अन्य तटवर्ती गणो की स्वतन्त्रता को दासता की कड़ियो में जकड़ती और जा पहुंची, मालव और क्षुद्रक गण राज्यों के पास। उन्हीं मालव और क्षुद्रक गण राज्य में. . . . .।

(प्रथम दृश्य)

(नेपथ्य में—मृदंग की मन्द मधुर ध्वनि—)

काटो हे काटो हे,
काटो यह स्वर्ण-खेत !
छप छप छप हँसिये का कर्म-गान,
झर झर पुरवैया की मधुर तान !
काटो हे काटो हे. . !

बांधो है बांधो यह ज्वार-धान,
मालव की धरती का स्वर्ण-दान !
काटो है काटो है ..
इस भू की गोद में पले किसान,
नभ में फहरायें मालव निशान !
काटो है काटो है ..

(संगीत के साथ हंसिये से फसल काटते
किसानों का दृश्य–)

वाचक–मालव किसान, स्त्री, पुरुष एक हाथ में हंसिया ले दूसरे मे तलवार ले फसल काट रहे हैं। तलवार उनके हाथ में सधी है ताकि साम्राज्यी लुटेरे उनकी सोने से फसल को आकर लूट न लें—

(एक ओर से बदहवास मालव सैनिक का आगमन)

अमोघ–(हाँफते हुए अटकते अटकते) सिकन्दर....क.....ठों..... शि .....व......वि......य....यों .को.....

अंकुश–अमोघ ! तुम तो बड़े उद्विग्न जान पड़ते हो। तनिक स्वस्थचित्त हो लो, तब पूरी बात समझा कर कहो। क्या सिकन्दर कठों, शिवियों, अग्रश्रेणी आदि को पदाभूत करता अब हमारी ही ओर अग्रसर हो रहा है ! लो ! पानी पी लो और सब हाल स्पष्ट वर्णन करो।

(घड़े से ढाल कर पानी देता है। पानी पीने के बाद
एक शी निःश्वास छोड़कर)

अमोघ–हां ! सिकन्दर ने कठों, शिवियों, अग्रश्रेणी आदि गणो को पराभूत कर दिया। कठों और शिवियों ने पहले तो सिकन्दर की प्रचण्ड सेना की धार कुण्ठित कर दी थी। यवन सेना कठदुर्ग भेदन न कर सकी। पर उसके भारतीय मित्र पौरव ने एक विदेशी, जिसने उसकी खुद की स्वतन्त्रता हरी, समस्त पंच-नद प्रदेश की स्वतन्त्रता स्वायत्त की, इसीसे मित्रता निभाने के अर्थ स्व-देशीय जातियों को ही यवनदासता की श्रृंखला में जकड़ जाने देने के लिए सहायता को दौड़ा आया। और दोनों वीर गण-राज्यों को अन्त में पददलित होना ही पड़ा।

मालवसेन–कायर ! देश की स्वतन्त्रता को यवन विजेता के हाथों में सौंपने वाला पौरव छिः...

अजेय–क्यों, ऐसा क्यों ? क्या उसने सिकन्दर से लोहा नहीं लिया? क्या उसने सिकन्दर की सेना के दांत खट्टे नहीं किए। यदि आम्भी अपने साम्राज्य विस्तार के लिए विश्वासघात न करता तो क्या यवनसेना आगे बढ़ सकती? फिर पौरव का दोष क्यो?

मालवसेन–किया! अवश्य किया! परन्तु क्या उसी पौरव ने भी अपने साम्राज्य विस्तार के लिए उसी सिकन्दर की सहायता से अपने ही भतीजे द्वितीय पौरव को परास्त कर उसका राज्य नहीं स्वायत्त किया? क्या वही पौरव सिकन्दर का आज्ञा-दास नहीं है? क्या उसी पौरव ने सिकन्दर की आज्ञाओं की अवज्ञा कर सकने की क्षमता न होने के कारण सिकन्दर को भारतीय राज्यों को पदाक्रान्त करने में सहायता नहीं दी? क्या यदि पौरव उस विदेशी यवन के स्थान पर स्व-देश से मित्रता निभाता जिसने उसे पाला, पोसा, पौरव बनाया, तो क्या भारत का इतिहास और ही न बनता! क्या आचरण विश्वासघाती आम्भी से श्रेष्ठ माना जा सकता है? अब भविष्य की पीढ़ियाँ सिकन्दर को महान् भारत विजेता जानेंगी और उसके विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रिय गणतन्त्र–जिन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्राण उत्सर्ग कर दिये, विदेशी के सामने मस्तक नहीं नवाया–का नाम भी कोई नहीं जानेगा। इसीलिए न! एक पौरव ने सिकन्दर की अवज्ञा कर सकने की अक्षमता को मित्रता का आवरण दे स्व-देश से बैर निभाया। इसीलिये न कि सिकन्दर कांटे से कांटा निकाला।

अमोघ–और अब सिकन्दर की सेनायें हमारे गण को ओर बढ़ रही हैं। हमें यह विवाद बन्द कर शीघ्र ही उसका प्रतिरोध करने की तैयारी मे निरत हो जाना चाहिए।

कई कंठ–अवश्य! हम नतमस्तक न होंगे। कभी न होंगे।

मालवसेन–हमारी प्यारी फसल, जिसे हमने अपने रक्त से एक बार नहीं अनेक बार सींचा है हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, स्वतन्त्रता–हम प्राण देकर भी उसकी रक्षा करेंगे। सिकन्दर भी जानेगा–आगे आने वाला इतिहास भी जानेगा, हमारे इस प्राणोत्सर्ग को। चलो चलें। गणपति को शीघ्र इसकी सूचना दें और गण-वृद्धों की बैठक करा शीघ्र अपनी कार्यनीति तथा समयनीति निर्धारित करें।

(सबका प्रस्थान)

(पर्दा गिरता है)

(दूसरा दृश्य)

नेपथ्य में–मृदंग का मन्द मधुर स्वर–(परदा उठता है)

(प्रातः का दृश्य–मालव स्त्रियाँ गीत गाती हुई अनाज कूट रही हैं—नृत्य के साथ)

प्रात हुआ प्रात,
रंग भरा प्रात,
सजनि बीत गई रात !
घर घर में नव उमंग,
जीवनमें नवल रंग,
मालव की धरती पर सुख की बरसात !
सजनि बीत गई रात !

(एक मालव स्त्री एक ओर से आती है)

अनुराधा–अरे अनूपमा, पद्मा, वत्सला, ऊषा, कादम्बरी ! कुछ सुना तुमने !

कई स्त्रियाँ–क......क.....क्या ? —(अथकथाकर)

अनुराधा—सिकन्दर अब हमारे गण पर आक्रमण करने आ रहा है !

कई–है.......।

अनुराधा–हाँ ! और आज प्रात. से ही गण वृद्धों की बैठक हो रही है । देखो क्या होता है।

पद्मा–तुम्हारे तो पति भी बैठक में गये होंगे ?

अनुराधा–हाँ ! गये तो हैं।

अनूपमा–तो फिर हमको भी बतलाना, क्या निश्चय हुआ । और हाँ ! उनसे कह देना हम सब स्त्रियाँ भी युद्ध में जायगी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए —

अनुराधा–यह तो हमारी परम्परा रही है । हम निश्चय ही जायगी । सिकन्दर भी जानेगा किससे पाला पड़ा है।

(सब का प्रस्थान)

(तीसरा दृश्य)

(गणवृद्धों की बैठक)

गणपति–भद्र-गण बन्धुओ ! सिकन्दर गण-राज्य पर गण-राज्यों को परास्त करता हुआ अब हमारी सुन्दर भूमि की ओर बढ़ रहा है। उत्तर पश्चिम के राज्य अपनी अपनी साम्राज्य-लिप्सा के कारण सिकन्दर के

सामने नतमस्तक हो उसके इच्छा-दास बन गये। और सिकन्दर को उनकी ही इन कमजोरियों के कारण आगे बढ़ने का साहस हुआ। हमारे गण छोटे-छोटे हैं अवश्य, पर इन सब को अपनी स्वतन्त्रता प्रिय है और सब अपने क्षेत्रस्वतन्त्रता जनवादी शासन करते हैं। हमने कभी एक दूसरे को दास बनाने का प्रयास नहीं किया। हर एक गण को अपने क्षेत्र में अपनी संस्कृति का स्वतन्त्र विकास करने का अधिकार तथा अवसर यही हमारा सिद्धान्त है। और हमने सदैव ही एक. दूसरे की स्वतन्त्रता के आधार पर विदेशी के समक्ष संयुक्त मोर्चा बना कर लोहा लिया है। हमने अपने जन बच्चों से अपने स्वदेश की रक्षा के लिए प्राण उत्सर्ग कर दिये भले ही, पर विदेशी के सामने कभी नत-मस्तक नहीं हुए। न अब होंगे। बन्धुओ! यह हमारे लिए कठिन परीक्षा की घड़ी है। हम अपने पूरे धैर्य के साथ विचार करें और शीघ्र अपनी समरनीति तथा कार्य-नीति निश्चित करे।

(गणपति बैठ जाते हैं। गण वृद्ध आपस में कानाफूसी करते हैं)।

गणपति—मैं अपने सम्मानित सेनानायक श्रीमन् मालवसेन से कहूँगा कि वे इस गहन समस्या पर कुछ अपने विचार प्रगट करें।

मालवसेन—मेरे गण बन्धुओ! हमारे आदरणीय गणपति जी ने समस्या का संक्षेप में विश्लेषण कर दिया है। अब हमें उसके समाधान पर शीघ्र ही कोई मत निश्चित करना है। अतः संक्षेप में मेरा प्रस्ताव है कि हम अपने पड़ोसी क्षुद्रक गण से एकता स्थापित कर सिकन्दर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तैयार करें। तभी हम उसकी बाढ़ को रोक सकते हैं। अन्यथा वह हमको, फिर क्षुद्रको को-कठ-शिवि आदि की ही तरह पदाक्रान्त करता हुआ भारत विजय की डंका बजाता हुआ वापस जायगा, और इतिहास भारत को वीर-विहीन मही की संज्ञा देगा।

क्षत्रसेन—मुझे इस मत से विरोध है।...क्षमा करें गण-वृद्ध जन! मुझे इस मत से विद्रोह इसलिए है कि क्षुद्रक सदैव से ही हमारे प्रतिस्पर्धी रहे हैं। हमारा उनका युद्ध हमेशा से होता आया है। उनसे मिलने का विचार ही कैसे पैदा हुआ, समझ में नहीं आता। और फिर यह भी प्रश्न है कि किस आधार पर हमारा उनका एका हो सकता है?.... और क्या वे ही एकता के लिए तैयार होंगे?

मालवसेन—क्षमा करे गण-वृद्ध जन! यूँ कि प्रस्ताव मेरा ही है अतः मैं ही इसका स्पष्टीकरण कर दूँ।

कई जन—हाँ, ठीक है।

मालवसेन–माना कि वे हमारे प्रतिस्पर्धी हैं, पर हमारी संस्कृति और स्वतन्त्रता के शत्रु नहीं। न हमने ही उनकी संस्कृति और स्वतन्त्रता को स्वायत्त करने की कोशिश की और न उन्होंने ही। वे वीर हैं हमारी ही तरह उसी तरह दो वीरों में युद्ध हुआ ही करते हैं। क्या यह सच नहीं कि युद्ध के बाद और पहले हम सदैव एक दूसरे के साथ मित्रता का बरताव करते रहे हैं?

कई जन–हाँ! यह तो सत्य है।

मालवसेन–तो फिर हम क्यों नहीं एक हो सकते?....और तब जब हम दोनों पर ही समान संकट आ रहा है। दोनों की ही संस्कृति और स्वतन्त्रता खतरे में है। अब प्रश्न है यह कि उसका आधार क्या हो? तो स्पष्ट है कि एक दूसरे की संस्कृति की रक्षा–एक दूसरे के प्रति सहृदयता तथा सहिष्णुता का भाव। इस आधार को स्थायित्व देने के लिए दोनों गणों के अविवाहित युवक और युवतियाँ आपस में विवाह कर दोनों गणों को प्रेम के स्थायी दृढ़-सूत्र में बाँध दें।

(स्टेज पर इस प्रस्ताव पर विवाद छिड़ जाता है)

वाचक–चूँ कि चारो ओर साम्राज्यलिप्सा और स्वार्थस्वार्थ की संकुचित मनोवृत्ति छाई हुई थी। अतः उसने गणों के स्वच्छ मन को भी संकुचित करना आरम्भ कर दिया था।....और धीरे धीरे उनकी चेतना में छोटे-बड़े का भाव घर कर आया और इसी कारण ऐसे गम्भीर समय पर भी जब उनकी समूची संस्कृति और स्वदेश की स्वतन्त्रता संकट में है आपसी मतभेद का संघर्ष उठ खड़ा हुआ और देश की रक्षा का प्रश्न अलग रह गया।

(वाद-विवाद चलता रहता है)

गणपति—शान्त रहिए! शान्ति धारण कीजिये।.....ऐसे उद्विग्न मत होइये। आप अभी विचार कीजिए, फिर-फिर कीजिए। लेकिन यवन सेना का रण-नाद कान पर सुनाई दे रहा है, अतः हमें भी विलम्ब नहीं करना है।.....अब हमारी बैठक मध्याह्न के समय फिर होगी।

(सब का प्रस्थान)

(परदा गिरता है)

(चौथा दृश्य) (घाट पर कुछ स्त्रियां जल भरती हुई....गीत गाती जाती है)।

सजनि, यह जीवन है त्योहार !
चढ़ा प्यार का अक्षत-चन्दन,
इष्टदेव की करती पूजा,
नयन-फूल, कर-पल्लव बनते
माला-वन्दन बार !
सजनि यह जीवन का त्योहार !

वत्सला–(गीत समाप्त होने पर) आज दो बार तो गण वृद्धों की बैठक हो चुकी पर निर्णय कुछ भी न हो सका।

पर्वती–हो भी कैसे सकता है। न जाने उसकी बुद्धि को क्या हो गया है ! मालवसेन ने प्रस्ताव रखा है कि दोनों गणों के युवक-युवतियां आपस में विवाह कर लें।....हुँ....उँ......उँ.....हुउँ। ऐसा कैसे हो सकता है ?

उषा–हां ! मालवसेन ऐसा प्रस्ताव क्यों न रखेंगे—। उसकी.....वहाँ जो.......

(सब हँसती है)

वत्सला–पर यह तो सोचो कि यदि हमें यवन सेना द्वारा हरा दिया गया और वे हम सब को पकड़ ले गये तो—

उषा–सुना है बड़े नृशंस होते हैं–। सुन्दर स्त्रियो को बहुत ही सन्त्रस्त करते है।

पार्वती–तब तो इससे यही अच्छा है कि इसी आधार पर क्षुद्रको से ही संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए।

वत्सला–और फिर उनकी युवतियों से हमारे यहाँ के युवक भी तो विवाह करेंगे।

उषा–हां ! बात तो ठीक है।....पर देखो गण क्या तै करता है।

वत्सला–गण के सामने हमें भी अपने विचार रखने चाहिए।

कई–निश्चय ही। हमारा भी अधिकार है।

(पानी भर कर सब का प्रस्थान)

(दृश्य परिवर्तन–गण वृद्धों की बैठक, पांचवां दृश्य)

(स्टेज पर गण-वृद्ध आ-आ कर बैठते जाते है, कुछ पहले से बैठे है, आपस में बात चल रही है)

गणपति–यह हमारी तीसरी बैठक है। इस बार हमको निश्चय करके उठना है। शत्रु हमारे निश्चय की बाट नहीं जोहेगा। वह तो अवसर

पाते ही हमारे ऊपर टूट पड़ेगा। .....इसके पहले कि आप अपने विचार प्रकट करें। मैं आपके सामने गण की स्त्रियों की ओर से जो संवाद आया है उसे सुना दूँ।.....और फिर स्वयं भी अपने विचार आपके सामने रख दूँ।

कई–अवश्य, अवश्य!

गणपति–स्त्रियों की ओर से संवाद आया है–"सिकन्दर की सेना से पराभूत होकर यवन सैनिकों से सन्त्रस्त होने के बजाय प्रस्तुत प्रस्ताव के आधार पर क्षुद्रकों से एकता स्थापित कर शत्रु से अपनी रक्षा करते हुए प्राण विसर्जन करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा। और हम गण की समस्त स्त्रियाँ भी क्षुद्रक स्त्रियों के साथ सम्मिलित सेना बना कर शत्रु के विरुद्ध युद्ध में उसकी सेना से मोर्चा लेंगी।" यह तो रहा उनका संवाद। अब मैं भी संक्षेप में आप से यह कह दूँ कि मेरा मत भी यही है–हम इस आधार पर क्षुद्रक-गण से एकता स्थापित करें। एक ओर प्रश्न है विदेशी द्वारा परास्त हो पराभूत होना और दूसरी ओर है अपनी संस्कृति और स्वतन्त्रता की रक्षा करते-करते आत्म-विसर्जन कर सदा के लिए अमर होना।.....अब आप शीघ्र निश्चित करें।

(सब स्तब्ध, एकटक गणपति की ओर देखते हैं)

(थोड़ी देर तक स्तब्धता रहती है)

गणपति—तो.....क्या मैं समझूँ कि यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ?

गणपति—तो......यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

वृत्रसेन—जब समस्त गण की यही राय है तो हुआ ही।

गणपति—तो फिर अभी क्षुद्रक गण के लिए संवाद भेजा जाय।–मेरी राय में हमारे सेनानायक जिनका यह प्रस्ताव है सवाहक बन कर क्षुद्रक गण के पास जाँय। ताकि वे आवश्यकता पड़ने पर अपना मत स्पष्ट भी कर सकते हैं।

कई जन–निश्चय ही! यही जाँय।

मालवसेन–मैं सहमत हूँ।

गणपति–और वृत्रसेन तुम समर-परिषद् की बैठक बुला कर सारे गण को युद्ध की सूचना दे दो और अपनी मोर्चेबन्दी तय्यार करो।

(सब का प्रस्थान–परदा गिरता है)

वाचक—और उधर क्षुद्रक गण राज्य में भी सिकन्दर की प्रगति ने खलबली मचा दी थी। वहाँ भी मालवों की ही तरह उस गहन समस्या पर

विचार करने के लिए गण-वृद्धों की बैठक हो रही थी।.....तभी दो संस्कृतियों के आपसी सौहार्द्र तथा सहिष्णुता के आधार पर एकता की इस नयी परम्परा को लेकर मालव गण का संवाहक-मालवसेन क्षुद्रक गणतन्त्र पहुँचा।

(छठा दृश्य)

(प्रातःकाल का समय है—द्वार पर स्त्रियाँ सूर्य का अर्घ्य काढ़ कर उसकी पूजा करती—नाच-गा रही हैं। मालवसेन का आगमन)

सुनैना-अरे! वह देखो.......। यह तो मालव-गण का मालवसेन है।

सुरम्या-अरे......कोई उसकी.....उसे खबर करो।

(हँसी की एक लहर)

पार्वती-अरी तुझे तो परिहास ही सूझता है। आखिर वह आया क्यों है?

सुनैना-क्या घाट पर कल सुना नहीं था कि सिकन्दर हमारे और मालव गण पर शीघ्र ही आक्रमण करने वाला है। मालव गण ने निश्चित किया है कि दोनों गणों की युवक-युवतियाँ आपस में विवाह कर संयुक्त रूप से प्रतिरोध करे।

सुरम्या-और वहाँ की स्त्रियो ने भी इस मत से अपनी सहमति प्रकट की है। उनका कहना है कि यदि ऐसा न हुआ तो पृथक्-पृथक् दोनों ही गणो की स्वतन्त्रता छिन जायगी और दोनों ही गणों की युवतियाँ यवन सैनिकों द्वारा त्रस्त होंगी, अपमानित होगी।

पार्वती-प्रस्ताव तो सर्वथा उचित है.....फिर भी देखो गण क्या मत निश्चित करता है।.....चलो पूजा का समय हो रहा है।

जीवन संग्राम सजनि, जीवन संग्राम!
बाहों के बल से धरती का रस खींच लो,
इस रस से जीवन के कण कण को सींच दो,
अन्तर का रस ही आता तन के काम!
सजनि जीवन संग्राम!
निर्झर पथ निर्मित करता पत्थर तोड कर,
वन का केहरि चलता परिचित पथ छोडकर,
क्षण क्षण संघर्षण ही यौवन का नाम!
सजनि जीवन संग्राम!

(पूजाकी सामग्री थाली में लेकर गाती हुई सब का प्रस्थान)

(सातवाँ दृश्य)

(गण-वृद्धों की बैठक—मालवसेन भी उपस्थित हैं। आपस में बात-चीत—अस्पष्ट)।

गणपति—गणवृन्दो, आप सब भली प्रकार जानते हैं कि किस मन्तव्य से हम यहाँ पर एक हुए हैं।....यह भी जानते ही हैं कि हमारे पड़ोसी मालव गण ने अपने सेनानायक द्वारा क्या प्रस्ताव किया है। मैंने तथा हमारे गण के सम्मानित सेनानायक भीमपाल ने उनसे काफी समय तक विचार-विनिमय किया है.......। समस्या ही हमारे सामने ऐसी गम्भीर है....., हम उसी से विवश हो कर कभी कभी सही बात सोच बैठते हैं।.....और जो काम हमें बहुत पहले ही कर डालना चाहिए था उसे तब करते हैं। मालव और क्षुद्रक गणों की आपसी एकता का यह प्रश्न ऐसा ही है। वैसे तो हम एक दूसरे की स्वतन्त्रता के प्रति ईर्ष्यालु नहीं हैं लेकिन फिर भी अपने प्रदर्शन तथा ऐसे ही कारणों से आपस में लड़ते रहते हैं। लड़ते रह कर भी हम एक दूसरे के प्रति सहिष्णु रहे हैं। अब इस संकट काल में मैं तो मालव-गण के संवाद का स्वागत करता हूँ।.....भीमपाल जी भी हम से सहमत हैं। आप सब भी अपनी सुसम्मति देकर मत निश्चित करें।

भीमपाल—गण बन्धुओ! आपकी आँखें, चेहरे का हाव-भाव प्रकट कर रहे हैं कि आप सम्मति से क्षुब्ध हैं। पर यह तो हमारी राय है। अब आप सब जैसा निश्चय करेंगे, हम सब को मान्य होगा।.....परन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जहाँ तक और राज्यों ने साम्राज्य-लिप्सा के लिए पृथक्-पृथक् एक दूसरे के साथ, समस्त देश के साथ विश्वासघात कर यवन सेना के समक्ष मस्तक नत किया है वहाँ हम गण-राज्य, जिनमें साम्राज्यलिप्सा नहीं है अपनी संस्कृति और स्वतन्त्रता को प्यार करते हैं......फिर मालव-गण से जो हमारे अब तक युद्ध चलते रहे हैं उस कारण कहीं हम अपने मनोभावों को संकुचित कर विदेशी के सामने नत-मस्तक न हो जाँय........।

कई जन—नहीं, हम विदेशी के सामने नत-मस्तक नहीं होंगे.....,नहीं होंगे........।

भीमपाल—नहीं होंगे, तो हमें निश्चय ही मालव और अपने समान शत्रु

के विरुद्ध समान रूप से अपनी संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए मालव प्रस्ताव मान लेना चाहिए।

(स्तब्धता)

गणपति—अब आप अपना-अपना मत प्रकट करें।

(स्तब्धता)

गणपति—तो......क्या मैं समझूं कि प्रस्ताव पर आप सब की सहमति है........?

(स्तब्धता)

गणपति—क्या मैं आपकी इस मौन धारणा को स्वीकृति समझूं.....या विरोध।

सुकण्ठ—मैं आपसे सहमत हूँ।

माधव—और मैं भी—।

(बारी बारी से सब सहमति प्रकट करते जाते हैं)

गणपति—तो आप सब सहमत हैं।

कई जन—जी हां!

गणपति—तो फिर मैं मालव-गण को यह संवाद भेजता हूँ कि शीघ्र ही दोनों गणों को प्रेम-सूत्र में बांधने का सु-कार्य सम्पन्न कर दोनों गणों के गण-वृद्धों की तथा समर-परिषद् की संयुक्त बैठक हो और अपनी संयुक्त कार्यनीति तथा समर-नीति निर्धारित की जाय।

(परदा गिरता है)

वाचक—......और उसके बाद मालव और क्षुद्रक एकता के सूत्र में बंध गये और उनकी संयुक्त शक्ति ने महान् सिकन्दर की अजेय यवन वाहिनी की धार को पलट दिया।......और स्वयं सिकन्दर का शरीर भी प्रथम बार इसी युद्ध में बाणों की घोर मार से आहत हुआ।

(आठवां दृश्य)

(आहत अवस्था में सिकन्दर अपने सैनिकों के साथ नौकाओं में जाते समय)

सिकन्दर—जीवन में पहली बार मैंने जाना—अपनी स्वतन्त्रता पर प्राण कैसे उत्सर्ग किए जाते हैं। ऐसी वीर जाति से युद्ध कर आहत होना भी गौरव की बात है।. मेरे अन्दर इतनी क्षमता नहीं कि मैं इन्हें विजित कर दास बना सकूँ। इतिहास की आने वाली जातियां इनसे अपनी

स्वतन्त्रता के लिए प्राण उत्सर्ग करने की प्रेरणा लेंगी। इनकी यह परम्परा युग-युग में नयी बन कर संस्कृतियों और जातियों को अपनी सहृदयता, सहिष्णुता और स्वतन्त्रता का बल देती रहेगी।

वाचक—......और सिकन्दर की सेना भी मालवों और क्षुद्रकों की भयंकर मार से अपने-अपने सेनापति ही को आहत हुआ देख स्वदेश वापस लौटने को और भी उद्विग्न हो उठी।

(नौकाएँ दृश्य से ओझल होती जाती है)

वाचक—.....और सम्भवतः उस वीर जाति के बाणों के भीषण आघात से काबुल पहुँच कर सिकन्दर का प्राणान्त हुआ। उस वीर जाति ने इतिहास को एक नयी परम्परा दी जो आज सहस्रों वर्ष बाद, इस संघर्ष शील युग में जब भारत अनेक गुजराती, मराठी, पंजाबी, बंगाली आदि संस्कृतियों में बँटा है और सब संकुचित मनोभावों की शृंखला में जकड़े हैं—हमें आपसी सहृदयता तथा सहिष्णुता के आधार पर स्वतन्त्र-विकास की उसी परम्परा की आवश्यकता है......पहले से भी अधिक........।

श्रमणों की समस्या

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

[भदन्तजीका यह लेख भाव और क्रियाके द्वन्द्वका सजीव चित्र है। ऐसी एक नहीं अनेकों समस्याएँ श्रमणधर्मके श्रद्धालुओंके सामने है। उन्होने स्पष्ट पूछा है कि हमारे नियम साध्य हैं या साधन? यदि साधन है तो द्रव्य क्षेत्र कालके अनुसार उनमें संशोधन परिवर्तनकी गुंजाइश भी है या नहीं? और यदि संघ इसका निर्णय नही करता तो जागृत व्यक्तिको इसका निर्णय करना होगा?]

आर्य-संस्कृति में जैन तथा बौद्ध परिव्राजक ही सामान्यतः 'श्रमण' कहलाते हैं। आर्य संस्कृति की यदि दो शाखाएँ मानी जायं, वैदिक तथा अवैदिक; तो जैन तथा बौद्ध 'श्रमण' ही अवैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

'वैदिकों' के लिए 'अवैदिक' होना जैसे निग्रह तथा निन्दा का भी विषय हो सकता है, ठीक उसी तरह 'अवैदिकोंके' लिए 'वैदिक' होना थोड़े उपहासका विषय है।

"वैदिक' धर्मका संन्यास-मार्ग कदाचित्, श्रमण संस्कृतिकी ही देन है। इसलिए जब हम 'श्रमणोंकी समस्या'की चर्चा कर रहे हैं तब प्रकारान्तरसे सभी शास्त्र सिद्ध परिव्राजकोंकी समस्या सामने आती है। 'श्रमण' और 'संन्यासी' में भेद करनेका हमारा आग्रह भी नहीं है।

ऐसे भी विचारक हैं जो संन्यास-आश्रमको ही मात्र अप्राकृतिक मानते हैं। उनकी दृष्टिमें किसीको भी कभी भी 'श्रमण' अथवा 'संन्यासी' नहीं बनना चाहिए। ऐसे विचारकोंकी बातें अभी रहने दें।

सामाजिक-कारणोंसे, आर्थिक-कारणोंसे, नैतिक अथवा आध्यात्मिक कारणोंसे आज ढाई हजार वर्षसे भी पहले श्रमण-संस्थाकी नींव पड़ी होगी। तबसे उसने लगभग सभी धर्मोंमें किसी न-किसी रूपमें स्थान पाया है।

हर संस्थाके कुछ-न कुछ नियम, कुछ-न-कुछ विनय (डिसिप्लिन) रहती है। श्रमण संस्थाकी भी है। जैन श्रमणोंकी है। बौद्ध भिक्षुओंकी है। उतनी व्यवस्थित न सही, किन्तु हिन्दू संन्यासियोंकी भी है ही।

आज हम 'श्रमणोंकी समस्या'पर किसी ऐसी सामाजिक दृष्टिसे विचार नहीं करने जा रहे हैं, जिस प्रकार हम 'भिखमंगोंकी समस्या'पर विचार करते हैं। हम इस प्रश्न पर श्रमणोंकी अपनी दृष्टिसे विचार करना चाहते हैं।

श्रमणोंकी अपनी समस्या गहरी है। उसका 'धर्म' और 'जीवन' से सम्बन्ध है, इसीलिए वह कम-से कम उनके अपने लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं

अपने जैन "श्रमण" और बौद्ध "भिक्षु" मित्रोंके जीवनसे दो एक उदाहरण देकर उस समस्याकी ओर अंगुलि निर्देश करना चाहता हूँ।

सारनाथ (बनारस) बौद्ध तीर्थ तो है ही, तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथकी भूमि होनेसे जैन तीर्थ भी है। वहाँ एक जैन मंदिर है। प्रायः कुछ न कुछ लोग बौद्ध मन्दिरके दर्शनार्थ भी आते ही रहते हैं। मैं सारनाथमें काफी समय रहा हूँ और अब भी मनका सम्बन्ध बना ही है। 'तथागतकी' धर्म चक्र प्रवर्तन भूमि होनेसे किसी भी 'भिक्षु' का ही नहीं, किसी भी भारतीयका ही नहीं, विश्वके किसी भी नागरिकका उससे सम्बन्ध टूट ही कैसे सकता है? जब मैं सारनाथमें रहता था तब प्रायः रोज घूमने जाता। एक दिन शामको चला जा रहा था कि उधरसे एक जैन मुनि आते दिखाई दिये। उन्होंने पूछा :

"सारनाथ-मंदिर कितनी दूर है?"

मन्दिर उस स्थानसे एक मील भी दूर नहीं रहा होगा, किन्तु थके हुयेको योजन लम्बा हो ही जाता है। मैंने सोचा यदि मैं इनके साथ वापिस लौट चलूँ तो इन्हें साथ हो जायगा और मैं बातचीत करके इनकी चर्याके सम्बन्धमें कुछ न कुछ नई जानकारी प्राप्त कर लूँगा। इनका रास्ता कटेगा और मेरा ज्ञान बढ़ेगा।

मुनिजीसे कुछ ही दूर पर दो आदमी बहुत-सा सामान लिए आ रहे थे। उनकी ओर संकेत करके मैंने पूछा :

"यह आदमी आपके साथ हैं?"

"हाँ!"

"तो आप जब यात्रामें रहते हैं, तब आपकी भिक्षाकी क्या व्यवस्था रहती है? हमने सुना है कि जैन मुनियोंकी ठण्डे गर्म पानीके विषयमें भी मर्यादा है।

"हम जहाँ जाते हैं, भिक्षा कर लेते हैं।"

"आप अपने साथके इन दो आदमियोंसे भोजन क्यों नहीं बनवा लेते?"

"हम अपने लिये इनसे भोजन नहीं बनवा सकते। हाँ, यह अपने निजके लिये भोजन बनाते हैं। उसमेंसे हम 'भिक्षा' ले लेते हैं।"

अब आप जरा विचार कीजिये कि इस द्रविडप्राणायामका क्या अर्थ है? मुनि महाराज भिक्षा ग्रहण करते हैं। वे उन्हीं दो आदमियोंकी बनाई हुई भिक्षा ग्रहण करते हैं! वे दोनों आदमी जहाँ जहाँ मुनि महाराज जाते हैं सामान लिये उनके साथ साथ चलते हैं! किसी न किसी श्रद्धालु सेठने मुनि महाराजके लिए ही यह व्यवस्था कर रखी है। यह सब होने पर भी मुनि महाराजको यह स्वीकार करनेमें अनौचित्य मालूम होता है कि वह भोजन उनके लिये बनता है।

आप इसे कदाचित् मुनि महाराजका ढोंग कहेंगे। किसीके भी आचरणके लिये सहसा ढोंग शब्दका उपयोग करनेसे सरल कोई दूसरा काम नहीं। किन्तु हमें इसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिये।

मेरी समझमें मुनि महाराज ढोंगी नहीं थे। वे वैसा ही करनेके लिए मजबूर थे। उनके जैसे मानसिक संस्कार थे और उनकी जैसी आर्थिक वा भौतिक परिस्थिति रही उसमें वे और कुछ कर ही नहीं सकते थे! ठीक उन्हीं की परिस्थितिमें कोई भी दूसरा आदमी और कुछ कर ही नही सकता।

वे मुनि थे। भिक्षा उन्हें मांगना ही चाहिये। श्रमणसंस्कृतिने भिक्षा-संस्थाकी जो कल्पना की और उसका जो विकास किया उसमें मूल बात यही है कि सन्न्यासी, समाजके लिए 'दूभर' न हो। उसका समाज पर कमसे कम भार पड़े। यहाँ तक कि किसी को भी उसके लिये भोजन न बनाना पड़े। गृहस्थ जो अपने लिए बनाये उसीमें से मधुकरी वृत्तिसे साधु चार घरोंसे थोड़ा थोड़ा लेकर अपना जीवन निर्वाह कर ले। इसी दृष्टिसे जैन श्रमणोंकी चर्यामें उत्कृष्ट नियम है कि वह वही भोजन करें जो उनके लिए न बना हो। अब इस नियमके रहते हुए मुनि महाराज अपने लिए उन आदमियोंसे भोजन बनवाने लग जांय तो उनमें तथा दो नौकरोंको साथ साथ लिये फिरनेवाले किसी भी सेठ-साहूकारमें अन्तर ही क्या रह जायगा?

प्रश्न होता है, तब वे जहाँ जाते हैं वहीं 'भिक्षा" माँग क्यों नहीं लेते? आज प्रायः भिखारी ही 'भिक्षुक' रह गए हैं। भिखारियोंको जो और जैसा भोजन जैसे मिलता है उसे आज कौन श्रमण ग्रहण करनेके लिए तैयार है? और सच्ची बात है 'श्रमण' को यदि 'भिक्षा' मिलती है तो पूज्य-बुद्धिसे ही मिलनी चाहिये; कुछ दयाबुद्धिसे नहीं। 'श्रमण' अपरिग्रही है, वह दरिद्र नहीं है। वह भिक्षु है; भिखमङ्गा नहीं है। जिस दिन श्रमण भिखमङ्गा हो जायगा उस दिन उसकी तेजस्विता ही नष्ट हो जायगी

फिर मुनि-महाराजको 'पानी' भी तो ऐसा 'पक्का पानी' ही चाहिये है जो उनके लिए गरम न किया गया हो! तब वे घर-घर भिक्षा मांग ही कैसे सकते हैं? परिणाम वही होगा जिसका उक्त मुनि महाराजकी चर्यामें दर्शन हुआ।

अब मैं अपने ही एक स्नेह-भाजन श्रमण महिन्द्रजी का उदाहरण लेता हूँ। जैन श्रमणोंकी तरह बौद्ध-श्रमणोंसे भी पासमें पैसा न रखनेकी आशा की जाती है। श्रमणोंकी दोनों 'विनयों' में ही नहीं, सभी परिव्राजकोंको रुपया पैसा रखना वर्जित है। श्रमण भिक्षाजीवी है। रोजकी रोज भिक्षा मांग खाता है। पैसा उनके किस कामका? पैसा रखेगा तो संग्रह भी हो जायगा। उसके नष्ट होनेका भय रहेगा और उसके सुरक्षित रखनेकी चिन्ता।

किसी भी भिक्षु अथवा श्रमणको क्या जरूरत पड़ी कि वह अपने आपको 'निन्नानवेके फेर' में डाल व्यर्थ हैरान हो ! इसीलिए श्रमण संस्थामें प्रत्येकके लिए 'अपरिग्रही' रहना श्रेष्ठ नियम ठहराया गया है ।

श्रमण महिन्द्र बर्मासे बौद्ध दीक्षा लेकर आए है । नया मुल्ला बहुत अल्ला अल्ला पुकारता है, यह एक सर्व व्यापक सिद्धान्त है । बिचारे श्रद्धापूर्वक जितना ज्ञान है उसके अनुसार 'विनय' पालन करनेकी पूरी चेष्टा करते हैं । पैसा न रखनेका नियम तो एक अत्यन्त सीधा-सादा नियम है, जो सारी श्रमण परम्पराको मान्य है । इन पंक्तियोंका लेखक स्वयं वर्षों पैसा न रखने और रखनेकी उलझनोंमें उलझा रहकर आज किसी भी सामान्य आदमीकी तरह पैसेका व्यवहार करने लग गया है । उस दिन सारनाथमें महिन्द्रजीने कहा–

"मेरा कुछ पैसा अमुक......आदमीके पास है । वे जा रहे थे । आपके साथ कोई आदमी हो तो उसे दिलवा दूँ ।"

"आपका पैसा मैं भी ले सकता हूँ" कहकर मैंने वह अपने साथी गुणाकरको दिलवा दिया ।

दूसरे दिन उनके दिल्लीके पास एक छोटीसी जगहतक आनेकी व्यवस्था करनी थी । मैंने उनके पैसे ले यह व्यवस्था कर देनेका भार अपने ऊपर लिया । स्टेशन पहुँचा । बाबूसे पूछा—"आप एक टिकट दे देंगे ?"

"अभी गाड़ी आनेमें देर है । एक घण्टे बाद मिलेगा ।"

"टिकट मुझे इन स्वामीजीके लिए चाहिये । यह पैसा पास रखते नहीं । मैं इन्हें अभी टिकट ले देकर चला जाना चाहता हूँ ।

"तो लाइए, किन्तु कहाँका चाहिये ?"

स्टेशनका नाम बताया । वह छोटा-सा स्टेशन ! बाबूकी रेलवे गाईड तकमें नहीं ही मिल रहा था । मैं ढाई रुपयेका एक नया टाइम टेबल खरीद लाया । उसमें स्टेशनका नाम दिखाकर कहा—"यह स्टेशन है ।"

वह छोटासा स्टेशन ! उसकी मील संख्या नहीं दी थी ! पता नहीं कितना किराया लगता है ? वहाँ गाड़ी ठहरती है या नहीं ? इन दोनों प्रश्नोंको लेकर काफी परेशानी हुई । अन्तमें बाबूने दो दो स्वामियोंके प्रभावसे प्रभावित होकर टिकट बना दिया ।

मैं चाहता था कि महिन्द्रजीको रातको सुरक्षित सोनेकी जगह भी मिल जाय । स्थान सुरक्षित करनेवाले क्लर्कसे भेंट की । उसने कहा–

"गाड़ी आने पर ही हम कुछ कर सकते हैं । गाड़ी यहाँसे चलती होती तो अभी कुछ कर देते ।"

"यह स्वामी जी पैसा नहीं रखते। मैं अभी आना चाहता था। आप पैसा ले लेते। गाड़ी आनेपर स्थान सुरक्षित कर देते।"

"यदि गाड़ीमें स्थान न मिले तो मैं यह पैसा इनको लौटा दूँ ?"

अरे ! अरे यह पैसा रखते होते तब तो बात ही क्या थी। आप ऐसा करें यह पैसा रख लें। मैं फिर आ जाऊँगा। यदि इन्हें स्थान न मिला तो आप यह पैसा मुझे लौटा दीजियेगा।"

महिन्द्रजी साथ साथ यह सब देख सुन रहे थे। अब उनसे न रहा गया। वे छोटे बच्चे नहीं हैं। उन्होंने गृहस्थ जीवनमें फौजमें ओवरसीयरी की है। उनके मनमें छिपे हुये बुद्धिवादने उनकी भावना पर कड़ी चोट लगाई। वह चोट आँसू बनकर बहने लगी। बोले—

"भन्ते ! मुझे क्षमा करें ! मैं नहीं जानता कि यह शील पालन है अथवा दुःशीलता है ? आपको मेरे कारण इतना कष्ट हो रहा है !"

मैंने उसे ढाढ़स बंधाया—

"मामूली बात है। किसी भी नियम पालनमें थोड़ी असुविधा होती ही है। हर नियम पालनके एकसे अधिक पहलू होते हैं। आपको यह पहलू देखना मिल रहा है। अच्छा ही है।"

अब भी महिन्द्रजी पैसा न रखनेके उस नियमको निबाह तो रहे हैं किंतु मैं जानता हूँ कि उनके हृदयमें एक स्थाई संदेह घर किये हुए है कि यह शील पालन है अथवा दुःशीलता !

श्रमण संस्कृतिके दो सामान्य प्रतिनिधियोंके जीवनसे ली गई यह दोनों सामान्य घटनाएं किस बातकी ओर इशारा करती हैं ? ये कौनसा प्रश्न हमारे सामने लाकर खड़ा करती हैं ?

प्रश्न सीधा-सादा है। वह प्रश्न किसी भी चरित्रहीन ढोंगी श्रमणको हैरान नहीं करता। किन्तु जिसके जीवनमें सचाई है, जिसके जीवनमें श्रद्धा है उसके सामने सचमुच यह बड़ा भारी प्रश्न है कि आखिर वर्तमान समयमें उसके श्रमजीवनका मापदण्ड क्या हो ?

अभी कल परसों जम्बुमुनिजी महाराज तथा उनके गुरुजीने मुझसे मिलने आनेकी कृपा की थी। गुरुजीने जो प्रश्न मुझसे पूछे वह ऐसे ही थे "रेलमें चढ़ सकते हैं या नहीं ? शामको भोजन खा सकते है या नहीं...इत्यादि।"

उनके वे प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। वे बतलाते हैं कि आजके अनेक चिन्तक श्रमणोंके लिए यह एक बड़ी भारी समस्या है कि वे रेलमें चढ़े अथवा नहीं ?

किन्तु मैं इसे दूसरी दृष्टिसे देखता हूँ। मेरी जिज्ञासा यह है कि क्या एक मुनि रेलमें चढ़नेसे मुनि नहीं रहता और यदि वह रेलमें नहीं ही चढ़े तो

क्या यह कोई ऐसी विशेष बात है जिसे किसीके भी धार्मिक-जीवनका ऊँचा मापदण्ड माना जाय ?

'विनय' के सभी नियम साध्य हैं, साधन नहीं। क्या देश कालके बदलने पर साध्यकी सिद्धिके लिये बहुधा साधन बदलने नहीं पड़ते ? कुछ लोगोंका कहना है कि यदि कोई श्रमण विनय नहीं पालन कर सकता तो उसे 'श्रमण' बननेकी ही क्या आवश्यकता है ? मेरी जिज्ञासा है कि क्या जीवनके धर्म-रूप का मात्र प्रतिनिधित्व इन नियमोंके पालन द्वारा ही होता है ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि देश कालकी ओर ध्यान न दे जड़वत् किन्हीं नियमोंको पालते रहना 'अधर्म' का ही द्योतक हो ? प्रश्न नियमोंके पालन कर सकने अथवा न कर सकनेका नहीं है। प्रश्न नियमोंके पालन करनेके औचित्य तथा अनौचित्य का है।

'नियमों' का पालन करना और वर्तमान युगके सामान्य जीवनके माप-दण्डोंके मुताबिक कौतुकागारकी सामग्री बन कर पड़े रहना एक रास्ता है।

'नियमों' को पालन-करना उचित न समझनेके कारण दीक्षाका ही त्याग कर देना दूसरा रास्ता है।

'नियमों' के पीछे जो भावना है उसे ग्रहणकर देश कालके अनुसार उन नियमोंका नये ढंगसे पालन करना तीसरा रास्ता है।

श्रमणोंका भविष्य इन तीन रास्तोंमें से एक सही रास्ता चुनने पर निर्भर करता है। यदि 'संघ' न चुन सके तो फिर व्यक्तिको ही चुनाव करना पड़ेगा।

देखें श्रमण-संस्थाका भावी इतिहासकार क्या लिखने जा रहा है ?

"जैन जगत अप्रैल'५०"

साहित्य-समीक्षा

केवलज्ञानप्रश्न चूडामणि

प्रकाशक—श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी। सम्पादक—पं० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य, पुस्तकाध्यक्ष जैन सिद्धान्तभवन आरा। पृष्ठ सं० १०+४०+१२६। छपाई उत्तम। मूल्य ४) सादा जिल्द।

साधारणतः ज्योतिर्विद्या दो भागोंमें विभक्त की जाती है—गणित और फलित। यह भारतवर्षकी अति प्राचीन विद्या है। जैनाचार्योंने इसपर पर्याप्त विचार किया है। प्राचीन कालसे ही इस विद्याके प्रतिपादन करनेवाले स्वतन्त्र ग्रंथ रहे हैं। जैनोंके बारह अंगों पर दृष्टि डालनेसे ज्ञात होता है कि दृष्टिवाद अङ्गके एक भेद परिकर्ममें मुख्यतया गणित ज्योतिर्विद्याका संकलन किया गया था। फलित ज्योतिर्विद्याके मुख्य भेद तीन हैं—प्रश्नोंके अनुसार उत्तर देना, उल्कापात आदि निमित्त देखकर शुभाशुभ कहना और आकाशमें नक्षत्रोंकी गति स्थिति आदिको देख कर शुभाशुभ कहना। ये तीनों विषय किसी न किसी रूपमें ज्योतिर्विद्याके अंग मान लिये गये हैं। इनमें से प्रश्न विद्याका संकलन प्रश्नव्याकरण नामक अङ्गमे किया गया था, निमित्त विद्याका संकलन विद्यानुवाद पूर्वमें किया गया था और तीसरे भेदका संकलन कल्याण वाद पूर्वमें किया गया था।

प्रस्तुत ग्रंथका सम्बन्ध प्रश्नव्याकरण अङ्गसे है। अब तक भारतीय साहित्यमें इस तरहके जितने भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है। इसमें प्रश्नके आठ भेद करके उनके शुभाशुभ फलोंके जाननेकी विधि बतलाई गई है। ग्रंथ अपने मूलरूपमें जितना क्लिष्ट और गम्भीर है, सम्पादकने हिंदी अनुवाद द्वारा उसे उतना ही सरल और सुबोधगम्य बना दिया है। इसके परिशिष्ट और प्रस्तावना भी अत्यन्त उपयोगी हैं। साधारण सा ज्ञान रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इसके परिशिष्टोंका स्वाध्याय करके ज्योतिर्विद्यामें प्रवेश कर सकता है। ज्योतिर्विद्याके इतिहासकी जानकारी प्राप्त करनेके लिए प्रस्तावना विशेषरूपसे द्रष्टव्य है।

अभी तक यह प्रवाद था कि जैनाचार्योंने ज्योतिर्विद्या जैसे लोकोपयोगी विषय पर बहुत ही कम लिखा है किंतु इसकी प्रस्तावना पढ़नेसे ज्ञात होता है कि यह कोरा प्रवाद मात्र है। जैन ऋषियोंने अपनी स्वतन्त्र विचारणा द्वारा

ज्योतिर्विद्यामें जो प्रवीणता प्राप्त की थी उससे इस विद्याकी विशेष श्रीवृद्धि हुई है इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

श्री नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ज्योतिषशास्त्रके माने हुए विद्वान् हैं। जैन ज्योतिषको प्रकाशमें लानेमें उनका बड़ा हाथ है। प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादनमें उनकी इस विषयकी योग्यता विशेष रूपसे प्रकाशमें आई है। हम आशा करते हैं कि उन्होंने जितने अच्छे ढंगसे इसका सम्पादन किया है लोकमें इसका उतना ही विशेष आदर होगा।

सभाष्य रत्नमंजूषा

प्रकाशक-श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

सम्पादक-अध्यापक हरि दामोदर वेलणकर विलसन महाविद्यालय बम्बई। पृ० सं० ८+४+७०। छपाई उत्तम। मूल्य २) सादा जिल्द।

प्रस्तुत ग्रंथ सभाष्य रत्नमंजूषा सूत्र पद्धतिसे लिखा गया है। लेखक एक जैन आचार्य हैं। यह इसकी टीकाके आधारसे अनुमान किया जाता है। यह पिंगल शास्त्रका अनुकरण करता है और आठ अध्यायोंमें समाप्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथको समझनेके लिए इसकी संस्कृत टीका विशेष उपयोगी है। इसमें मूल ग्रंथके अनुसार छन्दके प्रत्येक लक्षण पर प्रकाश डालते हुये उनके उदाहरण दिये गये हैं।

इसके सम्पादक विलसन महा विद्यालय बम्बईके प्राध्यापक हरि दामोदर वेलणकर हैं। छन्दः शास्त्र पर इनका विशेष अधिकार है। इन्होंने इस विषयपर संशोधनात्मक अनेक निबन्ध लिखे हैं। जिनरत्नकोशका भी इन्होंने सम्पादन किया है। इनके द्वारा सम्पादित होनेसे प्रस्तुत ग्रंथकी महत्ता विशेष बढ़ गई है। ग्रंथके प्रारम्भमें उपयोगी प्रस्तावना है। यह अंगरेजी और हिन्दी दोनों भाषाओंमें लिखी गई है। इससे प्रस्तुत ग्रंथके हार्दको समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है। तथा ग्रंथके अन्तमें अंग्रेजीमें नोट्स दिये गये हैं। इनसे ग्रंथमें वर्णित छन्दोंके लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है। ग्रंथका सम्पादन अत्यन्त उपयोगी हुआ है। संस्कृत छन्दोंका संक्षेपमें ज्ञान करनेके लिये इसका अत्यन्त उपयोग है। हम इसके सार्वत्रिक प्रचारकी आशा करते हैं।

-फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

सम्पादकीय

आचार्य नरेन्द्रदेव जी की चेतावनी—

भारतीय संस्कृतिके अधिकारी विद्वान् एवं प्रसिद्ध समाजवादी नेता आचार्य नरेंद्र देवजीने काशीके टाउनहालमें महावीर जयन्तीके सिलसिलेमें हुई सार्वजनिक सभामें भाषण करते हुए कहा कि—"बहुतसे धर्मोंसे मानव जीवनका विकास हुआ है। समय था, जब वे धर्म प्रगतिशील थे, जीवनको गति प्रदान करने वाले थे। किन्तु ऐसा भी समय आया जब कि उनमें जड़ता आ गयी और उनके विकासके अंश दूर हो गये। उन सब धर्मोंके प्रति जिन्होंने हमें सार्व-भौमताकी शिक्षा दी मेरा आदर है। मैं धार्मिक दृष्टिकोणका व्यक्ति नहीं हूं किन्तु इतिहासका विद्यार्थी होनेके कारण धर्मोंके महत्त्वसे परिचित हूं।

कालान्तरमें जैन समाजमें व्याप्त संकीर्णताकी चर्चा करते हुए आपने कहा—यही कारण था कि इस धर्मका प्रचार और प्रसार रुक गया तथा आज वह एक संकीर्ण समुदायमें ही शेष रह गया है। आपने जैनियोंसे संकुचित मनो-वृत्तिका त्याग करनेकी अपील की और तीर्थङ्करके बताये मार्गका अनुगमन करनेका अनुरोध किया।

आपने इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया कि जैन मन्दिरोंमें हरिजनोंके प्रवेशका कुछ लोगोंने विरोध किया है। आपने कहा—यदि प्राचीन समयमें जैन यह संकीर्णता अपनाते तो उनका धर्म अरब तक नहीं पहुँचता।

आचार्य जीने इस बातपर जोर दिया कि आजके युगमें हमारा कर्त्तव्य है कि सबको बातोंको जान तथा सबके मौलिक तत्त्वोंको लेकर अपने प्राचीन इति-हासके प्रकाशमें, व्यक्तिगत जीवनकी उन्नति करते हुए विश्व बन्धुत्वकी स्थापना करें। जैन हिन्दू हैं अथवा नहीं इस प्रश्नकी चर्चा करते हुए आपने कहा—यदि हिन्दूका अर्थ इस देशके रहनेवालों मात्रसे किया जाय जो वास्तवमें इस शब्दका अर्थ भी है तब तो जैनियोंको हिन्दू कहलानेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु यदि हिन्दू शब्दका अर्थ हिन्दू लोग हिन्दु धर्मसे लें तब हिन्दु कहलानेमें जैनियोंको अवश्य आपत्ति होगी और उनकी आपत्ति उचित होगी। जैनियोंको अपने निकट लानेके लिए हिन्दुओंको अपनी मनोवृत्तिका त्याग करना पड़ेगा। भारतीय प्राचीन संस्कृतिका जिन्होंने अध्ययन किया है वे कभी

संकीर्ण नहीं हो सकते। हम जीवनके सोतेसे हट गये हैं, हमें पुनः जीवनकी धारामें आना चाहिये।"

आचार्यजीका भाषण हमें स्पष्ट और गम्भीर चेतावनी दे रहा है कि यदि हमने संकीर्णता छोड़कर महावीरके धर्मके पुनीत रूपको नहीं अपनाया तो हम उसके प्रति विश्वासघाती ही सिद्ध होंगे।

जैन हिन्दू विवादपर आचार्यजीका वही दृष्टिकोण है जिसका समर्थन 'ज्ञानोदय' ने अपने जन्मसे किया है और कुछ जैनोंके 'जैन हिन्दू नहीं हैं' इस आत्मघाती नारेसे समाजको चेताया है। हर्ष है कि काशीके प्रसिद्ध दैनिकपत्र 'आज' के लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक आचार्य पराड़करजीने भी इसका समर्थन किया है। उनकी 'आज' की टिप्पणी इस प्रकार है—

"......जैन हिन्दू हैं या नहीं इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्यजी कहते हैं कि यदि हिन्दू शब्दका अर्थ 'हिन्दका अधिवासी' हो तो निःसन्देह जैन हिन्दू हैं। पर इसका यदि 'एक विशिष्ट धर्मका अनुयायी' अर्थ किया जाय तो कहना पड़ेगा कि जैन हिन्दू नहीं, और न वे स्वयम् हिन्दू कहलाना पसन्द करेंगे। यह बात अक्षरशः सत्य है तथा इसपर हिन्दू समाजके विचारशील लोगोंको गंभीरतापूर्वक मनन करना चाहिये। हिन्दू शब्दसे जिस सम्प्रदायका बोध होता है उसकी व्याख्या धर्म-निरपेक्ष भी की जा सकती है। जैसे हिन्दू वह है जो *भारतको अपनी जन्म-भूमि समझता है, भारतमें ही जिसके तीर्थस्थान हैं अर्थात्* जिनकी दृष्टिमें यह पुण्यभूमि भी है और जो भारतीय संस्कृतिको ही अपनी संस्कृति समझता है। इस व्याख्यासे यदि पुण्यभूमिकी बात निकाल दी जाय तो हिन्दू एक विशिष्ट राष्ट्रीयताका द्योतक हो जाता है तथा तब इसमें मुसलमान और ईसाइयोंको भी आपत्ति न होना चाहिये।

इसी तरह 'संसार' के सम्पादक श्री पं० कमलापति त्रिपाठी लिखते हैं—

"......आचार्य नरेन्द्रदेवने हिन्दुत्व और धार्मिकताके सम्बन्धमें जो दृष्टि-कोण रखा उसपर सभी क्षेत्रोंमें गम्भीरतापूर्वक तथा सहानुभूतिके साथ विचार किया जाना चाहिये। आपने कहा कि, 'हिन्दुस्तानमें रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू है।' अर्थ यह कि हिन्दू' शब्द नागरिकताका और देशकी प्रजा होनेका बोधक होना चाहिये—पंथके अर्थमें किसी धर्म विशेषका नहीं। आचार्य ठीक कहते हैं कि ऐसा होनेपर ही भारतका प्रत्येक निवासी, वह जैन या सिख हो अथवा दूसरा कोई, अपनेको हिन्दू समझ सकेगा।"

आशा है जैन समाजके वे बन्धु सार्वजनिक नेताओं द्वारा की जाने-वाली देशपरक व्याख्यासे अपने धर्मके डूबनेका भय त्यागकर बिलगावकी मनोवृत्ति छोड़ेंगे। अभी-अभी जबलपुर और सागरमें 'जैनहिन्दू'के प्रश्नको

लेकर जो पर्चेबाजी हुई है उससे वहाँके जैनोंकी स्थिति दयनीय जैसी होती जा रही है। यदि अब भी वातावरण साफ नहीं किया गया तो इन्हें आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें अपने अस्तित्वके ही खोनेका महान् खतरा उठाना पड़ेगा।

सूत्रोच्छेद प्रकरण—

ज्ञानोदयके पिछले अंकमें हमने सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें से 'संजद' पदके निकाल देनेसे उत्पन्न हुई स्थितिपर शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकाश डाला था। हमारे समान दूसरे पत्र सम्पादकोंका भी इस ओर ध्यान गया है। वीरवाणी, जैनबोधक और वीर प्रभृति पत्रोंने इस विषयपर विशेष टिप्पणियाँ व अग्रलेख भी लिखे हैं। उसमें भी वीरवाणीका काम विशेष सराहनीय है। उसने खुले शब्दोंमें एकाधिकबार इसकी आलोचना की है और समाजके सामने सत्य परिस्थिति रखी है। धीरे धीरे यह आम जनताकी चरचाका विषय बनता जा रहा है। उत्तरोत्तर हमारे पास ऐसे पत्र आ रहे हैं जिनमें इस निकृष्टतम कृत्यके प्रति घृणा और क्षोभ प्रकट किया जा रहा है। यद्यपि इस समय तक जैनमित्र और जैनसन्देश इस मामलेमें चुप हैं, पर हमारा ख्याल है कि यदि यही स्थिति चलती रही तो उनका मुँह खुले बिना नहीं रहेगा। यह ऐसा विषय नहीं है जिसमें विवादको जरा भी स्थान हो। हमारे सामने हमारे कहलानेवाले ही भाई आगमका अंगभंग करें और हम देखते रहें यह भला कैसे हो सकता है?

'जैनदर्शन'की बात निराली है। वह तो 'गोकुल गाँवसे मथुरा न्यारी'की कहावत चरितार्थ करता है। उसके सम्पादकको कौन नहीं जानता। ये वही महाशय हैं जिनके गुटने वह लज्जास्पद अधार्मिक कार्य किया है। इस काममें उन्होंने वयोवृद्ध शान्तिसागर महाराजको भी फँसा लिया है। यह इनकी कूटनीति ही कहनी चाहिये। यह गुरुतर अपराध है। इसके करनेसे पांचों पापोंका दोष लगता है। इसका संघबहिष्कारके सिवा और क्या प्रायश्चित्त हो सकता है? फिर भी पिछले जैनदर्शनमें वे हमें गाली देते हैं। वे हमें आगमको नहीं माननेवाले भी घोषित करते हैं, और भी बहुतसी ऊलजलूल बातें वे हमारे सम्बन्धमें लिखते हैं। वे सोचते होंगे कि ऐसा लिखनेसे इस अनर्थपर परदा पड़ जायगा पर ऐसा समझना उनका कोरा भ्रम है। अब जनता उतनी बुद्धू नहीं रही है। वह अच्छे बुरे कार्यका विवेक करना सीख गई है। आगम उसके सामने है। उसे देखकर वह सत्य झूठका निर्णय कर सकती है।

यह तो प्रत्येक विद्वान् जानता है कि सत्प्ररूपणाके ९२,९३ सूत्रोंकी स्थिति ८७,८८ सूत्रोंकी स्थितिसे भिन्न नहीं है। ९२,९३ सूत्रोंमें मनुष्यनियोंके पर्याप्त

और अपर्याप्त अवस्थामें गुणस्थानोंका विचार किया गया है और ८७,८८ सूत्रोंमें तिर्यंचयोनिनियोंके पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें गुणस्थानोंका विचार किया गया है . क्या ऐसी स्थितिमें कोई यह कहनेका साहस कर सकता है कि यहाँ द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है। यदि यही बात होती तो स्वयं वीरसेन स्वामी ८७वें सूत्रकी उत्थानिकामें 'स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चाम्' जैसे पदका निर्देश नहीं करते।

षट्खण्डागम हमारी निधि है। उसका प्रत्येक वाक्य और पद हमें स्फूर्ति प्रदान करता है। परम्परासे सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीरकी वाणी तक पहुंचनेके लिये वह माध्यमका काम देता है। गौतम गणधरने जिस द्वादशांगकी रचना की थी उसके एक अंशरूपसे इसकी ख्याति है। उसके आधारसे हम समस्त कर्मसाहित्य और जीवसाहित्यकी वर्णनशैलीको समझनेमें समर्थ होते हैं। उसकी उत्पत्ति और रक्षा दृढ़ साधनाका फल है। ग्रन्थरूपमें अपनी उत्पत्ति कालसे ही उसे अनेक संकटोंका सामना करना पड़ा है। यह एक जीवित कहानी है जिसे पढ़ सुनकर हमारे रोम रोम खड़े हो जाते हैं। ऐसे महान् ग्रन्थके प्रत्येक पदकी रक्षा करना प्रत्येक धर्मनिष्ठ व्यक्तिका कर्त्तव्य है। क्या हम समस्त प्रकारकी मोह ममताको छोड़कर इस कर्तव्यकी ओर ध्यान देनेके लिये तैयार हैं? यह प्रश्न आज हमारे सामने है। जैन समाजका बच्चा बच्चा इस समय कसौटीपर कसा जा रहा है। उसे अपने सम्यक्त्वकी परीक्षा देनी होगी। विश्वमें अनेक प्रकारके अनर्थ हुए। विधर्मियोंने मूर्तियाँ नष्ट कीं, धर्म ग्रन्थ जलाये। पर आज तक ऐसा अनर्थ देखने सुननेको नहीं मिला। आज तो उसी धर्मके माननेवाले अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहे हैं। देखना यह है कि समाजके विचारशील विद्वान् इस परिस्थितिका किस ढंगसे सामना करते हैं?

हरिजन मन्दिर प्रवेश चरचा—

जैनसन्देशके २० अप्रैलके अंकमें श्री राजकृष्णजी जैन म्युनिसिपल कमिश्नर देहलीका 'हरिजन मन्दिर प्रवेश समस्याका एक हल' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। भाई राजकृष्णजी सहृदय और विचारशील व्यक्ति हैं। उनकी वृत्ति सदा गुटबन्दीसे परे रही है। उनका यह लेख इसी वृत्तिका परिणाम है। उन्होंने इस लेखमें जो विचार प्रकट किये हैं वे स्तुत्य हैं। आगम परम्पराको ध्यानमें रखते हुए हम ऐसे किसी भी प्रयत्नका स्वागत करनेके लिये तैयार हैं जिससे वस्तुस्थितिपर प्रकाश पड़ना सम्भव हो। वे उचित दिशामें जो भी प्रयत्न करेंगे उसमें उन्हें हमारा सदा सहयोग मिलता रहेगा। किन्तु वे इतना ध्यान रखें कि हमारे सामने मुख्य प्रश्न संस्कृतिका है व्यक्तिविशेषका नहीं।

भारत जैन महामण्डल के प्रकाशन

प्यारे राजा बेटा (१ ला भाग) लेखक-रिषभदास राका। बालकोपयोगी देश-विदेश के १५ महापुरुषों की नैतिक कथाएँ। भदन्त आनन्द कौसल्यायन की भूमिका। ११२ पृष्ठ, मूल्य केवल ॥=)

प्यारे राजा बेटा (दूसरा भाग) इसमें भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, कृष्ण युधिष्ठिर पार्श्वनाथ, मुहम्मद, जरथुस्त, मध, नानक आदिकी ११ सुन्दर कहानियाँ हैं। मूल्य ॥=)

महावीर वाणी—लेखक-प० बेचरदास दोशी। जैन आगमों से संग्रहीत सारपूर्ण ३४६ गाथाएँ अनुवाद सहित। डा० भगवानदास जी की महत्वपूर्ण भूमिका। पृष्ठ संख्या २००, मूल्य केवल १)

मणिभद्र—लेखक-श्री 'सुशील'। गुजराती भाषा के इस महावीर कालीन धार्मिक उपन्यास का अनुवाद स्व० पं० उदयलाल जी ने किया है। प्रेम और त्याग की सुन्दर कथा। मूल्य केवल १)

बुद्ध और महावीर—लेखक-आ० किशोरलाल घ० मशरूवाला। लेखक की ठोस लेखनी से लिखी गई, भारत के दो क्रान्तिकारी प्रवर्तक महापुरुषों की विवेचनात्मक जीवनियाँ। बुद्ध और महावीर के अन्तर रहस्य को समझनेके लिए पुस्तक अत्यन्त मननीय है। पृष्ठ संख्या १००, मूल्य केवल ॥)

जैन जगत (मासिक)

असाम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से पारस्परिक भाई-चारा, सद्भावना और मानव धर्म का प्रचारक यह पत्र आपको चिन्तन, अध्ययन की हृदयस्पर्शी, सुपाठ्य, सरस और सुन्दर सामग्री प्रदान करेगा।

वार्षिक मूल्य २)

हमारी अभिनव-योजना

हम एक ऐसी ग्रन्थमाला प्रारम्भ करने जा रहे हैं जिसमें प्रतिवर्ष ६०० पृष्ठों की ६ या ४ पुस्तकें प्रकाशित होंगी। इस माला में वैदिक, बौद्ध और जैन विचारधाराओं के समन्वय पर विद्वान् लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होंगी। जो सज्जन ३) पेशगी भेज देंगे उन्हें ६०० पृष्ठ का साहित्य घर बैठे मिल जायगा। इसके अन्तर्गत "वैश्यर्षि जमनालाल बजाजकी 'मृत्यु विवेचन' और 'साधकका उपहार' पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। प्रति १०० पृष्ठ का मूल्य ॥) होगा।

भारत जैन महामण्डल, वर्धा (म० प्रान्त)

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय बनारस।

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक
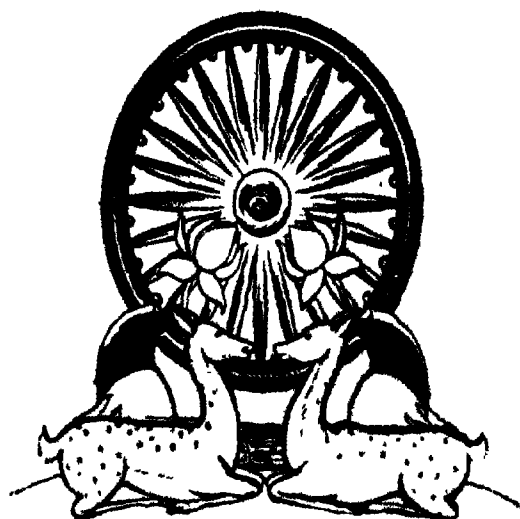
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जून १९५०   [१२]   वीर नि० २४७६

सम्पादक—

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

वार्षिक ६) * एक प्रति ॥=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १   * काशी, जून १९५० *   अंक १२

आत्मा ही परमात्मा है

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥ —समाधितन्त्र

जो परमात्मा है सो मैं हूँ, और जो मैं हूँ सो परमात्मा है, इसलिये मैं ही अपने द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा उपास्य नहीं है।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवज्झायउ सो जि मुणि णिच्छइ अप्पा जाणि ॥१०४॥
सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥१०५॥

निश्चयसे आत्मा ही अर्हत् है, आत्मा ही सिद्ध है, आत्मा ही आचार्य, उपाध्याय और मुनि है। आत्मा ही शिव-शंकर है। आत्मा ही रुद्र और विष्णु है, आत्मा ही शुद्ध बुद्ध है। आत्मा ही ईश्वर है—आत्मा ही अनन्त है, सिद्ध है।

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किं पि वियाणि ।
मोक्खहं कारणे जोइया णिच्छइं एउ विजाणि ॥२०॥ —योगसार

शुद्ध आत्मा और परमात्मामें कुछ भी अन्तर नहीं है। हे योगी, आत्मा और परमात्माकी इस एकताको देख। इस एकताकी धारणा ही मोक्षका असली मार्ग है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इहु सिद्धंतहं सारु ।
इउ जाणेविणु जोइयहो छंडहु मायाचारु ॥२१॥

जो परमप्पा सो जियउ जो हउ सो परमप्पु ।
हउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु ॥२२॥ —योगसार

जो परमात्माका स्वरूप है वही निश्चयसे अपनी आत्मा का स्वरूप है। यह मान्यता ही समस्त जिनशासनका सार है। यह जानकर ही, हे योगी, तू समस्त विकल्पोंका त्याग कर दे—समस्त मायाचारका त्याग कर दे। तू अपने जीवनको सीधा और सरल बना ले।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवली देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥४४॥ —योगसार

हे मूढ़, जिसकी तुझे तलाश है, वह परमात्मा न तीर्थोंमें है, न देवालयोंमें। वह न पाषाणकी मूर्तियोंमें है, न लेखचित्रोंमें। वह तो अपने भीतर ही बसा हुआ है। तू उसे सावधान होकर अपने भीतर ही खोज।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं म करि भेउ ॥२६॥
—परमात्मप्रकाश अ० १।

जैसा शुद्ध बुद्ध, निरंजन, ज्ञानस्वरूप परमात्मा सिद्ध लोकमें वास करता है, वैसा ही परमात्मा देहमें वास करता है। अतः देहके आत्मासे परमात्मामें भेद न कर।

देहा देवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु ।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥
देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जोजि।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥३४॥
—परमात्मप्रकाश अ० १।

जो देहमें रहता हुआ भी देहको नहीं छूता और न देहसे छुआ जाता है। जो अछूता है, ज्योति स्वरूप है, अनादि अनन्त है, तू उसीको परमात्मा जान।

अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः ।
स्वस्मिन्नेव स्थिय मृग्या अलास्य करणान्तरम् ॥२१-८,
—ज्ञानार्णव०

हे आत्मन्, यदि तुझे परम ज्ञान, परम आनन्द और परम शक्तिकी चाह है, तो तुझे आप अपनेमें ही बैठकर इन्हें ढूंढना चाहिये।

—सं० जयभगवान् वकील

जावामें भारतीय संस्कृतिका सूत्रपात

राहुल सांकृत्यायन

१. भौगोलिक-यद्यपि इन्डोनेसियाके द्वीपसमूहोंमें बोर्नियो और सुमात्रा जावासे कई गुने बड़े हैं, किन्तु इतिहासमें जावाका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। सुमात्राकी भांति जावा भी लम्बा और पतला द्वीप है। इसकी लम्बाई ६२७ मील और चौड़ाई ५५ से १२१ मील तक है। मदुरा तथा नजदीकके दूसरे छोटे द्वीपोंको मिलाकर इसका क्षेत्रफल ५१००० वर्गमील है। उत्तरमें जावा समुद्रकी उथली जलराशि इसे बोर्नियोसे अलग करती है। इसके दक्षिणमें अतिगम्भीर भारतमहासागर दक्षिणी ध्रुव तक चला गया है। जिसमें ध्रुव प्रदेशोंको छोड़कर कोई स्थल-खण्ड नहीं मिलता। जावाके पूरबमें बालीका छोटा द्वीप है, फिर लगातार लम्बक, संबावा, फ्लोर और तिमोरके द्वीप चले गये हैं। जावा और सुमात्राके बीचमें सुंडाकी खाड़ी कहीं कहीं केवल चौदह मील चौड़ी है। जावाके उत्तर पूरबमें मदुराका छोटा द्वीप है, जिसके बीचकी खाड़ी कहीं-कहीं एक मीलसे भी कम चौड़ी है। सुमात्राकी तरह जावा भी पहाड़ी तथा अधिकतर ज्वालामुखी पहाड़ोंका देश है। इनके पर्वतोंकी ऊँचाई चार हजारसे बारह हजार फीट तक है। यहाँकी नदियाँ छोटी-छोटी हैं। इनमें सोलो तथा ब्रंतस श्रोमें ही कुछ दूर तक नौसंचालन किया जा सकता है। नौकोपयोगी न होनेपर भी जावाकी पहाड़ी नदियाँ सिंचाईके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। जावाकी भूमि कृषिके लिए समस्त विश्वमें विख्यात है। उसके बन्दोंग, सुराकर्ता, मदियून, केदरी, मलंग, बन्दवस और पशार जैसे मैदानी भाग अन्नकी खान हैं। जावाकी वानस्पतिक सम्पत्तिकी विश्वमें तुलना नहीं की जा सकती। यहाँ बहुत जातिका मागौन होता है। द्वीपकी ४० प्रतिशत भूमिमें खेती होती है, जिसमें मुख्य उपज है—धान, गन्ना, सिन्कोना (कुनैन), चाय, काफी, तम्बाकू आदि। खनिज सम्पत्तिमें जावा पिछड़ा हुआ है, लेकिन उसकी कमी पेट्रोल पूरा करता है।

२ भारतीय उपनिवेश—जावा भारतके प्राचीन उपनिवेशोंमें है। इसके निवासियोंकी जातिके बारेमें हम पहले बता चुके हैं और यह भी कि मलय जाति प्रागैतिहासिक कालमें भारतसे आयी मालूम होती है, किन्तु यह बात

उकटी भी हो सकती है। सबसे प्राचीन मानव जावा-मानवकी खोपड़ी यहीं मिली थी। वह पाषाण काल में (आजसे पाँच लाख वर्ष पहले) पृथ्वीपर रहता और काठ, पत्थरको हथियारोंके तौरपर इस्तेमाल करता था। ऐतिहासिक कालके आरम्भसे ही जावापर भारतीयताकी घनिष्ठ छाप पड़ी दीख पड़ती है, जो कि नामसे ही मालूम होता है—यव (जौ) हिन्दी-ईरानी कालका शब्द है। जावाके कथानकोंमें भारतीयोंके यहाँ आनेके बारेमें कई बातें लिखी हुई हैं। चीनी इतिहासके लेखक फेइ-सिन् (१४३६ ई०) के समय तक राज्यकी स्थापना हुए १३७६ वर्ष हो चुके थे—"(जावाके दूत) जब १४३२ में भेंट लेकर आये तो उन्होंने एक पत्र भी अर्पित किया, जिसमें लिखा था कि उनका राज्य १३७६ वर्ष पहिले स्थापित हुआ था, अर्थात् हान-वंशके सम्राट् स्वेनके यिवेन-खाङ युगके प्रथम वर्ष (६५ ई० पू०) में।" यहाँ संवत्सरकी गणनामें कुछ गड़बड़ी मालूम होती है, किन्तु यह काल ५६ ई० का हो सकता है। यही समय है जब कि जावाका प्रथम राजा अजि-शका भारतसे यहाँ पहुँचा। संभव है अजि शकासे पहले भी भारतीय जावा आते रहे हों और अजि-शकाने उन्हें संगठित कर एक बड़ा राज शक्तिका रूप दिया हो।

चीनी इतिहास द्वारा जावाकी दूसरी शताब्दीपर अधिक प्रकाश पड़ता है। १३२ ई० में जावाका राजा तियावथियेन या देववर्माने चीनी दर्बारमें अपना दूत भेजा था। यद्यपि तीसरी शताब्दीमें फिर चीनियोंने जावाका वर्णन किया है, किन्तु पाँचवीं शताब्दीसे ही हम ठोस ऐतिहासिक भूमिपर पहुँचते हैं। ४१४-१५ भारतसे सिंहल होकर लौटते समय फाशियान पाँच महीने यव-द्वीपमें ठहरा था। उसके लेखानुसार उस समय जावामें ब्राह्मण नहीं बौद्ध-धर्मकी प्रधानता थी। सबसे पहिले फाशियानके समयके आसपास ही गुण-वर्माको हम जावामें बौद्ध धर्मका प्रचार करते पाते हैं। गुणवर्मा काश्मीर या (कपिशा) के राजा संघानन्दका पुत्र और हरिभद्रका पौत्र था। उसने राज्य छोड़ भिक्षु-व्रत धारण किया था। गुणवर्मा तीस वर्षका था, जब राजा निःसन्तान मर गया। गुणवर्माको राज्य सम्भालनेके लिये कहा गया, परन्तु उसने लेनेसे इनकार कर दिया। सिंहलकी ख्याति उसे वहाँ ले गयी, जहाँसे वह जावा पहुँचा। राजमाताके बौद्ध बननेपर जावाका राजा भी बौद्धधर्मी बना। इसी समय राज्यपर आक्रमण हुआ। राय पूछनेपर गुणवर्माने कहा—चोरको दण्ड देना हरएकका कर्तव्य है। चीनी लेखक द्वारा लिखी गुणवर्माकी जीवनी बताती है, कि राजाने संसार त्यागना चाहा, मन्त्रियोंके बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने इस शर्तपर राजा होना स्वीकार किया, कि राज्यमें कहीं प्राणी न मारे जायँ। जावासे गुणवर्माकी कीर्ति चीन पहुँची। ४२४ में चीनी भिक्षुओंने

सम्राट्को उसे निमन्त्रित करनेके लिये कहा। गुणवर्मा एक भारतीय व्यापारी नदीके जहाजमें चढ़कर ४३१ ई० में नानकिंग पहुँचा। पर कुछ ही महीनों बाद ६५ वर्षकी अवस्थामें उसका देहान्त हो गया। गुणवर्माकी कथासे पता चलता है, कि फा-शि यानके आनेके बादसे ही वहाँ बौद्ध धर्मका प्रचार होने लगा।

२-पल्लव और जावा:-यद्यपि जातकोंके देखनेसे पता लगता है कि सुवर्णद्वीपसे भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि और यवद्वीपको आया करते थे, किन्तु जान पड़ता है वह वहाँ उपनिवेशिकके तौरपर नहीं बल्कि व्यापारीके तौरपर थोड़ी संख्यामें आया करते थे। जावापर हम दक्षिण भारतकी भारी छाप पाते हैं। जावाके आरम्भिक अभिलेख उसी लिपिमें मिलते हैं, जिसका प्रयोग पल्लव राजा अपने पाँचवीं छठीं सदीके ताम्रपत्रोंमें करते थे—यह बात जावा ही नहीं फूनान और चम्पापर भी लागू है। पल्लवोंके पूर्व और शातवाहनोंके बाद धान्य कटकमें इक्ष्वाकुवंशियोंकी प्रधानता थी। धान्य कटक (धरणीकोट) और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में प्राप्त शिलालेखोंसे पता लगता है कि—ईसाकी तृतीय शताब्दीमें सिंहल, चीन और किरात (चिलात) तक बौद्ध धर्मका प्रचार था। कृष्णा नदीपर अवस्थित धान्यकटक एक अच्छा पुटभेदन नगर था, इसका प्रमाण वहाँका विशाल महाचैत्य है, जो अपने वास्तुशिल्प और मूर्तिशिल्पमें अद्वितीय समझा जाता है। तृतीय शताब्दीमें निर्मित श्रीपर्वतका महाचैत्य भी उससे कम महत्व नहीं रखता। मालूम होता है, धान्यकटकका चैत्य एक बहुत बड़ा धार्मिक केन्द्र था, जिसके नामपर ही बौद्धोंके पुराने अठारह (निकायों) सम्प्रदायोंमेंसे एकका नाम चैत्यवादी पड़ा था। इसका निर्माण शातवाहन कालमें हुआ। इसकी कला शातवाहन कला है, जिसका आगेका विकास इक्ष्वाकुवंश निर्मित श्रीपर्वतके महाचैत्यकी मूर्तिकलामें हुआ। इक्ष्वाकुओंके उत्तराधिकारी काँचीके पल्लवोंने इस कलाको और भी आगे विकसित किया। पल्लव लिपिके साथ जावा और हिन्दचीन-लिपिकी एकरूपता है। पल्लवोंकी और बातोंसे तुलना करनेपर पता लगता है, कि जावा आदिके साथ बहुत अधिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करनेका श्रेय इसी पल्लववंश और पल्लवभूमिको है। यह भी उल्लेखनीय बात है, कि पल्लव राजाने भी हिन्दचीनके फूनानियों की भाँति नागराजकुमारीसे ब्याह करके राजलक्ष्मी प्राप्त की थी। पल्लवोंके पहले काँचीवाला प्रदेश नागोंके हाथमें था, यह ऐतिहासिक तथ्य है।

नागोंसे ब्याह करके राज्य प्राप्त करनेकी बात हमें हिन्दचीनकी परम्परामें भी मिलती है। पल्लवोंके पूर्ववर्ती राजा इक्ष्वाकु या शातवाहन वर्माकी उपाधि धारण नहीं करते थे, किन्तु पल्लवोंमें इसका प्रचार पहले शिवस्कन्द वर्मा

(तृतीय शताब्दी) से ही शुरू हो जाता है और सबसे अन्तिम पल्लव राजा अपराजित वर्मा (८७५–८३ ई०) तक चला आता है। वर्मा उपाधिकी प्रधानता सबसे पहले हमें पल्लववंशमें ही देखनेको मिलती है। उत्तरी भारतमें गुप्तोंके उत्तराधिकारी मौखरियोंने इस उपाधिका प्रचार करना चाहा, किन्तु वह अधिक चिरस्थायी नहीं हुई। जावा और हिन्दचीनमें राजाओंके लिए वर्माकी उपाधि सर्वत्र देखनेमें आती है।

जावा और हिन्दी-चीनमें शैव सम्प्रदायकी प्रधानता देखनेमें आती है, वहाँ वैष्णव धर्मकी प्रधानता कभी नहीं होने पायी। दक्षिणमें शातवाहन कालसे ही शैव मतका अधिक प्रचार देखा जाता है। पल्लव-वंशका प्रथम प्रतापी राजा शिवस्कन्ध अपने नामहीसे शैव प्रकट होता है। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि पल्लव दूसरे धर्मोंकी उपेक्षा करते थे। पल्लव राजाओंमें एक नहीं तीन बुद्धवर्मा मिलते हैं। हर्षवर्द्धन-समकालीन प्रथम महेन्द्रवर्मा (६००-३० ई०) को शैव सन्त अप्परने जैनसे शैव बनाया था। अधिकतर शैव सन्त पल्लव कालमें हुए थे। पीछे पल्लव वैष्णव सन्तोंके प्रभावमें भी आये किन्तु जिस समय इन्डोनेसिया और हिन्दीचीनसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हुआ था, उस समय काँचीमें शैव सम्प्रदायका जोर था।

जावाकी परम्परा (अजि-शका-ग्रंथ) में कलिंग और गुजरातसे भी भारतीयोंके जावा पहुँचनेकी बात लिखी है, जिसका अर्थ यही हो सकता है कि– भारतीय उपनिवेशिकोंमें कलिंग और गुजरात (लाट) के लोग भी जा बसे थे, किन्तु उनमें सबसे प्रभावशाली अंश था पल्लवों का।

पल्लवोंकी राजधानी काँचीका नाम सबसे पहले पतंजलि (१५० ई० पू०) ने अपने महाभाष्य (४ : २) में लिया है। जान पड़ता है, उस समय भी काँचीमें पठन-पाठनका सम्भाव था, किन्तु काँचीको विद्याका केन्द्र बनानेका श्रेय पल्लवोंको है। पल्लव राजाओंके चौथी शताब्दीके आरम्भ तकके लेख प्राकृतमें मिलते हैं, फिर उनके ताम्रपत्र और पीछे शिलालेख भी बड़ी सुन्दर संस्कृतमें पाये जाते हैं, पीछे तमिलको शैव-वैष्णव-कविताके विकासका अवसर भी इसी समय मिलता है। ईसाकी चौथी शताब्दीके मध्यमें जब उत्तरसे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तने काँचीके पल्लवराजा विष्णुगोपको नतशिर किया उस समय तक उत्तरमें संस्कृतकी दुंदुभी बज चुकी थी। अब दक्षिणमें भी संस्कृतका बल बढ़ा, शिलालेखों और ताम्रलेखोंमें प्राकृतका स्थान संस्कृतने लिया, और प्राकृत सदाके लिए स्थानच्युत कर दी गई, हाँ, पीछे वह भी समय आया जब कि तामिलने भी अपने लिये बड़ा भाग छीन लिया, लेकिन वह काफी पीछेकी बात है।

संस्कृतकी प्रधानता स्थापित होनेके समयसे ही पल्लवोंकी राजधानी कांची उसका केंद्र बनी। कांचीने आसानीसे भारतकी सात पावन पुरियोंमें अपना नाम नहीं लिखाया। कवियोंमें दण्डी और भारवि कांचीके रत्न थे, कादंब राजवंशके स्थापक मयूर शर्मा यहीं वेद पढ़नेके लिये आये थे, जब कि किसी पल्लव राजपुरुषसे अपमानित होकर चाणक्यकी तरह वंश-विच्छेद करनेकी नहीं बल्कि अपना एक नया राजवंश स्थापित करनेकी सफल प्रतिज्ञा की थी, कालिदासके समकालीन महानैयायिक दिङ्नागका जन्म कांचीमें ही हुआ था और अद्भुत बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिका जन्म और आरंभिक शिक्षाका स्थान कांची प्रदेशहीमें था। हम कह सकते हैं कि–ईसा की चौथीसे आठवीं शताब्दी तक संस्कृत-शिक्षाका इतना बड़ा केंद्र शायद ही कोई दूसरा नगर था। जब हम जावा, चंपा, और कंबोजकी सुन्दर प्रशस्तियों को पढ़ते हैं,, जब हम वहाँके शिव मन्दिरों, उनके गुरुओं तथा अपार धन-राशिका वर्णन देखते हैं, तो उनमें हमें कांची और पल्लव-राजाओंकी धार्मिक श्रद्धाका प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है, विद्वानोंका यह भी मत है, कि पल्लवोंके पहिले दक्षिण-भारतमें मंदिरोंके निर्माणका प्रचार नहीं था–कमसे कम ईंट और पाषाणके देवालयों का तो नहीं, यदि रहे होंगे तो लकड़ीके, जिनका अवशेष मिलना कठिन है। जावा (और हिन्दीचीन) के देवालयों और शिखरोंपर पल्लव वास्तुकलाकी पूरी छाप है, यही पल्लव वास्तुकला चोलोंके समयसे होते पीछे द्राविड़-वास्तुकलाके रूपमें परिणत हुई।

जावा चंपा आदिमें ही संस्कृतके अभिलेखोंका मिलना यह भी बतलाता है, कि हमारे सांस्कृतिक दूत इन देशोंमें उस समय पहुंचे, जब कि पल्लव देश प्राकृत छोड़ संस्कृतका गढ़ बन चुका था। इन देशोंके प्राचीनतम अभिलेखोंकी लिपि चौथी–पाँचवीं शताब्दीके पल्लव-लिपिसे मिलती है। यह भी उसी ओर संकेत है,

१ पल्लवराज शिवस्कंध (३००ई०) का मयिडवोलु-ताम्रपत्र–

"दिठं" कांची पुरतो युवमहाराजो भारदाय सगोत्तो पलवानं शिवखंदवम्मो धंञकडेवपतं आनपयति (।) अम्हेहि दानि अम्हंवेजयिके धमायुबलवधनिके बम्हनानं अगिवेससगोत्तस पुवकोटुजस अगिवेस-सगोत्तस गोंदिजस आपतिथगामो (विरीप) रम्हेहि उदकादि संपदत्तो दत्तो। एतस गामस विरीपरस सबबम्हदेय-प (रिह) रो वितराम (।) अकोम (सो) इकं अरठ-सं (वि) नायिकं अपरंपराबलिव (दं) अभड पवेसं अकूर चोलकविनासी-खट सम्बासं (।) एतेहि अनेहि च सबबम्हदेय सवपरिहारेहि परिहरितो (।) परिहरथ परिहरापेथ च (।) जो अम्ह सासन अतिच्छितून पीडा बधकरेजा

सम्यग्दर्शन : एक दृष्टि

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

[४]

दूसरा लक्षण

दृष्टि सार्वकालिक हो। कालविशेषका समस्याओंपर विचार करते समय भी महाकाल सामने हो। नवीनताका उन्माद न हो, प्राचीनता परम्परा व रूढिका मोह न हो। भविष्यकी कल्पना वर्तमानको प्रेरणा दे पर अनुचित रूपमें वह वर्तमानपर आच्छादित न हो। भूत वर्तमानको अपनी देन दे पर उसका अन्धानुकरण वर्तमान को न बहकाए। भूत, वर्तमान और भविष्य एक लडीमें गुंथे हुए हों और महाकालकी यह त्रिकाल-माला मानव बुद्धि पहने और धन्य हो।

प्रश्न—आखिर नवीन और प्राचीनमें श्रेष्ठ कौन है? कौन सत्यके ज्यादह निकट है? कौन सम्यक्त्व ग्रहणमें ज्यादह बाधक है?

उत्तर—नवीनमें प्राचीनकी अपेक्षा ये तीन गुण मिलना सुलभ हैं—

(१) समयानुकूलता—नवीन वर्तमान परिस्थितिमें अपेक्षित होता है प्राचीन नहीं, इसलिए नवीन प्राचीनसे अधिक समयानुकूल हो यह बहुत स्वाभाविक है।

(का) कारापेजा वा तस अम्हो सारारं सासनं करेजामों [।] संवछरं दसमं १० गिम्हा पखो छठे ६ दिवसं पंचमि ५ [।] आनति सयती दता पट्टिका [।]" (Ep. 120, vi pp 8०–8)

चारुदेवी (३ ‹० ई०) का ताम्रपत्र (ब्रिटिश म्यूजियम)

सिद्ध सिरिविजयखन्दवममहाराजस्स संवच्छर...[.] युवमहाराजस्स भारद्दायस्स पल्लवानं सिविविजयबुद्धवम्मस्स देवी [बु] द्धिकुर-जननी [ब्रह्मी] चारुदेवी क [टकें] वीय...[वीपापंत] राजतलाकहेठ [ठें] पाणिय [पनियकूपाद] पादपासे आतुकस्स [कष्य] छेतं दालुरेकूविद महतरक देवकुल [स्य] भगवनारायणस्स अम्हं आयुबलवद्धनियं कातूण भूमिनिवतणा चत्तारि ४ अम्हेहि सम्पदत्ता [] तं जातूण गामेयिका आयुत्ता सव्वपरिहारेहि परिहरथ परिहरापे [थ] ..आनत्ति रहे [?]बद्ध [च] खि. (E P. Ind. vol VIII P. 145)

---

(२) विकार-न्यूनता—नवीन ताजा होनेसे उसमें विकृतिकी गुँजायश कम है, उसके अपने असली रूपमें मिलनेकी सम्भावना है, जबकि प्राचीनके विषयमें ऐसी सम्भावना कम है या नहींके बराबर है।

(३) ज्ञानानुभव-पीठबल-बाहुल्य—प्राचीनकी अपेक्षा नवीनके पीछे ज्ञान और अनुभवका पीठ-बल ज्यादह होता है और इस कारण नवीनतामें कुछ विशेषता होना स्वाभाविक है।

दूसरी ओर नवीनकी अपेक्षा प्राचीनमें ये गुण अधिक होना स्वाभाविक है—

(१) विश्वसनीयता—जो प्राचीन अभी तक चला आया है वह अनेक अच्छी बुरी परिस्थितियों व संकटोंमेंसे गुजर चुका है, अनेक विरोधों विद्रोहों व प्रहारोंपर विजय प्राप्त कर चुका है। समय-समयकी परिस्थितिके अनुसार उसमें कम या ज्यादह कुछ भी परिवर्तन नहीं होता रहा है, ऐसा भी नहीं है। इसलिए नवीनकी अपेक्षा प्राचीन ज्यादह विश्वसनीय है।

(२) वास्तविकता—नवीनमें भविष्यकी कल्पनाका समावेश ज्यादह होना बहुत असम्भव है प्राचीनतामें कम, क्योंकि प्राचीनकालकी अपेक्षासे जो भविष्य था वह बीत चुका है या बीत रहा है। कल्पनाकी पुट कम होनेसे प्राचीनमें वास्तविकताकी पुट ज्यादह हो सकती है। यह बहुत सम्भव है कि आज कोई प्राचीन नवीनसे ज्यादह अनुकूल हो जब कि नवीन आजके लिए नहीं, भविष्यके लिए ज्यादह अनुकूल हो।

फिर, प्राचीनमें नवीनकी अपेक्षा एक वह अच्छाई है कि उसको अपनानेमें एक तरहकी स्थिरता है जब कि नवीनको अपनानेमें समय-समयपर नए-नए नवीनको अपनाते रहनेकी वृत्ति मौजूद है और इस तरह बेपेंदीका लोटा बननेकी जैसी स्थिति वहाँ है पर इस अच्छाईमें एक बुराई भी है और वह यह कि प्राचीनको अपनाकर अहित अवश्यम्भावी ही नहीं स्थायी हो सकता है जब कि नवीनको अपनानेमें परिवर्तन द्वारा अहितको हितमें बदलनेकी सम्भावना है। इस तरह दोनों ओर यह अच्छाई और बुराई समानरूपसे मौजूद है।

इस तरह और भी गुण-दोष नवीन और प्राचीनमें हैं और उनके अपवाद भी हैं। किसी भी दृष्टिसे न नवीनको ही श्रेष्ठ कहा जा सकता है न प्राचीनता को ही। नियमरूपसे दोनोंको समान ही कहना होगा। वास्तवमें दोनों ही अच्छे हैं, दोनों ही बुरे हैं। कहीं नवीन अच्छा है, कहीं प्राचीन अच्छा है। नवीनता-प्राचीनताका अच्छाई-बुराईसे कोई सम्बन्ध नहीं है। न सत्यासत्यसे ही उसका कोई सुनिश्चित सम्बन्ध है। जो लोग प्राचीनताकी दुहाई देकर पुरानी गई-बीती चीजोंसे चिपके रहते हैं और अच्छीसे अच्छी नई चीजको छूते

भी नहीं हैं वे जितना भूलते हैं उतना ही भूलते हैं। वे लोग जो नवीनताके उपासक बनकर पुरानी चीज़पर नाक भौं सिकोड़ा करते हैं और पुरानी अच्छी चीज़को छोड़कर नई खराब चीज़ोंको भी ग्रहण करते हैं, ऐसे आदमी नवीनता या प्राचीनताके मोहमें पड़कर अपना अहित करते हैं और सत्य ग्रहण नहीं कर पाते हैं। नवीन और प्राचीन दोनों सत्यके निकट हैं और दूर भी हैं। आवश्यकता है विवेकसे काम लेनेकी, अन्तर्दृष्टिसे देखनेकी, नवीनताका उन्माद और प्राचीनताका मोह छोड़कर वस्तुस्थितिका ठीक-ठीक अध्ययन करने की।

रहा यह प्रश्न कि सत्य ग्रहणमें कौन अधिक बाधक है—नवीन या प्राचीन? जहाँ तक नवीन और प्राचीनकी अपनी अपनी वास्तविक शक्तिका प्रश्न है, दोनों ही सत्य ग्रहणमें समानरूपसे बाधक हो सकती हैं पर व्यवहारमें प्रायः बाधक यह प्राचीनता होती रही है और है। यही कारण है कि सत्यासत्यकी दृष्टिसे नवीनता और प्राचीनता एक स्तरपर होते हुए भी प्राचीनताके मोहको दूर करनेपर ही ज्यादह ज़ोर दिया जाता है। यह प्राचीनताका मोह ही परम्परावाद या रूढ़िवाद है और मानव-स्वभावकी यह एक ऐसी कमज़ोरी है जो सदा ही रही है और अभी भी है। कहावत है कि दूरके ढोल सुहावने होते हैं। यह कहावत जहाँ स्थानकी अपेक्षासे ठीक है वहाँ काल या समयकी अपेक्षासे भी उतनी ही ठीक है। 'बहुत प्राचीन कालमें जंगली मनुष्य वृद्ध मनुष्यके मरनेपर वर्षों तक उसकी लाशको रखते थे और उसकी पूजा किया करते थे। पूर्वजोंके प्रति सम्मान व श्रद्धाके भाव रखना मानव-हृदयकी नैसर्गिक वृत्ति है पर यह भी मानव-स्वभावकी एक विशेषता है कि वह सहज ही अपनी वृत्तियोंको अच्छाईसे बुराईकी ओर या गलत रास्तेपर ले जाए। उसकी इसी कमज़ोरीने सदा प्रेमको मोहमें और श्रद्धाको अन्धश्रद्धाके रूपमें परिणत किया है। मृत-वृद्धके देहकी पूजा ऐसा ही मोह या अन्धश्रद्धा है। ऐसे परम्परावाद या रूढ़िवादमें प्रगति या सृजन नहीं है। यह रचनात्मक नहीं बल्कि एक निषेधात्मक विधान है। रूढ़िवादी समझते हैं कि हमारे पूर्वज ऐसा करते चले आए हैं, हमारे पुरखोंने यह रूढ़ि चलाई है, इसलिए यही ठीक है। इनका मूलमन्त्र है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' इनके लिए अतीतकाल बड़ा अच्छा था और तबकी बातें अब तक वैसी ही चली आ रही हैं। समयके साथ सभीमें परिवर्तन होता है, प्रत्येक क्षण कण-कणमें अविराम परिवर्तन होता रहता है और कोई भी इस नियमका इस सार्वत्रिक व सार्वकालिक प्राकृतिक नियमका—अपवाद नहीं है और स्वयं वे रूढ़िवादी भी नहीं है—इस सचाईसे आँखें मूँदकर वे अतीतके विरहमें लम्बी लम्बी साँसें लिया करते हैं मानो भूतको प्राप्त करना ही उनके वर्तमानका ध्येय हो। इन्हें स्वकालमें प्राचीन कालके

अन्धानुकरणके अतिरिक्त कोई सार तत्त्व ही नहीं दिखता है। ये रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादके गढ़में घिरे रहकर अवसर्पणवादको अपनाते हैं। वे पतनमें विवशता व भ्रमजन्य सन्तोष देखते हैं और उन्नतिके प्रयत्नको विडम्बना समझते हैं। वे सदा पुरखोंकी बुद्धिमत्ताकी ही दुहाई दे देकर हर नवीनका और हर परिवर्तनका उपहास करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमारे पुरखोंके पास जितनी पूँजी थी वह तो हमें मिली ही है पर साथ ही इतने समयमें जगत्ने जो अनुभव और ज्ञान कमाया है वह भी पूँजीके रूपमें हमें मिला है और ऐसी हालतमें व्यक्तित्वकी दृष्टिसे न सही, पर ज्ञान व अनुभवकी दृष्टिसे हम आगे बढ़ सकते हैं सो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वे प्रगति तो क्या करेंगे, जीवित रहनेके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी बनाए नहीं रख सकते हैं। जीवन बना रहे इसके लिए जरूरी है कि शरीर नए भोजनको पचा सके और पुराने भोजनसे उसका सार लेनेके बाद जो मल बचा है उसे दूर कर सके। इनमेंसे एक भी क्रिया बन्द हो जायगी तो जीवन नहीं रह सकेगा, मृत्यु हो जायगी। प्राचीनताके मोही या रूढ़िवादीमें ये दोनों ही क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं और इसके परिणामस्वरूप न वह नवीन सत्य ग्रहण कर पाता है और न प्राचीन असत्य ही हटा पाता है। इस तरह प्राचीनताका मोह विनाशकारी है और इसकी व्यापकता इसकी विनाशकारिताको और भी अधिक बढ़ा देती है। यही कारण है कि इसे हटानेपर ही ज्यादह ज़ोर दिया जाता है और हमने सत्य ग्रहणमें इसे ही अधिक बाधक कहा है।

प्रश्न—प्राचीनताका मोह मिटानेके लिए क्यों न वर्तमानकी अपेक्षा भूतको, नवीनकी अपेक्षा प्राचीनको, निम्न कहा जाय? तत्त्वकी दृष्टिसे न सही, पर नीतिकी दृष्टिसे क्या यह उचित न होगा?

उत्तर—असत्य और नीतिका साथ अकल्याणकारी है। असत्यके साथ नीति अनीति है और अनीतिसे कभी कल्याण नहीं हो सकता। हम पहिले विचारपूर्वक इस निर्णयपर आ चुके हैं कि सत्य ही कल्याणकारी है, असत्य सदैव अकल्याणकारी ही है।

फिर, भूतका अपमान वर्तमानका अपमान है, क्योंकि आजका वर्तमान आगे चलकर भूत बनने वाला है। पूर्वजोंका अनादर हमारा अपना अनादर है क्योंकि भविष्यमें हम भी पूर्वज बनने वाले हैं। आजके पूर्वजकी निंदा आने वाले कलके पूर्वजकी या स्वयंकी निंदा ही तो है। साथ ही कितनी कृतघ्नता है यहाँ? हम आज जो कुछ हैं, उसका श्रेय हमारे पूर्वजोंको है। हम उन्हीं की हड्डियोंपर आजका महल खड़ा हुआ देखते हैं। वर्तमान भूतके गर्भमेंसे ही निकला है। एक क्रम चला आ रहा है अनादि कालसे आजतक और वह आगे

भी चलता रहेगा। भूतने वर्तमानको बनाया है और भूत-वर्तमान मिलकर भविष्यको बनायेंगे यही प्रकृतिका नियम है। इस तरह सच तो यह है कि भूत काल श्रद्धाकी चीज है, पूर्वज आदरणीय हैं। स्वप्नमें भी उनके विषयमें अनादर या अश्रद्धाकी कल्पना करना एक भयंकर असत्यको प्रश्रय देना है। हमारा रोम-रोम पूर्वजोंका ऋणी है, यह सत्य उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पर हाँ, इसका यह अर्थ नहीं है कि भूतकाल या पूर्वजोंके प्रति अंधश्रद्धा रखी जाय या उनका अन्धानुकरण किया जाय। हमें उनका सपूत बनना है, कपूत बनकर नहीं रह जाना है तो जिस पथपर वे चलें उसपर हमें आगे बढ़ना होगा और उनकी दी हुई पूंजीको बढ़ाना होगा। समयोपयोगी परिवर्तन हमें करना और करते रहना ही होगा। जिसकी दृष्टिमें समयकी कोई स्थिरता नहीं है, जो केवल काल-स्रोतमें बह जानेके लिए ही नहीं आया है कि पतवार छोड़कर हाथपर हाथ धरे बैठा रहे, जिसके महत् मनुष्यत्वके आदर्शको काल-प्रवाहके बीच विशाल पर्वतकी तरह अचल बने रहना है, उसमें डूबना नहीं है, जो अच्छी तरह यह सत्य समझ गया है कि सभी नियम व विधान, जो मनुष्यको घेरे रहते हैं वे केवल एक परिमित समयके लिए ही अथवा एक विशेष परिस्थितिमें ही मनुष्यको शरण दे सकते हैं और तत्पश्चात् यदि वे बदलते नहीं हैं तो वे ही जीवनके लिए कारावासके समान बन जाते हैं ऐसा व्यक्ति मिथ्यास्वरूपका विनाश करनेमें सदा सतर्क व सचेष्ट है और उसकी सत्य दृष्टि —सार्वकालिक दृष्टि—सदैव भूतमेंसे रस निकालती है, वर्तमानको पिलाती है और भविष्यको पल्लवित करती है। भूत भविष्य वर्तमान सभीसे उसका नाता है, सभीसे उसका तादात्म्य है। महाकाल उसका चिर-सखा है।

प्रकृतिका रूप

प्रकृति-वधूकी रूप-सुधा पी, किसके नयन अघाये।
आम्र-मञ्जरोने ही पिकको, मधुरिम गीत सिखाये।

दीपककी मधुज्योति लुभाती,
शलभोंकी आँखों को।
गगन-भ्रमणकी चाह खोलती,
खग-शिशुकी पाँखोंको।
और जलदके श्यामल तनने,
अगणित शिखी नचाये।

जलज सुरभिने ही भ्रमरोंके मञ्जुल गीत सुनाये।
प्रकृति वधूकी रूपसुधा पी, किसके नयन अघाये।

जब रजनी वसुधापर फैला—
देती अपनी अलकें।
और विश्व भी निद्रा लेता,
मूँदे अपनी पलकें।
तब चकोर शशि देखा करता,
मनमें विरह छिपाये।

और वियोगी तारे गिनता, उरमें आग दबाये।
प्रकृति-वधूकी रूप-सुधा पी, किसके नयन अघाये।

जब प्रभातमें प्राची पटपर,
उषा - लालिमा आती।
उसे देख तब कली-कली भी,
खिलती औ' मुसकाती।
रविकी प्रथम-किरणने अब तक,
पंकज सदा खिलाये।

अचलोंकी हिमशिला द्रवित कर, अगणित स्रोत बहाये।
प्रकृति-वधूकी रूप-सुधा पी, किसके नयन अघाये।

—धन्यकुमार जैन, 'साहित्यरत्न'

प्राणदण्ड प्रथा अमानुषिक है

श्री सतीशचन्द्र ठाकुर

किसीके प्राण हम ले सकते हैं, पर किसीको प्राण दे नहीं सकते। किसी जीवको मृत्युसे बचाना प्रेमी व समर्थ मनुष्यके लिये कदाचित् संभव भी हो जाता है, पर मनुष्य आज तक प्राणसृष्टि नहीं कर पाया। अतः प्राणके प्रति मर्यादा सभी महापुरुष दे आये हैं।

अति प्राचीन युगको छोड़कर भी हमे ऐतिहासिक कालसे ही विवरण मिलता है कि भगवान् महावीर, बुद्धदेव आदि सभी महापुरुषोंने यह घोषणा की कि "अहिंसा परमो धर्मः"।

जीवका जीवन लेना सब प्रकारकी हिंसासे गुरुतर है। युद्धादिमें तो सामूहिक रूपसे ही नरहत्या होती है।

मनुष्य ही संसारकी श्रेष्ठ सृष्टि है। वह बुद्धिजीवी है तथा समाजबद्ध हो कर क्रमशः सभ्य व संस्कृति-संपन्न हुआ है। मनुष्यसमाजमें दण्डनीति है, अपराधके लिये मनुष्यको दण्ड भुगतना पड़ता है, जनमतके अनुसार पञ्चायत के विचारसे दण्डविधान है। तदुपरि राष्ट्रशासन-व्यवस्थामें अपराधका विधिपूर्वक विचार तथा उपयुक्त दण्ड विधान है। प्राणदण्ड ही सबसे भारी दण्ड है।

अपराधके लिये दण्डविधान प्रवर्तनका मूल उद्देश्य है अपराधीको पापप्रवृत्ति तथा पापकार्यानुष्ठानसे निवृत्त करना; साथ ही साथ शास्तिविधानके द्वारा जनसाधारणको शिक्षा देना जिसके फलस्वरूप शास्तिके भयसे अन्य मनुष्य भी अपराध जनक कर्मसे अलग रह सके। इस महत् उद्देश्यको हृदयंगम करनेपर मृत्युदण्डकी सार्थकता कहाँ पाते हैं ?

मृत्युका भय भीषण है इसमें सन्देह नहीं, पर चिर-निर्वासन तथा धीरे धीरे मन और प्राणपर अविराम व्यथा पहुँचाना कहीं अधिक भयावह है ! इसका प्रमाण है आत्महत्या, मनुष्य जान बूझकर कभी कभी क्यों आत्महत्या कर प्राणको विसर्जन करते हैं ? ऐसा असहनीय दुःख कष्ट आ जाता है जब मृत्युयन्त्रणा भी उससे कम प्रतीत होती है। आश्रित प्रतिपालनमें अक्षमता या ऐसे और भी कितने ही कारण हो सकते हैं जिसकी वजह जीवन धारण असह्य होता है। फाँसीकी मृत्युयन्त्रणा तो क्षणभरके लिये है, पर लगातार भीषण

क्लेश असहनीय है। सुदीर्घ कारावास यावज्जीवन द्वीपान्तर व्यवस्थामें मनुष्यको अनवरत क्लेश भोगना पड़ता है। फाँसी देकर अपराधीकी प्राणहानि कर इसे हम सुधारते नहीं, प्रायश्चित्त करनेका अवसर भी नहीं देते ! यह तो सुविचार नहीं, परन्तु इसके द्वारा हमारी प्रतिहिंसा या जिघांसा प्रवृत्तिको ही हम स्थायी कर लेते हैं।

पाप या पुण्यका फल अवश्य मिल जाता है—यह विश्वास सभी मानव-समाजमें प्रचलित है। 'सञ्चित क्रियमाण या प्रारब्ध कर्मके फलसे छुटकारा हमें नहीं मिल सकता' धर्मशास्त्र दृढ़ रूपसे यह घोषणा करता है। एक जन्मके कर्मभोगका शेष परापर जन्मतक चलता है।

इस शास्त्रोक्त परजन्मवादमें जिनकी आस्था नहीं है उनके लिए भी न्याय-की युक्तिसे समझ लेना असम्भव नहीं कि कर्म करनेसे ही उसका फल भोग अवश्यम्भावी है। व्यावहारिक जगत्में अपराध अदृश्य रह जानेसे या प्रमाणित न होनेपर भी उसका फलभोग निश्चित है। पाप पुण्य सभी कर्मका फलभोग अवश्य ही होता है। अतः इस जगत्में एक मनुष्य कैसे अपर मनुष्यके प्राण लेकर अमानुषिक व्यवहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है। जिस प्राणको हम सृजन कर नहीं पाते, उसीको लेकर कैसे हम छिन्न भिन्न करते हैं—विशेषतः जगत्की श्रेष्ठ सृष्टि मनुष्यके प्राण लेकर। हम मनुष्य होकर इस कामका समर्थन नहीं कर पाते। केवल मात्र युद्धादि आसुरिक कार्यमें ही नहीं पर धर्माधिकरणमें भी विधिके नामसे अविधि चल रही है—विधानके द्वारा भी हत्या चलती है। इसका अन्यायपना समझना कठिन नहीं है।

[२]

भारतवर्षके श्रेष्ठ धर्माधिकरणमें प्राणदण्डकी अपील हो सके, विधान परिषदोंके नागरिकोंका यह अधिकार देनेका परामर्श पेश करनेपर, व्यवहार-मन्त्री श्री आम्बेडकर महोदयने संप्रति उसे अग्राह्य कर यह परामर्श दिया कि भारतवर्षसे प्राणदण्ड प्रथाका उच्छेद होना ही युक्तियुक्त होगा।

वास्तवमें धार्मिक दृष्टिसे देखनेपर यह प्रतीत होता है कि प्रचलित दण्ड विधिके अनुसार प्राणदण्डकी आज्ञा देकर विचारक तथा सरकार खुद ही पाप-मग्न हो जाते हैं। धर्माधर्म पापपुण्यकी चर्चा छोड़कर साधारण दृष्टिसे ही हमें प्रतीत होता है कि दण्ड विधानके लिए प्राणदण्ड देना अत्यन्त बर्बरोचित कार्य है। कदाचित् यह भी देखा गया है कि भूल विचारसे फाँसीकी सजा हो जानेके बाद यह सत्य प्रकट हुआ है कि दण्डप्राप्त व्यक्ति निरपराध थे। पर अब उनको पुनर्जीवित करनेमें तो मनुष्य अक्षम है।

इस बीसवीं सदीके प्रारम्भसे ही संसारके अनेक देशोंसे मृत्युदण्ड उठ गया। ईस्वी सन् १९०५ से नारवे देशसे मृत्युदण्ड उठ गया। तबसे [१९-०५-२४ तक] बीस वर्षकी रिपोर्टमें वहाँके प्रधान काराध्यक्षने विवरण दिया है कि हत्यापराधकी संख्या अब घट रही है। नारवेके निकट पड़ोसी स्वीडेन देशने भी प्रायः उसी समयसे मृत्युदण्ड उठा दिया। वहाँके अधिकारियोंने भी अनुरूप मत प्रकाश किया है। मृत्युदण्ड उठा लेनेके बाद हत्यापराध बढ़ा तो नहीं ही, घटने लगा है।

नारवे, स्वीडेनके अतिरिक्त डेनमार्क, फिनलैण्ड, हालैण्ड, बेलजियम, पुर्तगाल, स्विटजरलैण्ड, ग्रानलैण्ड, उरूगुए आदि देशोंसे भी मृत्युदण्ड पूरी तरह उठ गया है। इटाली देशमें भी राजनैतिक हत्याके लिए फाँसी नहीं होती है। इन सब देशोंकी अभिज्ञतासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राणदण्ड उठा लेनेपर अपराधोंकी संख्या बढ़ेगी नहीं पर घट जावेगी।

डाक्टर श्री पी. के सेन महोदयने अपने 'ठाकुर ला लेकचर' ग्रन्थमें [पृ० २२४—५] अभिमत दिया है कि उल्लिखित देशसमूहके अंकोंको देखते हुए यह आशा की जाती है कि संसारके सभी सभ्य देशोंसे मृत्युदण्ड प्रथा उठ जावेगी। अब श्री र. कृ. रणाडे महोदयने जुलाई १९४९ 'इण्डयन रिव्यू' पत्रमें एक लेखके द्वारा परामर्श दिया है कि 'पृथ्वीके सब सुसभ्य देशोंके साथ एक होकर स्वाधीन भारतको चलना है मृत्युदण्ड उठ जाना चाहिए, अपराध विचारके समय अपराधीपर दृष्टि देकर निर्णय देना चाहिए।''

अहिंसक असहयोगसे यह भारतवर्ष स्वाधीन होकर भी और कितने दिन तक इस अमानुषिक मृत्युदण्डको बहाल रखेगा? युद्ध व डकैतीके द्वारा हत्याकाण्ड तो चल ही रहा है, उसे बन्द करनेकी चेष्टा भी हो रही है, पर यह तो समयसापेक्ष है। उससे पहले ही हमें कानूनके द्वारा जो नरहत्या चलती है उसे बन्द करनी चाहिये।

[३]

महाभारतके शांतिपर्वमें द्युमत्सेन सत्यवान् संवादमें [२७१।२६ निर्णयसागर संस्करण या २६८।२६ गणपत कृष्ण संस्करण] वर्णित है—जब राजा द्युमत्सेनने पुत्र सत्यवान्से कहा कि 'प्राणदण्डके योग्य व्यक्तिको रिहाई देनेसे यदि धर्म होगा तब तो पाप पुण्यका कोई प्रभेद नहीं रह जाता है!' तब राजपुत्र सत्यवान्ने उत्तर दिया—''आततायीको प्राणदण्ड न देकर राजाका कर्तव्य होना चाहिए शास्त्रानुमोदित दूसरी सजा देना। हत्याके द्वारा तो आततायीको सजा नहीं मिलती, पर इसके आश्रित कुटुम्बोंको ही मिल जाती है।'' पुनः यह भी कदाचित् उपलब्ध होता है कि फाँसीके बाद प्रकृत तथ्य प्रकट होता है कि

अभियुक्त निर्दोष थे; पर हत्याके बाद उनको पुनः प्राणदान देनेमें तो मनुष्य असमर्थ है। पुनः पापीके सन्तान भी कभी पुण्यात्मा निकल आते हैं; अतः पापका ही उच्छेद वाञ्छनीय है, पापीका नहीं। उसका संशोधन ही सभ्य समाजका ध्येय है। अपराधीको बहुप्रकारसे सजा दी जा सकती है, उसे दागी बनाकर छोड़ सकते हैं; दीर्घ कारावास या यावज्जीवन द्वीपान्तर भी हो सकता है। हठात् मृत्यु तो क्षणभरका कष्ट है पर दूसरे प्रकारकी सजा तो प्रतिक्षण दारुण कष्टका कारण है।"

राजपुत्र सत्यवान्‌के प्रत्युत्तरसे प्रतीत होता है कि अति प्राचीन कालसे ही प्राणदण्डसे मुक्त करनेकी व्यवस्था मनीषीगणने दी थी। महात्मा ईसाने कहा—'पाप घृण्य है पर पापी नहीं। संशोधनके उद्देश्यसे ही दण्ड होना चाहिए। अपराधीको रोगग्रस्तके समान देखना है, उसे चिकित्सा द्वारा स्वस्थ करना है—जिसमें पापका प्रायश्चित, पापीका संशोधन, समाजको शिक्षा—सभी आ जाता है।'

अतः अहिंसक असहयोगके देशमें हिंसात्मक मृत्युदण्ड उठना ही चाहिए।

मध्य कालके जैन मरमी साधक

श्री ज्योतिप्रसाद एम. ए., एल. एल. बी.

मध्यकालीन सन्त विचारधाराके प्रसिद्ध अध्येता आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन 'जैन धर्मकी देन' शीर्षक अपने लेख (विशाल भारत, १९४१) में कहते हैं कि "भारतीय धर्मके इतिहासमें अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय ध्यानपरायणता इन्द्रियजय वैराग्य, मुक्तिसाधना प्रभृति बड़े बड़े सत्य जैन साधकोंके ही दानस्वरूप प्राप्त हुए हैं। पुरातन धर्ममें मनुष्य देवताके मोहमें अच्छन्न था। जैन साधनाने दिखलाया कि मनुष्यका धर्म उसीके अन्तरमें है। मानव साधनामें मानव ही महत्तम सत्य है, देवता नहीं। महामानवोंके चरणोंमें ही मानव प्रणत हो देवताके चरणोंमें नहीं मानव और मानव साधनाको इस धर्मने एक अपूर्व महत्त्व दान किया। यूरोपके पाजिटिविस्ट लोग दावा करते हैं कि मानव महत्त्वको उन्होंने ही सबसे पहले सम्मानित किया है। किन्तु यथार्थतः वही दावा भारतकी बहुपुरातन जैन साधना कर सकती है।

अहिंसा, वैराग्य, निष्काम धर्म प्रभृति बड़े-बड़े तत्त्वप्रचार करके ही जैन साधकगण निश्चिन्त नहीं हो रहे हैं। युग-युगमें, काल-कालमें उन्होंने अपनी साधनाको उस समयके लिए उपयोगी किया था। इसी जगह उनका महत्त्व है, इसी जगह उनकी प्राणशक्तिका परिचय है।..... प्राचीन साधनाओंको युग युगमें कालोचित करनेका ही नाम है रिफार्मेशन . अथ च युग युगमें जैन साधनाने विस्मयकर प्राणशक्तिका परिचय दिया है।"

वस्तुतः इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भारतवर्षमें सदैवसे निवृत्तिप्रधान भारतीय श्रमणधाराके प्रतिनिधि जैन साधकोंको ही समय समयपर धर्मसुधार आन्दोलनके प्रवर्तन और प्रारम्भ करनेका श्रेय रहा है। प्रवृत्तिमार्गी धर्मपन्थोंमें प्रायः करके थोड़े ही समयमें बाह्य क्रियाकाण्ड व्यावहारिक भेदभाव आडम्बर-बाहुल्य, शिथिलाचार, पाखण्ड, इन्द्रियलोलुपता और विषय कषाय सेवनकी प्रवृत्ति घर कर जाती है। नाना प्रकारके वहम, अन्धविश्वासों और लौकिक स्वार्थपरताके कारण धर्मका वास्तविक स्वरूप भुला दिया जाता है, वह स्वयं अपने आपको तथा अन्य भोले जनोंको ठगनेका एक अच्छा साधन बन जाता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं अत्याचार भी बढ़ने लगते हैं। धर्मके नामपर

सबलों द्वारा निर्बलोंका शोषण जितना हुआ है शायद उतना धनके लिए भी नहीं। यही नहीं, निवृत्तिमार्ग-अनुयायी जनसाधारण भी, जो दूसरोंकी भाँति ही कमजोर इन्सान होते हैं निवृत्तिके दुर्गम पथसे शीघ्र ही घबराने लगते हैं और प्रवृत्तिके विशेष कर विकृत प्रवृत्तिके सस्ते, सुगम, सुलभ, आकर्षक और प्रकटतः तत्काल फलदायक रूपसे आकृष्ट हो उसमें बहने लग जाते हैं। राजनैतिक, आर्थिक तथा अन्य सामाजिक परिस्थिति भी इस प्रकारके सामूहिक पतनमें बहुधा भारी सहायक होती है।

अस्तु, धर्मतत्त्वके इस प्रकार विकृत हो जानेपर उसके सच्चे साधक उसके कालोचित सुधारका बीड़ा उठाते हैं और अपनी साधनाकी प्राणशक्तिको चरितार्थ करते हैं। उस शक्तिके अनुपातसे ही वे उसमें सफल भी होते हैं। मानव युग के आदिमें सभ्यताके साथ-साथ धर्मका प्रवर्तन भी आदि पुरुष योगीश्वर ऋषभने किया था। उस मरमी साधनाका भी सर्वप्रथम प्रवर्त्तन उन्हींने किया था, जो कि आत्म साधन, मुक्तिसाधना, योग आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुई और जिसका कि आधार अहिंसा, समता, इन्द्रियजय, मनोविजय, संसार देह भोगोंसे विरक्ति और ध्यानपरायणता थी। इसीलिए वे योगीश्वर[1] कहलाये, इसीलिये उनकी कायोत्सर्ग रूप उत्कृष्ट योगारूढ अवस्थाकी मुद्राएँ छः सात हजार वर्ष पूर्वकी प्राग्वैदिक कालीन सभ्य सिन्धुघाटीमें पूजित हुई[2] और वैदिक आर्यों द्वारा वे अर्हन्, महाव्रात्य, प्रजापति, परमेष्ठिन् आदि

---

१. 'दशभक्ति' में पूज्यपाद जिनेन्द्रदेवको योगीश्वर कहते हैं—

"योगीश्वरान् जिनान् सर्वान् योगनिर्धूत कल्मषान्।
योगैस्त्रिभिरहं वन्दे योगस्कन्धप्रतिष्ठितान्॥"

'ज्ञानार्णव'में शुभचन्द्र 'वृषध्वज' भगवान् ऋषभदेवको 'योगिकल्पतरु' कहते हैं—

"भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम्॥"

अपने 'पंचविंशतिका' में आचार्य पद्मनन्दि उन कायोत्सर्गमुद्रासे योगारूढ नाभिसुत महात्मा ऋषभकी जय मनाते हैं—

"कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा।"

और स्वयम्भूस्तोत्र में समन्तभद्र उन योगीश्वर आदिनाथकी "स्वसमाधिके तेजसे आत्मिक दोषोंके मूलकारण घातिया चतुष्कको भस्म करने वाले, सर्वतत्त्वद्रष्टा, ब्रह्मपदामृतेश्वर, निरञ्जन, विश्वचक्षु, समग्र विद्यात्मपद" आदि गुणोंके द्वारा स्तुति करते हैं।

२. प्रो० रामप्रसाद चाँदाका लेख—माडर्नरिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५५-१६०।

नामोंसे स्मरण किये गये[1]। पुराणकारोंने उन्हें शिव शंभुका अवतार माना और महादेव नाम दिया[2]। योग शास्त्रियोंने इस आदिनाथको योगियोंकी परम्परामें सर्व प्रथम स्मरण किया[3] और मध्यकालीन सन्तोंने उन्हें सन्त परम्पराके गुरुओंमें अग्रसर गिना[4]।

वस्तुतः जैनेतर योगमार्गके सर्वप्रधान ग्रन्थ पातञ्जलि ऋषिके 'योग दर्शन' और जैनोंकी चरित्रमीमांसामें कितना अधिक सादृश्य है, यह बात श्रद्धेय पं० सुखलालजी संघवी द्वारा लिखित 'योगदर्शन और योगविंशिका' की और 'तत्त्वार्थसूत्र टीका' की भूमिकाओंसे[5] तथा स्व० श्री हेमचन्द्र मोदीके 'योगमार्ग' शीर्षक निबन्ध[6]से भली प्रकार प्रकट हो जाती है। और इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि भारतीय योगमार्ग मूलतः ऋषभादि जैन योगीश्वरोंकी ही देन है।

इस संयमप्रधान निवृत्त्यात्मक जैनयोग धाराने ही रामायण कालमें उस थोड़े समय पूर्व ही प्रचलित याज्ञिक हिंसाका विरोध किया और उसे पनपने न दिया। महाभारत कालमें मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूतक्रीड़ा आदिकी बढ़ती हुई प्रवृत्तिको रोकनेके लिए तीर्थंकर अरिष्टनेमि मैदानमें डटे। उत्तर वैदिककालके

1. हमारी पुस्तक—"जैनिज्म, दि ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन"।
2. किन्तु पीछेसे टीका ग्रन्थोंमें 'आदिनाथ' का अर्थ शिव 'महादेव' किया जाने लगा जो कि अमरकोषादिसे भी सिद्ध नहीं है, यथा—"आदिनाथः शिवः। सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः" (हठयोगप्रदीपिका टीका)–देखिये अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ५४०।
3. "श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या"–(हठयोग प्रदीपिका)। इस ग्रन्थमें योगमार्गके प्रवर्तकके रूपमें 'आदिनाथ' का नाम अनेक स्थलोंमें लिया गया है। और जैन योगी पूज्यपादका भी नामोल्लेख है–(अने० वर्ष १, पृ० ५३८)।
4. प्रसिद्ध सन्त सुन्दरदास कहते हैं–(सुन्दर विलास, अंग १)–
   "महादेव वामदेव कपिलदेव व्यासदेव सुखहूँ जैदेव नामदेव जू।
   रामानन्द सुखानन्द कहिये अनन्तानन्द सुरसरानन्द हूँ कै आनन्द अछेव जू॥
   रैदास कबीरदास सोभादास पीपादास धनादास हू कैदास भाव ही की टेव जू।
   सुन्दर सकल सन्त प्रगट जगत माँहि तैसे गुरु दादूदास लागे हरिसेवन जू॥२४॥
5. इस प्रसंगमें पं० सुखलालजीके लेख, अनेकान्त वर्ष १, कि, ६-७ व ८-९-१० में प्रकाशित भी पठनीय हैं।
6. अनेकान्त व० १, कि० ६-७, पृ० ५३६-५४३।

बढ़ते हुए जटिल क्रियाकाण्डको योगिराज पार्श्वने रोका, फलस्वरूप ब्राह्मण धारामें भी उपनिषदोंका अध्यात्मवाद प्रवाहित हुआ।[१] दार्शनिक युगके ववण्डरमें आदिनाथके द्वारा प्रतिपादित उक्त साधनाकी अन्तिम महान् पुनरावृत्ति भगवान् महावीरने की। फलस्वरूप ब्राह्मणधारामें कपिलके सांख्य और पतञ्जलिके योगका प्रवर्तन हुआ। गुप्तकालीन ब्राह्मण पुनरुद्धार युगकी धार्मिक असहिष्णुता कट्टरताका परिहार एक ओर पतञ्जलिके योगदर्शन और कृष्णकी गीताने किया तो दूसरी ओर कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, सिद्धसेन, पात्रकेसरि आदि जैन साधकोंने। स्वयं जैन परम्परामें अर्द्धफालक और तदनन्तर श्वेतपट आम्नायके रूपमें कालदोषसे उत्पन्न मृदुप्रवृत्तिका सुधार करनेकी आवाज भी इन जैन साधकोंने उठाई। आम्नायभेद हो जानेपर भी उभय सम्प्रदायोंमें ऐसे मरमी साधक होते रहे जो तत्तत् सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होते रहनेवाले शिथिलाचारकी रोक-थाम करते रहे। मध्यकालके प्रारम्भमें शैव, वैष्णव, लिंगायत आदि नवप्रवर्तित सम्प्रदायोंकी असहिष्णुता एवं धार्मिक विद्वेषसे उत्पन्न परिस्थितियोंका तथा नवागत इस्लामके रूपमें एक प्रकटतः भारतीय विरोधी धर्म और संस्कृतिके प्रवेशसे उत्पन्न समस्याका समाधान समन्वय करनेके लिए जो प्रयत्न मध्य युगमें किये गये उनका प्रवर्तन भी जैन मुनि देवसेन रामसिंह (१०वीं शताब्दी), योगीन्द्रदेव (१२वीं शताब्दी) आदि जैन साधकोंने ही किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन कहते हैं—'पहले सभी समझते थे कि कबीर मध्ययुगके रिफार्मेशनके आदि गुरु थे, उन्होंने धर्मके बाह्याचारोंको त्यागकर उसके मर्मकी बात कही थी। ...अब मालूम हुआ है कि महात्मा कबीर प्रभृति प्रवर्तित मतवादके आदि गुरुओंमें मुनि रामसिंह नामक एक मुख्य महापुरुष थे...उनके द्वारा अपभ्रंश भाषामें लिखा गया 'पाहुडदोहा' १००० ई० के आस पासकी रचना है। मिस्टिक अर्थात् मरमी कबीर प्रभृतिमें जो सब भाव मिलते हैं, 'पाहुडदोहा' में प्रायः वे सभी हैं।'[२] ठीक यही बात उनके निकट पश्चाद्वर्ती योगीन्द्रदेव (जोइन्दु) की 'परमात्मप्रकाश' 'योगसार' आदि रचनाओंकी और उसी समयके लगभग हुए शुभचन्द्रके 'ज्ञानार्णव' की भी है।

वास्तवमें, प्राचीन कालके अर्हत्, व्रात्य, निर्ग्रन्थ अथवा श्रमण, परमहंस और परिव्राजक, तथा मध्य युगके जैन यति मुनि और साधु, सिद्ध

---

१. 'नारद पारिव्राजिकोपनिषद्' और 'परमहंसोपनिषद्' में वर्णित परमहंस योगीकी चर्या जैनमुनिकी चर्यासे अद्भुत सादृश्य रखती है।

२. 'जैन धर्मकी देन'—विशाल भारत, १९४९।

और योगी, सन्त और सूफी जिस मरमी, मिस्टिक, रहस्यवादी अथवा अध्यात्मवादी मार्गके साधक थे उसका मूल स्रोत ऋषभादि महावीर पर्यन्त जैन तीर्थंकरोंकी अपने-अपने समयकी लोकभाषामें प्रसारित वाणीमें प्रवाहित हुआ, और उसका सर्वप्राचीन उपलब्ध साहित्यिक रूप दो ढाई हजार वर्ष पहलेकी लोकभाषा अर्धमागधी प्राकृतमें लिपिबद्ध 'उत्तराध्ययन' आदि जैन आगम ग्रन्थों और आचार्य कुन्दकुन्द [प्रथम शताब्दी ई०] के 'समयसार' प्रभृति पाहुडग्रन्थोंमें आज भी प्राप्त होता है। तत्पश्चात् योगिराज समन्तभद्र [२री शताब्दी]के 'स्वयम्भू स्तोत्र' 'देवागम' आदिमें, पूज्यपाद [६ठी शताब्दी] के 'समाधितन्त्र', सिद्धसेनकी 'द्वात्रिंशतिकाओं', गुणभद्रके 'आत्मानुशासन', शुभचन्द्रके 'ज्ञानार्णव' आदि अनेक जैन सन्तोंकी प्राकृत संस्कृत रचनाओंमें स्वानुभूत चित्रणके रूपमें मिलता चला आता है। मध्ययुगके आरम्भमें देवसेन, रामसिंह और जोइन्दु प्रभृतिने तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दीमें उसके प्रवाहको नवीन बल और वेग प्रदान किया। इन अन्तिम मरमियों द्वारा प्रवाहित धारामें निमज्जन करते हुए ही कबीर, गोरख, दादू, नानक, ज्ञानदेव, नामदेव, नाभादास, रैदास, सुन्दरदास आदि सन्तोंने मध्ययुगमें निर्गुण भक्तिकी ज्ञानाश्रयी धाराको प्रवाहित करते हुए समयानुकूल धर्मसुधार आन्दोलन चलाये और समाजके नैतिक स्तरको उठानेकी स्तुत्य चेष्टा की। इसीकी एक उपशाखामें जायसी, कुतबन प्रभृति प्रेममार्गी सूफी कवियों और शेख फ़कीरोंने हिन्दू मुसलमानोंके बीच परस्पर विरोध और दूरीका अन्त करनेका तथा उक्त दोनों संस्कृतियोंके बीच सामञ्जस्य स्थापित करनेका, इस्लामको भारतीय रंगमें रँगनेका प्रयत्न किया।

इधर जैनपरम्परामें भी कबीरके कुछ पूर्व ही, सन् १४५२ ई० में जैन साधक लौंकाशाहने गुजरातमें मध्यकालीन धर्मसुधार आन्दोलनका सूत्रपात कर दिया था। सन् १६०० के लगभग तारण स्वामीने मध्यभारतमें दिगम्बर आम्नायके अन्तर्गत मूर्तिविरोधी समैया अर्थात् तारणपंथ चलाया और १६५३ में श्वेताम्बर आम्नायमें वैसे ही ढूँढिया या स्थानकवासी नामक साधुमार्गका प्रवर्तन हुआ। उत्तर प्रदेशमें आध्यात्मिक विद्वान् बनारसीदास [१५८६–१६४३] ने दिगम्बर तेरापंथ नामक धर्मसुधार आन्दोलन चलाया और १८वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्धमें पण्डितप्रवर टोडरमल और उनके पुत्र गुमानीरामने इसीमें शुद्ध आम्नायका प्रवर्तन किया। १६ से १८वीं शताब्दीका यह युग भारतमें नहीं यूरोप आदि पाश्चात्य जगतमें भी भारी क्रान्तिकारी धर्मसुधार आन्दोलनोंका युग था।

इन जैन धर्मसुधार आन्दोलनोंके प्रवर्तक पुरस्कर्ता अथवा प्रचारक कबीर

आदि सन्तोंकी भक्ति ही निश्चयात्मक दृष्टिके समर्थक, अध्यात्मके रसिया मरमी साधक थे जिन्होंने अपने समयकी लोकभाषामें धर्मके वास्तविक रहस्यको, बाह्य भेद, पूजा, आचार आदिकी व्यर्थता और क्रियाकाण्डकी हीनताको सरल और सरस ढंगसे समझाया। रामसिंह और योगीन्द्रदेवसे प्रारम्भ करके लौंकाशाह, तारणस्वामी, पांडे राजमल्ल, पांडे रूपचन्द्र, बनारसीदास, भैया भगवतीदास, आनन्दघन, यशोविजय, विनयविजय, द्यानतराय किशन-विमल, भूधरमल, चंदनकाव रंगविजय, चैनविजय, चिदानन्द, बुधजनजी और त्यागी बाबा दौलतरामजी प्रभृति उत्कृष्ट कोटिके जैन मरमी साधकोंकी आध्यात्मिक रचनाओंमें वही सब भाव, वही रहस्यवादी पुट, वैसी ही मरमकी मर्मभेदी बातें और वैसीही शब्दावली और शैली दृष्टिगोचर होती है जो इस युगके अन्य महान् सन्तोंकी वाणियों, साखियों और उपदेशों में।[1] इन दोनों धाराओंके अनेक सन्तोंमें परस्पर सद्भाव, मैत्री और विचारोंका आदान-प्रदान भी हुए।

किन्तु यद्यपि जैनेतर धाराके अधिकांश सन्तोंका साहित्य प्रकाश और प्रचारमें आ चुका, उनके पूर्ववर्ती, समकालीन और कुछ एक पश्चाद्वर्ती भी इन जैन सन्तोंकी अनेक रचनाओंके प्रकाशित होनेपर भी यथोचित प्रचार नहीं हो पाया है। उभय धाराके सन्तोंकी कथनियोंका तुलनात्मक अध्ययन अवश्य ही बड़ा रुचिकर, ज्ञानप्रद और आह्लादपूर्ण सिद्ध होगा। उसके बिना भारतीय योगपरम्परा और मरमी साधनाके विकास तथा अतीत कालीन भारतीय धर्म सुधार आन्दोलनोंके वास्तविक इतिहासको जानना समझना भी दुष्कर है। लोकभाषा और उसके साहित्यके इतिहास एवं विकासके लिए भी यह अध्ययन आवश्यक है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि पाठकोंको उसके अध्ययन मननके फलस्वरूप जो रसपूर्ण एवं स्फूर्तिदायक विचार सामग्री प्राप्त होगी उसका तो कोई मूल्य ही नहीं है।

---

१. इस प्रसंगमें कुछ उदाहरण भी देनेकी इच्छा थी, किन्तु विस्तार भयसे इस लेखमें नहीं दिये जा रहे हैं, इसी सिलसिलेको किसी आगामी लेखमें देनेका विचार है।

श्रमणसंस्कृति और राजतन्त्र

श्री देवेन्द्रकुमार जैन एम. ए.

प्रस्तावित श्रमण संस्कृति भारतीय संस्कृतिकी हो धारा है। श्रमण ब्राह्मण दो धाराएँ होकर भी एक ही महाधाराके दो रूप हैं। या यह कहना चाहिए कि एक ही उपादान दो विचारोंमें ढला है। पर जैसे भारतकी ऋतु-पद्धति और भूगोल अपनी समस्त विविधताके साथ एक है, उसी तरह उसकी संस्कृति भी। विचार जब प्रयोगमें आते हैं तब संस्कारोंका रूप धारण करते हैं, इन्हीं संस्कारोंकी संहतिका नाम संस्कृति है। भारतीय सम्प्रदायोंका दार्शनिक चिन्तन चाहे भिन्न हो पर जीवन और व्यवहारके क्षेत्रमें उनका लक्ष्य एक है। सभीने अपने युगकी रूढ़ियों और बद्धमूल स्वार्थोंपर—अपने विचार-रूपी शस्त्रोंसे आघात किया है। महावीरके अपरिग्रहवाद और उपनिषदोंके त्यागवादमें त्याग ज्ञान और आत्मसन्तोषकी ध्वनि एकसी सुन पड़ती है। इसलिए इस विचारमें कोई तथ्य नहीं कि भारतीय संस्कृतिका उद्गम मुख्य रूपसे आर्य अनार्य या श्रमण ब्राह्मण संघर्षसे हुआ। यद्यपि संघर्षसे इनकार नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो संघर्ष की अपेक्षा सहयोगकी भावना अधिक है। बहुतसे ऐतिहासिक आख्यान, परम्पराएँ—श्रमण-ब्राह्मणों-में समान रूपसे गृहीत हैं। यदि उनमें केवल संघर्ष ही रहा होता तो यह एकता दिखाई नहीं देती। इसके साथ यह व्याख्या भी निर्मूल हो जाती है कि—आर्योंने बाहरसे आकर इस देशपर कब्जा किया और यहाँके आदि-वासी द्रविड श्रमण थे। इससे हम इतना ही सत्य ग्रहण करें कि आर्य संस्कृति-का प्रवाह उत्तर पश्चिमसे पूर्वकी ओर बहा, और श्रमण संस्कृतिका पूरबसे पश्चिम दक्षिण। दो नदियाँ जब मिलती हैं तो उनका पानी एकमेक हो जाता है। और बहुत जगह इन संस्कृतियोंका भी ऐसा संगम हुआ है।

संस्कृति आखिर ठोस चट्टान नहीं जिससे उन्हें परस्पर टकराना ही चाहिए। वह भावों की धारा है। मिलनमें उसका विकास है। न तो आर्य एकदम वैदिक थे, और न अनार्य श्रमण। पर दोनोंमें दोनों संस्कृतियोंके उपासक हुए हैं। नेमिकुमार और श्रीकृष्ण—एक ही यदुवंशमें उत्पन्न हुए थे और चचेरे भाई थे, पर वे अलग अलग मार्गों पर चले, और उनके व्यक्तित्वों की अमिट छाप भारतीय जीवनपर पड़ी।

राज्यका विकास–

फिर भी वेदोंमें आर्योंका जो चित्र है उससे ज्ञात पड़ता है कि उन्हें अपने रंग और शारीरिक सौष्ठवका घमण्ड था। वे अनार्योंसे घृणा भी करते थे उनकी उपासनामें 'यज्ञ' की और जीवनमें धनुष बाण और रथ की प्रमुखता थी। पर उनके समकालीन–कुछ ऐसे भी मनस्वी विचारक थे जो वर्णगत भेद-भाव नहीं मानते थे–आत्माके पूर्ण विकास के लिए–वे 'शम दम' पर अधिक जोर देते थे। ऋषभ कपिल पार्श्व आदि इसी परम्पराके उज्ज्वल मणि थे। 'राज्य' शुरूमें विशुद्ध व्यावहारिक संस्था थी। वैदिक कालमें उसका धीरे धीरे विकास हुआ। 'विश' ही एक समितिका चुनाव करते जो राजा का वरण करती थी। युद्धके समय राजा सेनापतिका भी काम करता पर वैदिक युगकी जनता (विशः) आजकी तरह बुद्धू नहीं थी, वह आलसी और कर्तव्यच्युत राजा को अपदस्थ कर देने का अधिकार रखती थी। यह आश्चर्य की बात है कि चाणक्यने अपने अर्थशास्त्रमें 'राज' के सभी अंगोंका विचार किया, पर राज्यके विकासके बारेमें वह बिलकुल चुप रहा। अर्थशास्त्रसे उसका प्रयोजन राजनीति-शास्त्रसे ही था। वह लिखता है–

"मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिः,
तस्याः पृथिव्याः पालनोपायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रम्।"

अर्थ–वह भूमि है जिसमें मनुष्य रहते हैं–उसके पालनके उपाय बतानेवाला शास्त्र-अर्थशास्त्र है। शायद आचार्य वसुबन्धुने ही पाँचवीं सदीमें राज्यके विकासकी मौलिक व्याख्या की। उसने प्रश्न उठाया कि क्या सृष्टिके आदिमें मनुष्योंका कोई राजा था? वह कहता है कि 'नहीं'। उसका कहना है कि शुरूमें मनुष्य [1]देवरूप थे। धीरे-धीरे आलस्य और लोभके कारण उन्होंने आरामकी वस्तुएँ इकट्ठा करना सीख लिया। और अन्तमें अपने संचय-की सुरक्षाके लिए उसने क्षेत्रपको चुन लिया। इस प्रकार स्वत्वकी भावनासे राज्यका उदय हुआ और राजका छठवाँ हिस्सा राजाकी भृति निश्चित कर दी गई। शुरूमें मनुष्य देवरूप थे या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। पर प्रायः सभी धर्मोंने मनुष्य जातिके इतिहासमें परिवर्तन कर ऐसा बिन्दु माना है, जो प्राचीन परम्परासे मनुष्यको नये वातावरणमें ला देता है। हिन्दूपुराणोंने उसे प्रलय कहा है, और जैन पुराणोंने–भोगभूमिके उठ जानेपर कर्मभूमिका आरम्भ। वसुबन्धु और उक्त पौराणिक कल्पनाओंका आशय यही है कि मानव-संस्कृतिका विकास निश्चित समयसे मानवी प्रयत्नों द्वारा ही हुआ।

---

१. "प्रागासन् रूपिवत्सत्त्वाः रसरागात् ततः शनैः।
आलस्यात्संग्रहं कृत्वा भागार्थं क्षेत्रपः कृतः॥"–अभिधर्मको।

मौलिक भेद–

हिन्दूपुराण ईश्वरवादी हैं । अतः जनता जब यह गुहार लेकर ब्रह्माके पास पहुँची कि 'अनीश्वरा विनश्यामः' बिना ईश्वरके हमारा नाश हो जायगा । इसलिए आप राजा नियुक्त कर दें, ब्रह्माने मनुसे राजा बननेको कहा । पहले मनु सकुचाए पर बादमें लम्बे चौड़े अधिकार मिलने पर उन्होंने राजा बनना स्वीकार कर लिया ।

जैन पुराणोंमें यह घटना दूसरे रूपमें रखी है । उसमें जनताने नाभिरायके सामने नई समस्याएँ रखीं, पर उसने अपने बेटे ऋषभके पास भेज दिया । ऋषभ बुद्धिमान् थे उन्होंने शासन और शिक्षक–दोनों कार्य किए । यह तो पौराणिक मत हुआ । वेदोंमें यह संकेत है कि–असुरोंसे लगातार हार होते देख–आर्योंने ब्रह्मासे मुखियाकी प्रार्थना की । इससे इसी सत्यका उद्घाटन होता है कि प्रजाने अपनी सुविधा और सुरक्षाके लिए राजा चुना । फिर भी उस चुनाव-में मौलिक अन्तर है । एकमें–राजा जनताकी प्रार्थनापर, ब्रह्मा द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि है जब कि दूसरेमें–जनता द्वारा मनोनीत जनताका शासक और गुरु । इसी दृष्टिभेदमें भारतीय राजतन्त्रका वह बीज निहित है जो आगे चलकर दो रूपोंमें पनपा ।

राज्यकी उत्पत्तिके बारेमें चाहे जो सिद्धान्त रहे हों । पर उसके अधिकार और कर्तव्यको लेकर सभी एक मत थे, उसका निर्वाचन और नियन्त्रण जनताके हाथमें था क्षत्रिय और क्षत्रपका एक ही अर्थ था कि लोककी आरा-धनाके लिए उसे पत्नी और समस्त सुखका भी त्याग करनेमें हिचकिचाहट नहीं होना चाहिए । दुष्टनिग्रह और शिष्टपरिपालन ही राजाका धर्म है । प्रसिद्ध श्रमण सोमदेवने राज्यको नमन किया है क्योंकि राजा ही परम देवता है–'धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ।' रामायणमें स्वेच्छाचारी राजाको हटा देनेका विधान है इससे स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिने, क्रिश्चियनोंकी भाँति-राजाको असीम अधिकार नहीं दिए । भारतीय लेखकोंने जहाँ कहीं भी राजाकी प्रशंसा की है वह आदर्शकी सराहनाके लिए ।

विविध प्रणालियाँ–

प्राचीन भारतमें एक राजतन्त्रके अतिरिक्त अन्य राज्य प्रणालियाँ थीं । उत्तर वैदिक कालमें भिन्न-भिन्न राज्यसंस्थाएँ स्थिर हो रहीं थीं । पूरबमें राज्यसंघ, दक्षिणमें भोज्य, पश्चिममें स्वराज्य और उत्तरमें वैराज्य । यह कहना कठिन है कि इनमें श्रमण ब्राह्मणका कितना योग था । सोलह महाजनपद युगमें, मगधमें साम्राज्य खड़ा करनेकी प्रक्रिया शुरू हुई । पर वह विशुद्ध राजनीतिक प्रक्रिया थी । श्रमण और ब्राह्मणकी भावना उसमें नहीं थी । ब्राह्मण क्षत्रिय

आदिका श्रेणिभेद अवश्य था—पर उनमें जातिगत कट्टरता नहीं थी। अजातशत्रु चाणक्य चन्द्रगुप्त भारतीय साम्राज्यके आदि निर्माता कहे जा सकते हैं, पर उनकी इस चेष्टामें श्रमण ब्राह्मणकी गन्ध नहीं दिखाई देती। चन्द्रगुप्त का मौर्य साम्राज्य श्रमण राज्यनीतिसे अनुप्राणित इस अर्थमें था कि उसमें राजा ईश्वरका अंश न होकर प्रजापरिषद् द्वारा अनुशासित जनताकी आकांक्षाओंका प्रतिनिधि था। विदेशी आक्रमणोंका मुकाबला करनेके लिए केन्द्रीय शासनकी आवश्यकता थी और उसकी अभिव्यक्ति ही मौर्य-साम्राज्य था। अशोकने उस शासनको 'धम्म नीति' से संचालित किया, वह धम्मनीति शुद्ध भारतीय लोकधर्म ही थी—प्रियदर्शी राजा तो उसका संचालक मात्र था। कलिंग चक्रवर्ती खारवेल भी इसी श्रेणीका लोकरंजन करनेवाला सम्राट् हुआ। अशोककी अपेक्षा उसका अपने सम्प्रदाय के प्रति अधिक झुकाव था।

शुंग साम्राज्य—

मौर्य साम्राज्यके खण्डहरोंपर—पुष्यमित्र शुंगने शुंग शासनकी—नींव डाली, पर उसकी सारी राजनीति प्रतिक्रियात्मक थी, 'मनु' जैसे विचारक उसके सहयोगी थे। अश्वमेधका पुनरुद्धार—उसका मुख्य लक्ष्य था। स्पष्ट ही वह बौद्ध और जैन आदर्शोंकी प्रतिक्रिया थी—जिसका लक्ष्य था—पुनः पुरानी वैदिक संस्कृतिका पुनरुद्धार करना, यह प्रतिक्रिया राजनीतिमें नहीं, किन्तु समूचे राष्ट्रीय जीवनमें थी।

प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण—

मनु डंकेकी चोट ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता घोषित करते हैं। अशोकने यदि अपनी संततिको 'लघुदंडता' का उपदेश किया था तो मनुस्मृतिके लेखकने उसके विपरीत कहा—"नित्यं उद्यतदण्डः स्यात्" सदा अपने दंडको उद्यत रक्खे, पौराणिक हिंदूधर्म इसी युगकी उपज है। उसके बाद सात सौ बरस तक भारतीय राजनीतिका आदर्श अश्वमेधका पुनरुद्धार रहा। नंदों और मौर्योंने—अपने एकराष्ट्रीयसत्तावादके लिए—ग्रामों और निकायोंकी पुरानी स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयोंको तोड़ा, पर उनका हेतु राजनीतिक था। अशोकने उस दमनको ढीला करनेके लिए—उदारताकी नीति अपनाई, पर शुंगोंने उसका उपयोग कठोर दंड नीति और ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठामें किया। उसने बात बातमें 'वर्ण'की दुहाई दी, जनतंत्रजीवी राष्ट्रों (मल्ल और लिच्छवि) को व्रात्य नाम दिया प्रजा द्वारा राजाके निर्वाचनका सिद्धान्त बहुत पुराना था, मनुने उसे देवत्वका रूप दिया।

दैवी करण—

मनुको यह विचित्र कल्पना सूझी कि अराजक लोकमें सुव्यवस्थाके लिए ब्रह्माने देवताओंका अंश लेकर राजाकी सृष्टि की। इसलिए राजामें अधिक-

है। तेजपर मनुने इस तेजसे अपने वर्गको साफ बचा लिया है। प्रत्येक बातमें ब्राह्मणोंको छूट और शूद्रों आत्योंको नियंत्रण-ही उसकी नीतिका मूल आधार है। कौटिल्य दासता उठा लेनेके पक्षमें था जब कि मनुका कहना है कि 'दासता' दासका सहज भाव है, स्वामीके छोड़नेपर भी सेवक अपने सहज धर्मसे छूट नहीं सकता, अतः स्वधर्म (सेवकत्व) में निधन ही श्रेयस्कर है। आचार्य शुक्रने मनुके विचारोंका विरोध किया–पर उसकी कौन सुनता। मनुके विचार राजाओंकी स्वच्छंद प्रवृत्तियोंके समर्थक थे अतः उसकी पूरी छाप भारतीय राजनीतिपर पड़ी। राजपूत लोग मनुके पूरे अनुयायी थे। श्रमण संस्कृतिकी किसी भी शाखाने ईश्वरका अंश राजाको चाहे न माना पर उन्होंने इस बारेमें मौलिक साहसका परिचय नहीं दिया। उल्टा सोमदेव राज्यको नमन करता है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने समकालीन राजाका जीवन चरित निबद्ध किया है, जो स्पष्ट इस भावको सूचित करता है कि मध्ययुगीन भारतीय संस्कृतिकी सभी शाखाएँ अपने विकास और पोषणके लिए–भौतिक आश्रयकी खोजमें छटपटा रहीं थीं। रानी विक्टोरियाके शासनको सभीने 'कोउ नृप होय हमें का हानी' के अनुसार स्वीकार किया। यह भी उसी भावको बताता है।

श्रमण और राज्य–

यह सत्य है कि श्रमण विचारकोंने ईश्वरका कर्तृत्व स्वीकार नहीं किया। इसलिए उनके यहाँ राजाको ईश्वरका अंश माननेका प्रश्न नहीं उठता। बुद्ध और महावीर क्षत्रिय कुलमें पैदा हुए, पर उन्होंने आत्मविचारोंके लिए राज्यका त्याग किया। संस्कृतिका सम्बन्ध आत्मविकाससे है। इसलिये जो संस्कृतियाँ अपने प्रसारके लिए राज्यका आश्रय लेतीं हैं उनका पतन निश्चित है। बौद्धोंके पतनके कारणोंमें सबसे बड़ा कारण यही था। जैनोंको अपेक्षाकृत–राज्यका सहारा कम मिला। वस्तुतः ब्राह्मणोंको सबसे अधिक राज्यका आश्रय मिला। ब्राह्मण गृहस्थ थे, अतः राजस्वसे उनका निर्वाह सम्भव था, श्रमण त्यागी थे, फलतः उनका सम्बन्ध गृहस्थोंसे रहा।

पर ये गृहस्थ मामूली जीव नहीं थे, कभी-कभी उनकी शक्ति राजासे भी बढ़ी चढ़ी होती। मौर्य साम्राज्यका निर्माण–चन्द्रगुप्तकी तलवार और चाणक्यकी प्रतिभाने ही नहीं किया किन्तु उस युगके सेठियोंकी तिजोरियोंका भी उसमें कम योगदान नहीं था। गणतन्त्रोंकी समाप्तिके बाद–गणजातियाँ व्यापार करने लगीं थीं, जैन और बौद्धधर्म गणतन्त्रोंमें पनपे थे–अतः इन जातियोंमें उनका अधिक प्रचार होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वैदिक आख्यानोंमें जो स्थान राजाका है श्रमण आख्यानोंमें सेठों का। 'जेतवन' का दान अनाथपिंडक सेठकी उदारताका फल था। बड़े-बड़े संघाराम और

उपाश्रय-इन्हीं सेठियोंकी कृपापर जीवित थे। प्रश्न उठता है यह सम्पत्ति सेठोंके हाथ कैसे लगी? श्रमणधर्मकी उपासनासे इनके वैभवके अधिकारी बननेका पुण्य इनके बाँटेमें नहीं आया था, शुरूमें 'सेठ' [श्रेष्ठि] श्रेणिके मुखियाका नाम था। भिन्न शिल्पोंके आर्थिक संगठनका नाम श्रेणि था, मुखिया का काम था-कि अपनी श्रेणिके उत्पादन और विक्रयकी व्यवस्था करना। आगे चलकर श्रेष्ठियोंने कारीगरोंको पंगु बना दिया और स्वयं कुबेर बन बैठे। सातवाहन कालमें जुलाहे राज्योंकी धरोहर अपने पास रखनेकी हैसियत रखते थे, पर आज उधारजीवन ही उनके भाग्यमें लिखा है। श्रमण संस्कृतिके पोषक व्यापारी रहे हैं। सांस्कृतिक धर्म प्रभावनाके लिए-पैसा उनकी जेबोंसे आता है, फलतः राज्य संस्थासे बचकर भी श्रमण संस्कृति आर्थिक बुराइयोंसे नहीं बच सकी।

श्रमण घोषणा-

पहले अर्थनीति गौण थी, और राजनीति मुख्य। पर अब राजनीति अर्थनीतिका पुछल्ला है। स्वाधीनता प्राप्तिके बाद यद्यपि राजाओंका अस्तित्व समाप्त हो चुका है। पर आर्थिक प्रश्न अभी शेष है। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आगामी आर्थिक निर्माणमें श्रमण संस्कृतिका क्या दृष्टिकोण हो? सिद्धान्तकी दृष्टिसे श्रमण संस्कृति समाजवादकी समर्थक है। पर प्रश्न सिद्धान्तका नहीं व्यवहार का है इसलिए उसके नेताओंको अभय होकर यह घोषणा करनी चाहिए कि वे वर्ण और वर्णगत विषमताके विरुद्ध अध्यात्ममूलक समाजवादी व्यवस्था चाहते हैं। इस घोषणाके बिना स्वतन्त्र भारतके निर्माणमें उनका कोई कृतित्व नहीं आंका जा सकता।

आर्य और शूद्र

श्री गुलाबचन्द्र चौधरी एम. ए.

भारतीय वर्ण व्यवस्थाकी चौथी और अन्तिम व्यवस्था शूद्र है। यह व्यवस्था वैदिक मान्यताके अनुसार वेदों जैसी ही पुरानी है। ऋग्वेद मण्डल दसवेंके पुरुष सूक्तमें शूद्रका उल्लेख अन्य तीन वर्णोंके साथ है। कतिपय भारतीय प्रज्ञतत्त्वविदोंके अनुसार पुरुष सूक्त बादका क्षेपक है। बात कुछ भी हो, पर उक्त सूक्तकी परीक्षासे इतना मानना पड़ेगा कि शूद्र उतने ही पुराने हैं जितनी कि पृथ्वी और उनका स्रोत भी वही है जो कि अन्य वर्णोंका।

मानव समाजके चार भेद उनके कर्मोंके अनुसार कर दिये गये हैं। उसमें जाति जैसी किसी बातका संकेत नहीं। सूक्तकी रूपकात्मक भाषाको कल्पित तथ्योंकी विवेचिका मानना उचित प्रतीत नहीं होता। उक्त सूक्तमें शूद्र और भूमिको ब्रह्माके पैरसे उत्पन्न बताया है, जब कि ब्राह्मण और अग्निको मुखसे उत्पन्न। सूक्तकी भाषासे अनुमान किया जा सकता है कि भूमिके कर्षक शूद्र हैं जब कि मन्त्रोच्चारणके, जिसकी शक्ति अग्निके समान है, कर्ता ब्राह्मण।

वैदिक साहित्यके बादके साहित्यका अवलोकन करनेसे कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने अनुमान लगाया कि शूद्र एक विजित आदिमवासी था जिसका कि ऐतिहासिक महत्त्व क्षीण हो चला था। उसे उस युगमें दस्यु और दासकी सन्तान माना जाता था। उसने अपनी इस मान्यताकी तुलना अफ्रिका और अमेरिकामें रहनेवाले आदिवासी हब्शियोंसे की है जिन्हें यूनान वालोंने गुलाम बनाया था। यह सत्य है कि प्राचीनकालमें विजितोंमेंसे दास दस्यु बनाये जाते थे और इनकी समाजमें सबसे नीची दशा होती थी पर समाजका समूचा निम्न वर्ग इन्हींसे ही नहीं बना था, उसमें अन्य भी स्थानीय जनवर्ग शामिल किया गया था। पर एक मानव शाखाने दूसरी मानव शाखाको पराजित कर गुलाम बनाया हो ऐसा भारतीय इतिहासके प्रति लागू नहीं किया जा सकता। यह बात भारतकी विभिन्न जातियोंका नृवंश तत्त्वज्ञानके आधार द्वारा अवलोकन करनेपर समझमें आयगी। यहाँ प्रत्येक जाति विविध मानव शाखाओंके सम्मिश्रणसे बनी है। यह आजकी बात नहीं, मोहें-जो-दरो और हरप्पासे प्राप्त शरीरकी हड्डियोंसे साबित है। इन दोनों सभ्यताओंके विकासका युग

वैदिक कालसे कहीं बहुत पहलेका था। इसलिए हम शूद्रको पराजित दस्यु या दासकी सन्तान नहीं मान सकते।

शूद्रको दास या गुलाम मानकर पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिकोत्तरकालीन साहित्यके शब्दोंका तदनुरूप अर्थ किया है और शूद्रका भ्रमात्मक चित्र सामने रखा है।

कहा जाता है शूद्र काले और आर्य गोरे थे और वैदिक साहित्यमें उल्लेख है कि भिन्न रंगवाली जातियोंमें लडाइयाँ हुई थीं। शूद्र आर्यों से बिलकुल विपरीत थे। एतरेय ब्राह्मण कहता है कि शूद्र दूसरेका नौकर हैं (अन्यस्य प्रेष्यः) स्वेच्छासे निकाला जाता है (कामोत्थाप्यः) जब चाहे मारा जा सकता है [यथाकामो वध्यः]।

पाश्चात्य विद्वानोंके मनोरथ इन उद्धरणोंसे तभी सिद्ध होते जब कि तत्कालीन शूद्र गुलाम होते। इन उद्धरणोंसे यदि कुछ सिद्ध होता है तो वह दो भारतीय वर्गोंका आपसी संघर्ष, एकके दूसरेपर प्रभुता कायम करनेके प्रयत्न।

विश्वपर आर्य प्रभुता कायम करनेका ढिंढोरा पीटने वाले पाश्चात्य विद्वानों की पैनी नजरने भारतीय इतिहासमें भी आर्योंकी विजयकी बात ढूंढ निकाला। पर उन्हें मालूम होना चाहिये कि नृतत्ववंश विज्ञानने बता दिया है कि आजके ही नहीं सुदूर अतीतके प्राचीन भारतकी जातियोंका निर्माण, आर्य शूद्रके संघर्षका परिणाम नहीं, बल्कि अनेक मानवशाखाओंके सम्मिश्रणका फल है जो कि वैदिक कालसे नहीं बल्कि मोहनजोदारो और हरप्पाकी सभ्यताओंके कालसे है। वहां प्राप्त विविध मानवशाखाओंकी कपाल हड्डियां पुकारकर कह रही हैं कि यह भारत भूमि सदा से सभी शाखाओंका संगमस्थल रही है। यदि वहां प्राप्त अर्मेनियन और भूमध्यसागरीय मानवशाखाओंकी सन्तान यहांकी आदिनिवासी शूद्र कौम थी, पर ये शाखायें तो गोर थीं तब शूद्र काले कैसे ठहरे। वे तो गोरे पूर्वजोंकी सन्तान थे। पाश्चात्य विद्वानोंने शूद्रोंकी मानवशाखाका विचार करते हुए वैदिक साहित्यके कुछ उद्धरण पेश किये हैं। यहां उनकी परिक्षा कर लेना आवश्यक है।

अनसः=नाकरहित, कृष्णः=काले–इससे क्या हम द्रविड या उससे पहले की कोई अन्य मानवशाखा समझें? तब तो तेलुगु ब्राह्मण और शूद्रमें अन्तर कुछ न रहा। लंबी नाक और गौर वर्ण वाले आर्य थे तो पंजाबके ब्राह्मण, क्षत्री और शूद्र सब एक शाखाके कहलाये। सूक्ष्म रीतिसे विचारनेपर मालूम पड़ेगा कि गौर और कृष्ण छोटी नाक और लम्बी नाक किसी वर्ण या जातिके भेदक न तब थे और न अब हैं। मानववंश विज्ञानकी दृष्टिसे शूद्रकी स्थिति बताना कठिन है। वर्णका अर्थ सामाजिक विभाग है न कि रंग। वैदिक साहित्यमें

जगह जगह अनेक रंग-वाली जातियोंके लोगोंकी एकताकी बात हम पढ़ते हैं।

अत्रिसंहिता और महाभारतमें कहा है कि लाख, नमक, केशर, दूध, मधु-मांस बेंचनेवाला ब्राह्मण शूद्र है। शूद्रको संस्कृत साहित्यमें कहीं अनार्य नहीं कहा। यदि शूद्र और आर्यकी तथाकथित लड़ाई हुई होती तो यजुर्वेदमें उप-लब्ध पुरुषसूक्तमें दूसरे पाठमें यह प्रार्थना कैसे संगत बैठती-"तुम मेरे उन पापोंको नष्ट कर दो जो मैंने शूद्रों और वैश्योंके प्रति किये हैं।" उसी वेदमें लिखा है-"वह पवित्र शब्द जो कि मैंने...शूद्र वैश्य तथा सम्बन्धियों...से कहा है, वह मुझे देवताओंका प्यारा बनावे।'

पहले मंत्रमें ब्राह्मण शूद्रके प्रति किये पापकी क्षमायाचना की है तथा दूसरेमें शूद्र वह मन्त्र सुन सकता है यह बताया है। एक वैदिक मन्त्रमें शूद्रको सोमयज्ञमें स्थान दिया है।

संहिता कालमें हमें धनी शूद्र, शूद्रमन्त्री, शूद्रराजाका उल्लेख मिलता है। इन सबसे हमें शूद्रका गुलाम या विजितका रूप तो नहीं मालूम पड़ता।

पुराणोंमें उल्लेख है कि ऋषि शौनकके चार लड़के हुए जो कि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो गये। विष्णुपुराणमें उल्लेख है कि क्षत्रिय राजा बर्गभूतिने चार वर्ण बनाये। चारों वर्णोंके लोग उसकी सन्तान थे। इस तरह पुराणोंमें भी एक सामान्य उत्पत्तिका जिक्र है। वैदिक साहित्यसे पुराण-कालीन साहित्यका निष्पक्ष अध्ययन करनेसे मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण प्रभुताके सामने अन्यवर्ग हीन होते गये, उसमें शूद्रोंकी भी यही हालत हुई। उन्हें अनार्य कहना बिलकुल गलत है। उन्हें ब्राह्मणतन्त्रका अन्तरप्रियवर्ग कहना कुछ हदतक उचित होगा। पर उन्हें ब्राह्मणतन्त्रसे बाहर रहनेवाले लोगोंमें नहीं मिलाया जा सकता। मनुने कहा है कि "शूद्र चौथा वर्ण है", पञ्चम नहीं हो सकता। पर शूद्रसे भी कुछ नीची जातियाँ हैं जिन्हें अन्त्यज कहते हैं। अलबिरूनी [११वीं शता०] ने शूद्र के बाद अन्त्यजोंका उल्लेख किया है, उसने शूद्रोंको सूत और सनका यज्ञोपवीत धारण करते पाया।

उपर्युक्त समस्त कथनसे ज्ञात हुआ होगा कि भारतीय आर्यजातिके चार विभाग थे। शूद्रका वेदमें उसके विरोधी दस्यु, दास असुरोंके साथ कहीं उल्लेख नहीं। शूद्र वैदिक धर्मका विरोधी कहीं नहीं कहा गया।

शूद्र शब्दकी उत्पत्ति अज्ञात है। वेदान्त सूत्रमें शूद्र, तप अर्थात् दुःखका पुत्र बताया गया है, जिसका कि ऐतिहासिक कोई अर्थ नहीं। कुछ विद्वान् क्षुद्रसे शूद्रको मिलाते हैं पर भाषाशास्त्रियों द्वारा यह सम्मत नहीं। यूनानियोंके ओक्सीड्राकाई अर्थात् संस्कृतके क्षुद्रकसे भी शूद्रकी व्युत्पत्ति नहीं लायी जा सकी क्योंकि क्षुद्रक एक गणतन्त्र जाति थी जो क्षत्रिय थी।

शूद्रोंकी वृद्धिको देखते हुए कहना पड़ता है कि शूद्र कौम उस सब अपने मूलरूपसे गिरी हुई समाजव्यवस्थाका एकीकरण है। वैदिककालके रथकार कर्मकार, तक्षन् आदि राजकर्ता अर्थात् राजाको चुनने वाले माने जाते थे पर बादके साहित्यमें वे शूद्रोंकी पाँतमें गिने जाने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कालमें ग्रामपंचायती राज्योंके समय जो श्रमिकवर्ग गण्य माने जाते थे वे ही सामन्ती युगमें महत्वहीन गिने जाने लगे और बादमें शूद्रोंमें शामिल किये जाने लगे। स्मृतिकालमें तो सभी वर्णोंके पतित लोग शूद्र माने जाने लगे थे। मनुस्मृतिमें लिखा है कि द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] यदि शूद्र स्त्रीसे विवाह कर ले तो वह शूद्र हो जाता है और उसकी सन्तान भी शूद्र कहलाती है। पर एक जगह मनु ऐसे शूद्रके उत्थानकी बात कहता है। वह कहता है—शूद्रा स्त्री और ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्या सन्तानका ब्राह्मणसे क्रमशः सात पीढ़ी तक सम्बन्ध होता रहे तो वह शूद्र उठ जाता है। इस तरह वह शूद्रका पुत्र ब्राह्मण हो जाता है। धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि उच्च वर्णके लोग पतित होकर शूद्र हो गए। शूद्रावस्थामें उच्च वर्णके लोगों द्वारा उपभोग्य विशेषाधिकारोंसे वंचित होना पड़ता है। स्मृतियोंके इस कानूनके अनुसार ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धोंसे ऊँचा उठ सकता है। स्मृतियोंके मतानुसार शूद्र न तो आदमनिवासी और न अनार्य थे। वे अन्य वर्णोंके समान ही आर्य हैं।

शुंगोंके पहले, शूद्रकी स्थितिपर कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य शूद्रको जन्मसेआर्य [आर्य प्राण] और आर्यके समान अधिकार [आर्यभाव] वाला कहता है। गुलाम भी आर्य हो सकता है यदि वह अपनी गुलामीके रुपये चुका दे तो।

पुरानी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि आर्यत्व और शूद्रत्व सापेक्ष नियम हैं। वे दिये जाते थे और छीन लिए जाते थे। कौटिल्यके कथनसे मालूम पड़ता है कि आर्यत्व एक राजनीतिक व्यवहार है जो कि भारतीय राजनीतिक ढाँचेके उपभोगका मताधिकार प्रदान करता था और कौटिल्यने इस मताधिकारको बढ़ा दिया था। कौटिल्यके कथनसे स्पष्ट है कि शूद्र और गुलाम भिन्न व्यवहारवाले वर्ग हैं।

प्राचीन कालके शूद्रके समान इस युगमें भी हम शूद्रको पाते हैं। बहुसंख्यक हिन्दू शूद्र हैं। हिन्दू समाजमें अद्विज तीन प्रकारके हैं—सत्शूद्र, असत्शूद्र और अन्त्यज। सत् शूद्र वे हैं जिनके हाथका घीमें पका कुछ प्रकारका भोजन ब्राह्मण ग्रहण कर लेते हैं। असत् शूद्र वे हैं जिनके हाथका जल ब्राह्मण ग्रहण नहीं करते यद्यपि उनके विवाह शादीमें ब्राह्मण काम करते हैं।

जनपद अछूत कहलाते हैं। वे शहरके बाहर रहते हैं। वह हिन्दूसमाजका दलित वर्ग है।

सफाई और गन्दगीका ध्यान रख कुछ लोग शूद्रको घृणित कहते हैं पर उन्हें ध्यान रहे कि सफाई और गन्दगी समाजकी आर्थिक परिस्थितियोंपर निर्भर है। जो समाज आर्थिक दशामें समुन्नत होगा वह सफाई रख सकेगा और उन्नत माना जायगा। उदाहरणके लिए रथकार वैदिक कालमें श्रेष्ठ वर्ग माना जाता था पर उसके बाद कालमें उसे शूद्र माना जाने लगा। पाणिनिके एक सूत्रकी व्याख्यामें पतञ्जलिने लिखा है कि बढ़ई स्पृश्य जाति है, ब्राह्मणकी थालीमें खा सकता है। वेदोंमें बढ़ई ऋचाओंका उच्चारण करता पाया जाता है पर बादके युगमें उसे असत्शूद्र माना गया है। पतञ्जलिने धोबीको स्पृश्य श्रेणीका माना है और वह ब्राह्मणोंके बर्तनोंमें खा सकता है पर पीछेके साहित्य में वही असत् शूद्र माना गया है।

पतञ्जलि और मनुने यवन शकोंको स्पृश्य शूद्रकी श्रेणीमें रखा है पर पद्म-पुराणमें सभी शूद्रोंको अस्पृश्य माना गया है। पराशरस्मृति (१० २) में लिखा है कि दास, नाई, ग्वाला, कुलमित्र, अर्धशीरि [खेतीमें हिस्सेवाला] के हाथका पकाया भोजन ब्राह्मण कर सकता है। पर आजके भारतमें ये सब विचार कैसे सम्भव हैं ?

आजके भारतमें अब हम देख रहे हैं कि कुछ स्पृश्य शूद्र अपनी आर्थिक समृद्धिसे ऊँचे उठ रहे हैं और अपनेको ऊँचे वर्णका मानने लगे हैं। इसके उदाहरण यत्र-तत्र हर प्रान्तोंमें मिलते हैं। सत् असत् अस्पृश्यका भेद सिर्फ अर्थाधारपर है। महात्मा गान्धीने अछूतोद्धार आन्दोलन चलाया और अब हमारी सरकारने उसे प्रोत्साहन दिया, प्रश्रय दिया है। यदि शूद्रोंको आर्थिक उन्नतिकी सुविधा न मिली तो यह सब फिसल जायगा।

मुझसे न कहो

श्री रामगोपालसिंह चौहान

मुझसे न कहो।
रहने दो,
न कहो मुझसे।
मैने आँखों देखा है,
जगमगाते हुए रंगमहलमें सौन्दर्यका सौदा। एक नारी कई नर,
उच्छृंखलताकी पराकाष्ठा, सोडावाटर और शराबकी प्यालियों
का तड़ातड़ टूटना। नारीका चीत्कार और नरका दानवरूप।
देखा है मैंने–
चाँदके टुकड़ोंपर नरको नरकी हत्या करते और भूखकी
कराल्तामें मानवको जूठी पत्तल चाटते।
देखा है मैंने–
मन्दिर और मस्जिदकी आड़में दोजख, मन्दिरोंकी ओटमें
सतीत्व का अपहरण, मस्जिदकी आड़में नर रक्त शोषण,
रामनामीके बुर्केमें बलात्कार और गिरजेकी चौहद्दीमें
मानव आत्माका हनन।
देखा है मैंने–
विधिके विधानमें,
पूर्व कर्मफलके नामपर मानवका शोषण।
मैंने देखा है–
सभ्यता, समाज और धर्मकी दुहाईके नामपर,
जीवनके कुत्सित सपने, मानवताका सौदा और नृशंसताका
साम्राज्य।
फिर भी तुम कहते हो–
पूजा करो,
अर्चना करो,
मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा, जाकर पुण्य कमाओ!

गाज गिरे,
ऐसी सभ्यता और समाजपर,
मन्दिर और मस्जिद पर।
रहने दो,
दूर
मुझे रहने दो
मक्का और मदीनासे, काबा और काशीसे, खुदा, ईश्वर और
गॉडसे, ऐसे पाप और पुण्यसे।
रहने दो,
दूर मुझे।
मुझे तो बदलना है इसे,
और
स्थापित करना है मानव सभ्यता, मानव धर्म,
और
मानवताके मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे।

रज्जबजी की सर्वंगी

[सन्त-साहित्यका एक अप्रकाशित संग्रहग्रंथ]

श्री पारसनाथ तिवारी, एम. ए.

रज्जबजी दादूके शिष्य थे। इनका जीवनकाल सं० १६२४–१७४६ वि० तक माना जाता है[1] [यद्यपि इन तिथियोंमें अभी शोधकी आवश्यकता प्रतीत होती है]। उनकी निजी कृतियाँ तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, किन्तु उन्होंने कई प्राचीन तथा समसामयिक प्रमुख सिद्धों तथा संतोंकी वाणियोंका एक संग्रह-ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया है, जो 'सर्वंगी' के नामसे प्रसिद्ध है और कई दृष्टियोंसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है यों तो इसकी चर्चा गौणरूपसे कुछ स्थलों[2] पर मिल जाती है, किन्तु सबसे पहले कदाचित् स्व० डा० बड़थ्वालजीने ही इसका वास्तविक महत्त्व समझा और 'हिंदी काव्यकी निर्गुणधारा' नामक अपनी अंग्रेजी थीसिस तथा 'गोरखबानी'[3] में इसका उपयोग भी किया। इसकी एक प्रति उन्हें पं० तारादत्त गैरोला[4] से प्राप्त हुई थी, जिसमें लिपिकाल नहीं दिया हुआ है। इधर 'संतवाणी' वर्ष १, अंक १ में प्रकाशित पुरो० हरिनारायणजी के लेखमें इसकी चर्चा कुछ विस्तारसे की गई है। कबीरके अध्ययनके सिलसिलेमें जयपुरके श्री दादूमहाविद्यालयमें मुझे भी सर्वंगीकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ[5] देखनेको मिली हैं, जिनके आधारपर इसका संक्षिप्त परिचय देनेकी दृष्टिसे यह निबन्ध लिखा जा रहा है।

मेरी देखी हुई प्रतियोंमे एकका लिपिकाल सं० १८४१ वि० तथा दूसरीका सं० १८४७ वि० है। तीसरी, जिसमें लिपि काल नहीं दिया है, अपेक्षाकृत अच्छी है और देखनेसे वह भी १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्धकी लिखी जान

---

१ मंगल प्रेस, जयपुरसे प्रकाशित 'संतवाणी' वर्ष १, अंक १ में स्व० पुरोहित हरिनारायणजी का "महात्मा रज्जबजी" शीर्षक निबन्ध, पृ० १४।

२ मिश्रबन्धु विनोद, भा० २, पृ० ४२७।

चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, 'दादूपंथ सम्प्रदायका हिन्दी साहित्य', सरस्वती भा० १७ सं० ४ सभा, चतु० त्रै० खो० रि०।

३ भूमिका, पृ० १२ (प्र० सं० १९९९ वि०)

४ बड़थ्वाल, 'निर्गुण स्कूल आव हिंदी पोइट्री', पृ० २८३।

५ इसकी एक अन्य प्रति जयपुरमें ही स्व० पुरोहितजीके संग्रहमें भी है।

पड़ती है। तीनोंमें पाठ-भेद नहींके बराबर है, और यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उनमें रज्जबजीकी सर्वङ्गी, जो सं० १७४६ (उनका मृ० सं०) के पूर्व संगृहीत हो चुकी थी, बहुत कुछ अपने मूल रूपमें सुरक्षित है। मैंने अपना अध्ययन मुख्यतया तीसरी प्रतिपर ही आधारित रखा है। विद्यालयकी जिन पोथियोंमें सर्वङ्गी है उनमें इनके अतिरिक्त दादू, कबीर, नामदेव, रैदास तथा हरदासकी वाणियाँ [पंचवाणी] और कुछ अन्य फुटकर रचनाएँ भी संगृहीत हैं। मेरे द्वारा प्रयुक्त सर्वङ्गी बड़ी पोथीके 'पांनां'[१], ४२६ से ५७२ तक है। पोथी लगभग १ फुट ४ इंच लम्बी और ६ इंच चौड़ी है। सर्वङ्गीमें प्रति पृष्ठ ४२ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति लगभग २२ अक्षर हैं। पहलेके 'मंगला-चरण', 'अस्तुति' तथा 'भेटकौ अंग' को सर्वङ्गीका प्राक्कथन समझना चाहिए। इनके बाद आनेवाले 'गुरुदेव कौ अंग' से ही सर्वङ्गीके वास्तविक स्वरूपका आरम्भ होता है। पोथी १४२ अंगोंमें विभाजित है—

[१] गुरुदेव कौ अंग [२] गुर सिष निरनै निनान कौ० [३] गुर सुषि कसौटी० [४] आग्याकारी० [५] आग्याभंगी० [६] गुर संजोग बिजोग० [७] बिरह० [८] बिरह बिभग बिसूरौ० [९] ब्रह्म अगनि० [१०] बिकताई० [११] सूक्ष्म त्याग० [१२] रत-बिक्रत० [१३] सुमति-कुमति० [१४] सक्ति उभै गुणी० [१५] सुमिरण० [१६] भजन-भेद० [१७] अजपा-जाप० [१८] नांव महिमा० [१९] नांव निरूपण० [२०] भजन प्रताप० इत्यादि।

इसमें प्रायः सभी ऐसे विषयों का उल्लेख आगया है जिनपर संत लोग अपने विचार प्रकट किया करते थे। 'अनभई', 'करुना बीनती', तथा 'उपदेस चिन्तामणी'के अंग अपेक्षाकृत सबसे बड़े हैं। यही स्वाभाविक भी था। संतोंने पोथीज्ञानकी अवहेलना कर अपने अनुभवके बल पर सत्यकी खोज की और बाह्याडंबरोंका त्याग कर परमात्मासे सहज स्नेह स्थापित किया, प्रतिपल उसका स्मरण किया और संसारी लोगोंको भौतिक जगत्‌की क्षण-भंगुरता तथा निस्सारताकी चेतावनी दी। उक्त तीनों अंगोंकी प्रधानताका यही कारण है। इन तीनोंमें भी 'अनभई' अंग सबसे बड़ा लगता है। 'अनभई' अनभै अथवा अनभौ संस्कृत अनुभवके रूपांतर हैं। इसमें रूपक शैलीमें उलटवासियोंके ढंगकी रचनाएँ रहती हैं। संत साहित्यमें इस 'अनभई वाणी' का बड़ा महत्त्व है। कोई भी ऐसा सिद्ध अथवा संत नहीं हुआ जिसने अनभई सबदियाँ अथवा पद न कहा हो। इसकी परम्परा काफी प्राचीन है और गूढ़ होते हुए भी इसका अध्ययन बड़ा मनोरंजक है। किंतु इस 'अनभई' के नाम पर संतोंकी

१. एक 'पानां' दो पृष्ठोंके बराबर समझना चाहिए।

वाणीमें काफी घालमेल भी हुआ क्योंकि सभीके अनुभव एकसे नहीं होते। लोगोंने कबीर और गोरखके अनुभवोंमें अपना अनुभव भी मिलाना आरम्भ कर दिया, जिसको अलगाना संत साहित्यके अध्येताके लिए बड़ा कठिन हो जाता है।

इन अंगोंका उल्लेख एक अन्य दृष्टिसे भी आवश्यक है। कबीर, नामदेव अथवा रैदास इत्यादिकी वाणियोंका जो अंगोंके अनुसार वर्गीकृत रूप मिलता है उसके निर्माणमें इनका भी पूर्वापर रूपमें कुछ प्रभाव पड़ा हुआ ज्ञात होता है। संत लोग जो कुछ भी कहते थे अपनी सहज उमंगमें कहते थे, किन्हीं विशेष अङ्गोंको दृष्टिमें रखकर नहीं। पर्याप्त समय बीत जाने पर उनके शिष्य अथवा अनुयायी प्रकरणके अनुसार उसे भिन्न भिन्न विषयोंमें विभाजित करते थे। अंगविभाजनकी परम्परा कितनी प्राचीन है। इसकी खोज होनी चाहिए। कहा जाता है, कि दादूकी वाणीका अंगरहित रूप राजस्थानके नैराणा नामक स्थानमें है, जिसका संग्रह कदाचित् उनके जीवनकाल ही में हो गया था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि रज्जबने ही अपने गुरुकी वाणीका अंगोंमें विभाजन किया और उसका नाम 'अंगवधू' रखा। राजस्थानके विविध संत संप्रदायोंमें पंचवाणी रखनेकी भी प्रथा है। इसमें अपने पंथके प्रवर्तक अथवा प्रमुख महात्मा की वाणीके अतिरिक्त चार अन्य संत महात्माओंकी वाणियाँ रहती हैं। अन्तिम चार स्थान प्रायः कबीर, नामदेव, रैदास और हरदासको ही क्रमशः मिलते हैं। दादू संप्रदायकी पंच वाणियोंकी कई प्रतियाँ मैंने देखी हैं जिनमें सभी संतोंकी वाणियाँ अंगोंमें विभाजित हैं। पंचवाणीके अंगविभाजनकी प्रथा सर्वंगीसे प्रभावित है अथवा स्वयं रज्जबने ही अंगविभाजनकी किसी प्राचीनतर प्रथाका अनुकरण किया है यह विचारणीय विषय है। जब तक अंगोंमें विभाजित कोई ऐसी पोथी नहीं मिल जाती जिसका लिपिकाल रज्जब जीसे पूर्वका[१] हो तब तक यही मानना अधिक समीचीन होगा कि अंगविभाजनकी परम्परा रज्जबजीकी सर्वंगीके अनुकरण पर अथवा उनके जीवनकालमें आरम्भ हुई। इसके पूर्व उसे ले जानेके लिए काफी प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

सर्वंगीमें ७० कवियोंकी वाणियाँ संगृहीत हैं। स्थल-संकोचके कारण सभीके उद्धरण न देकर केवल कुछके ही दिये जा सकते हैं :-

दादू, *कबीर (दास-जन-दास), कृष्णदास, भैरूँ, हरदास (निरंजनी),

---

१. का० ना० प्र० सभासे प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' की 'क' प्रतिकी तिथि निश्चित रूपसे संदेहास्पद है।

पीपा[1], *नामदेव (नामा), महमूद (काजी महमूद), जनगोपाल, *सूरदास, परमानन्ददास, मुकंद (–भारथी), *नानक (–का), महमद, संमन, बषनां[1] गोरखनाथ, तुलसी, तुरसी, *रैदास (जन–) अग्रदास, *पीपा (दास– ; जन–) छीतर, करमेरीयाव[1], सोम, चत्रभुज (चत्रदास), बीसो, माधौदास,

---

१. "दीया मैं हेला रे कान अँगुरिया लाइ, दीया मै हेला रे ॥
सुणिमू सत सुजान दीया मै हेला रे ॥ टेक ॥
तुम्ह जिनि जानो छूटिए रे, पूजत हौ तेतीस ।
देवा सहित जँवालिया रे, जीव एक जम बीस ॥....
नापा की दिल बोलिया रे, पड़दा दिया उघाड़ ।
कोई एक हरिजन ऊबरै, चढि हरि चरण पहाड़ ॥"

२. "माई रे राह दुन्यू पष दीठा ।
हिन्दू तुरुक दहूँ को लागै, स्वाद सबनि को मीठा ॥
रोजा करैं नमाज गुजारैं, कलमॉ बंग पुकारैं ॥
वही सवाब कहाँ थैं लैगा, सॉझ को मुरगी मारैं ॥
एकदसी अहूठगौ कीनी, दूध सिंघाड़ा मेती ।
अन छाड्यो इहि मन कै स्वारथि, माग अहार सनौती ॥
तुरकॉ की मिहरि दया हिन्दू की, दहूँ पटा थैं भागी ।
वै जिबहै करैं वै झटकै मारैं, आगि दहूँ कै लागी ॥
जिभ्या स्वारथ आप उपावैं, स्वाद बँधाणा मांटै ।
सुषदेव कही महम्मद फुरमायो, सो करणी रही कहीटै ॥
बेद कतेबू माहै लिषिया, सो तौ झूठ न होई ।
सॉच छिपावै झूठ दिढावै, भरमाया सब लोई ॥
हरि का भगत दरण थैं न्यारे, सो इनके संगि न जाई ।
बषनां दहूँ पषा थैं न्यारो, राम भजनि करि भाई ॥" (दया निरवैरता०)

यही पद थोड़ेसे हेरफेरके साथ कबीरके नामसे भी मिलता है (बीजक पूरनदास, शब्द १०)

१. "आछे आछे महीगे मडल कोई सूरो, मरूरा मनवा नैं समझावै रे लो ॥
देवताने दाणवइणैं ननवै व्यापा, मारूहा मनवा नै कोई ल्यावै रे लो ॥
जोति देषि देषि पड़ै रे पतंगा, नादै लीन कुरंगा रे लो ॥
इहि रस लुबधी मैंगल मातौ, स्वाद पुरिष तैं भौगा रे लो ॥
घड़ि एक मनवो जती रे सन्यासी, घड़ि एक मैंगल मातो रे लो ॥
घड़ि एक मनवो उनथ गोपिलो, घड़ि एक बिषिया रातो रे लो ॥

जगन्नाथ[1] (-दास), परसराम, *भीषम (भीषजन), प्रथीनाथ, मापिया, *फरीद (-दा), अमरदास, षेम (-दास), दीप (-दास), भीष (-दास), गरीबदास, नरसी, ऊँमल, हणवन्त[2], *तिलोचन, साँवलिया, बोहिथदास, मंगल (जन-), तिलोक (-जन), देवल, बीझल, गोविन्ददास, अनन्तमाथुर, नागर, नारायणदास, *बेणी (-दास), अमदास, मारण, कील्हकरण, बहबलदास, हरिसिंघराम (माली), संतदास, *रामानन्द[3], नन्द[4] (?), जगजीवनदास, सुखानन्द[5],

इन्द्री बाध्या जोगी जती रे न होइया, जब लग मनवो न बाध रे लो ॥
समुद्र नी लंघ्या पार पाइए मनवा नहीं, हृदया पार न पाइए रे लो ॥
आदि नाथ नाती मछिंदनाथ पूता, सति कणेरी इमि बोल्या रे लो ॥"

[मनकौ०]

१. यह भी दादूपंथी थे और कदाचित् रज्जबके समकालीन थे। सर्वंगीकी तरह इनका भी एक संग्रह 'गुणगंज नामा' [अप्रकाशित] के नामसे प्रसिद्ध है।

२. "तत ऐसा लो तत ऐसा लो, क्यूँ करि कथों गम्भीरं।
निराकार आकार विवर्जित, संत भाषत हणवंत वीरं ॥
दिष्टि न मुष्टी अगम अगोचर, पुस्तग लिख्यों न जाई।
जिनि जान्या सोई पै जानै, कथियाँ को न पत्याई ॥
बाहरि कहौं त सतगुर लाजै, भीतरि कहूँ त झूठा।
बाहरि भीतरि सकल निरन्तर, सतगुर सबदों दीठा ॥
मीन चलै जल मारग न जावै, नाद रूप बरण वैसा।
पुहुप बासना कछू न दरसै, परम तत है ऐसा ॥
आकासा उड़ि चलै विहंगम, पछै षोज न दरसै।
बालजती हणवन्त या भाषै, विरला हरि पद परसै ॥" [बेलो०कौ०]

यह पद भी थोड़े हेर-फेरके साथ कबीरके नामपर मिलता है [शब्दावली] बेल वेडियर प्रेस, शब्द २८।

३. "कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग" से आरम्भ होनेवाला पद जो गुरुग्रंथ साहबमें भी है।

४. "देखो रे वह कैसा जोगी।
जेणों ठाइ जन मीरा, तेणों ठाइ भोगी ॥
धापचा रूप धराइला वेणूँ, माऊचा सुप भागवा लागी।
साठोली निरिया स लोन मट, मावस संगे माळीला पट ॥
भोगी नत्या मीत्या गौन मोनी, वा लया नन्द ते थ सहजे जोगी ॥" [विवेकौ०]

५. "कोइ राम रसिक रस पीयहुगे" से आरम्भ होनेवाला बीजकका बीसवां शब्द सर्वंगीमें स्वामी सुखानन्दके नामपर दिया हुआ है।

वाजीद (अन्य—: वाजीदा), सीहा, हरी, श्रीपति, विष्णुदास, शेष तथा रज्जब। तारिकाओंसे चिह्नित कवियोंकी रचनाएँ गुरुग्रंथ साहबमें भी मिलती हैं।

कुछ साखियाँ तथा पद ऐसे भी हैं जिनमें किसीका नाम नहीं आता। उनमेंसे अधिकांश तो स्वयं रज्जबके ही ज्ञात होते हैं, फिर भी कुछ ऐसे बच जाते हैं जिनके रचयिताओंका ठीक पता नहीं लगता। इसमें उनके समकालीन प्रतिष्ठित कवि सुन्दरदासजीकी रचनाओंका न मिलना बड़ा रहस्यमय लगता है।

पोथीमें किस कविकी वाणी कितने परिमाणमें उद्धृत है, इसकी निश्चित संख्या इस लेखमें नहीं दी जा सकती। हाँ, कबीरके कुल ३३२ साखियाँ तथा पद (दोनों मिलाकर) इसमें संगृहीत हैं। कुछ ऐसे भी संत हैं जिनके केवल दो-चार पद ही आ सके हैं।

सिद्धों तथा सन्तोंकी वाणीके अतिरिक्त प्रसंगानुसार यत्र-तत्र संस्कृत और फारसीके श्लोक तथा बैत[1] भी उद्धृत हैं, किन्तु उनकी भाषा बड़ी भ्रष्ट है। ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि ये अशुद्धियाँ मूल प्रतिसे ही चली आ रही हैं अथवा लिपिकर्ताओंकी कृपाके फल-स्वरूप हैं। जो भी हो, इससे रज्जबजीके व्यापक अध्ययन तथा सूक्ष्म निरीक्षणका पूरा प्रमाण मिल जाता है। संस्कृतके उद्धरण, भर्तृहरिके 'वैराग्य शतक', शंकराचार्यकी 'चर्पटपंजरिका', मनुस्मृति तथा भागवत आदिसे और फारसीके मौलाना रूम, मनसूर, खुसरो तथा शेखसादी आदिकी रचनाओंसे दिये गए हैं।

सर्वंगीमें उद्धृत कुछ फुटकर स्तोत्र तथा मन्त्र इत्यादि भी महत्वपूर्ण हैं। उनसे विभिन्न सम्प्रदाय तथा कालकी विचारधाराओंपर काफी प्रकाश पड़ता है। जीवनी सम्बन्धी कुछ फुटकर बातें भी यत्र-तत्र मिल जाती हैं।

सर्वंगीका संकलन कदाचित् 'सर्व अंग' तथा 'सर्व सन्त' दोनोंको ध्यानमें रखकर किया गया है।

यद्यपि कई अंग[2] ऐसे हैं—जिनमें केवल रज्जबकी ही रचनाएँ मिलती हैं

---

१. उदाहरणके लिए केवल एक बैत यहाँ उद्धृत किया जाता है जो शेख सादीका ज्ञात होता है—

"ऐ मुर्गे सहर इश्क जि परवाना बियामोज।
का सोख्ता राजा शुदो आवाज नियामद॥"

अर्थात् ऐ सुबहकी चिड़िया [तू इतना शोरगुल मचाकर क्या इश्क दिखाती है?] तू इश्क पतिंगेसे सीख कि उस जलनेवालेकी जान चली गई लेकिन [मुँहसे] आवाज तक न निकली! [जलनेकी वेदनामें उसके मुँहसे कराह भी न निकली।]

२. अंग सं० १३, १४, १९, ३३, ३६, ५२, ५७, ७३, ७९, ८०, ८३, ८४, ८७, ९९,-

और 'सर्वंगी' का शाब्दिक अर्थ भी अंगोंकी ही प्रधानताकी ओर संकेत करता है, किन्तु वास्तवमें सर्वंगीको कई पुष्पोंसे संचित मधुभण्डारके समान कई महात्माओंकी वाणीके सार संकलनका रूप देनेकी बात सदैव कविके मस्तिष्कमें गूँजती रही, जैसा कि आरम्भमें ही उन्होंने कह दिया है—

> "सुरति सुक्ति मधि नीपजै; सबद मुक्त सु अमोल।
> रज्जब माला मोहनी, गोविन्द ग्रीवा जोग ॥३॥
> विविध बोध बन बीन करि, आणे सबद सुघाट।
> रज्जब रचा जिहाज जग, निपम वारि पर बाट ॥५॥
> तत्वबेत्ता तरवर भले, मन मधु आन्या छानि।
> सर्वङ्गी मान् महत, प्राण पुष्ट रसखानि ॥६॥"
>
> [अस्तुति कौ अंग]

और वास्तवमें रज्जब अपने इस उद्देश्यमें पूर्णतया सफल हुए हैं।

सर्वङ्गीमें कुल २६९१ साखियाँ, ८९० पद, १७१ श्लोक तथा ७२ बैत हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कवित्त और अरिल भी हैं। इतने बड़े साहित्य का मंथन करके उसे इतने व्यवस्थित रूप में सजाना मामूली काम नहीं है। साथ ही इसमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सांप्रदायिकता तथा संकीर्णता की बू तक नहीं फटकने पाई है। अपने-पराये का कोई विचार नहीं, निरगुन-सगुन का कोई भेद-भाव नहीं, पथापंथीकी कोई विद्वेष-भावना नहीं - बड़ी ही व्यापक दृष्टिसे सर्वंगीका संकलन किया गया है। इतना अवश्य है कि गिनती के लिए सबसे अधिक वाणियाँ रज्जबने अपने गुरुकी और अपनी ही दी हैं, किन्तु इससे उसकी व्यापकतामें कोई आघात नहीं पहुँचता। इसमें सर्वत्र गोरख, कबीर, नामदेव नानक, रैदास आदि सम्मान्य सन्तोंको सदैव प्रमुख स्थान देकर तब अन्तमें अपने पथकी रचनाओंको स्थान दिया गया है जो उनकी सासम्प्रदायिक सहिष्णुताका पुष्ट प्रमाण है।

हाँ, बीसवीं सदीके पाठकको एक बात मुख्य रूपमें खटकने वाली है। वह यह कि इसमें स्त्री-कवियों का एक भी पंक्ति कहीं उद्धृत नहीं की गई है। यद्यपि रज्जबजीके पूर्व नारी जगत्में कई महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हो चुके थे। उनके प्रदेशकी ही मीरां उनसे पहले की थीं (मृ० सं० १६०३वि०[१]), किन्तु

१०२'१०३'१०४,१०५,, १०७, १०८, १०९, ११७, ११८, १२८ से १३८ तक अर्थात् कुल २४ अग ऐसे हैं जिन्हें रज्जबने केवल अपनी रचनाओंसे पूरा किया है।

१. बड़थ्वाल, योगप्रवाह, पृ० १३६।

परशुराम चतुर्वेदी, मीरांबाईकी पदावली, परिशिष्ट, पृ० ८८ पुरो० हरिनारायण, सतवाणी, वर्ष १, अंक ११, पृ० २१।

उनकी वाणी इसमें नहीं मिलती। सब तरह के ऊच-नीच का बंधन तोड़ने वाले संतों के लिए भी नारी 'पापणी माया' ही बनी रही।

सर्बंगीका अध्ययन कई दृष्टियोंसे उपयोगी सिद्ध होगा। संतों तथा नाथ-योगियोंका पाठ-निर्णय करनेमें तथा उनकी विचार धाराओंका परंपरा-गत सूत्र समझनेमें विशेष रूपसे सहायता मिलती है। किसी भी अंग (विषय) विशेष पर गोरखनाथ से लेकर रज्जब तक के समस्त प्रमुख महात्माओं के विचार एक स्थानपर मिल जाते हैं, जिससे इस बातका अनुमान बड़ी सरलतासे लग जाता है कि योगियों तथा संतोंमें निर्गुण तथा सगुण भक्तोंमें कितनी बातें एक सी थीं और उनका क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ। सर्बंगीमें दरह हुए सभी कवियोंका कालक्रम निर्धारित करना तथा इसके आधारपर उनकी सम्पूर्ण रचनाओंका पता लगाना सन्त-साहित्यके लिए महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा। उदाहरणके लिए कबीरके जो अनेक पद सर्बंगीमें दूसरे सन्तोंके नामपर मिलते हैं [जिनमेंसे कुछका निर्देश पीछे किया गया है] उनसे उनकी रचनाओंकी पाठसमस्यापर नया प्रकाश पड़ता है।

गुरुग्रन्थसाहबका संकलन सं० १६६१ वि०में हुआ था। उस समय तक रज्जब जीकी अवस्था लगभग ३७ वर्षकी रही होगी। इससे एक वर्ष पूर्व ही सं० १६६० में उनके गुरुकी मृत्यु हुई थी। असंभव नहीं कि इसी समयके लगभग उन्होंने भी सर्बंगीका संकलन आरंभ कर दिया हो। ऐसा माननेमें कोई कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती। यदि यह बात ठीक हो तो इसका महत्व और भी बढ़ जायगा। यदि ऐसा न हो तो भी दोनों संग्रह ग्रन्थों के बीच अधिक से अधिक ५०-६० वर्ष का अन्तर माना जा सकता है, जो बहुत नहीं है।

सर्बंगीकी प्रतियां राजस्थानमें और भी कई स्थानों पर हैं, और संभव है, उनमेंसे कुछ काफी प्राचीन भी निकल आवें। अच्छी संस्थाओं (विश्व-विद्यालयोंकी हिंदी संस्थाओं, ना० प्र० सभा, हिंदुस्तानी एकेडेमी आदि) को चाहिये कि सभी प्रतियोंका मिलान करवाकर वैज्ञानिक सिद्धांतोंके आधारपर इसका संपादन-कार्य अपने हाथमें लें। इसका प्रकाशन निस्संदेह बड़ा ही उपयोगी होगा।

सर्बंगीकी उक्त प्रतियाँ मुझे दादूमहाविद्यालय जयपुरके श्रद्धेय स्वामी मंगलदासजी द्वारा देखनेको प्राप्त हुई थीं अतः मैं उनका आभारी हूँ।—लेखक

कपिल मुनि

[कहानी]

श्री जमनालाल जैन, साहित्यरत्न

कपिलके पिताका देहान्त, जब वह छोटा था, तभी हो गया था। अब कपिल मांकी देखरेखमें पल रहा था।

एक दिन घरके सामनेवाले रास्तेसे एक मनुष्यको ठाट बाट और अकड़से जाते देखकर मां रोने लगी। जाते हुये आदमीके वैभव और ठाट बाटको देख कर अड़ोस-पड़ोसके लोग बड़े प्रसन्न मालूम हो रहे थे, बच्चे भी हँस रहे थे। लेकिन कपिलने जब देखा कि उसकी मां रो रही है तो उसका बालहृदय भी खिन्न हो गया। उसने निकट आकर मासे पूछा–

"मां, आज तुम क्यों रो रही हो?"

"कुछ नहीं बेटा!"

"नहीं, कुछ तो है। क्या कोई दर्द हो गया है। बोलो क्या हुआ है तुझे?"

"नहीं बेटा, मुझे कुछ नहीं हुआ, तू जाकर खेल।"

"नहीं, मैं नहीं खेलूँगा। मेरी प्यारी मां रोये और मैं खेलूँ।"

"तू अभी बच्चा है। नादान है। नहीं समझेगा बेटा, हठ मत कर।"

"नहीं मां अगर तू मुझे अपनी बात नहीं बताएगी, तो फिर किसे बताएगी!"

आखिर जब कपिलने आग्रह नहीं छोड़ा तब मांने कहा–

"बेटा, अभी जो आदमी इस रास्तेसे गए हैं वे यहाँके राजपुरोहित हैं।"

"हाँ हाँ, हैं तो।"

मांने कहा–तेरे पिताजी भी राजपुरोहित थे। पर उनका स्वर्गवास हो जानेसे इनकी उस पद पर नियुक्ति हो गई है। पहले अपने यहाँ भी ऐसा ही वैभव था। आज मुझे यह सब देखकर इसी बातका दुःख हो रहा है कि यदि तू थोड़ा लिख पढ़ जाता तो यह पद तुझे ही मिलता। लेकिन दुर्भाग्य मेरा कि ......आगे उसका गला रूँध गया।

"तो क्या मां, यह पद अब नहीं मिल सकता?"

"मिल क्यों नहीं सकता बेटा, परन्तु इसके लिये योग्यता चाहिये।"

"तो मुझे पढ़ाया क्यों नहीं?"

" तुम्हारा कहना ठीक है बेटा। जो पढ़ाना चाहते थे वे तो अब उत्तर दे नहीं सकते। लाड़ प्यार करने वाली तुम्हारे आगे रो रही है।"

तो क्या अब मैं नहीं पढ़ सकता ? अपने पिताका पद तो लेना ही चाहिये ? मां विचारमें पड़ गई। आखिर उसने खूब सोच विचार कर कपिलसे कहा—

" एक उपाय है।"

" क्या माँ ?"

" तुम्हारे पिताजीके घनिष्ठ मित्र पं० इन्द्रदत्त शर्मा श्रावस्तीमें रहते हैं। अगर तू उनसे मिले और पढ़नेमें पूरा मन लगाया तो वे तुझे योग्य बना सकते हैं।

श्रावस्ती न "हां हां मैं जरूर जाऊँगा मां।" कपिल श्रावस्ती चला गया।

पण्डित इन्द्रदत्त शर्मा सच्चे अर्थोंमें अकिंचन और निस्पृह विद्वान् थे। कपिलको पढ़ानेमें उन्हें प्रसन्नता थी, लेकिन भोजनकी व्यवस्था उनके यहाँ नहीं हो सकती थी। नगरके धार्मिक सेठ शालिभद्रके यहाँ कपिलके रहने तथा भोजनकी व्यवस्था पण्डितजीके कहनेसे हो गई। कपिलका विद्याध्ययन चालू हो गया।

शालिभद्र सेठने कपिलको एक कमरा दे दिया और भोजन आदिकी व्यवस्था एक दासीको सौंप दी। दासी कपिलकी आज्ञामें रहने लगी और उसके भोजन, स्नान आदिकी व्यवस्था करती। वह जितनी सेवापरायण और चतुर थी उतनी ही सुन्दरी थी। उसका नाम था सुनन्दा।

कपिल भी तरुणाईकी देहलीऊपर पैर रख चुका था। रात-दिन दासीके सम्पर्क और बोलचालमें दोनोंके हृदयोंमें एक प्रकारकी मीठी गुदगुदीका संस्पर्श होने लगा। मुस्कान और आँखोंसे सांकेतिक और विनोदपूर्ण बातचीत भी हो जाती। क्रमशः दोनों अभिन्नसे हो गए।

अब सुनन्दा बहुत ही खिन्न रहने लगी। कपिलसे यह खिन्नता छिपी न रह सकी। उसने कारण पूछा—

"कल त्यौहार है। दूसरी बहुतसी स्त्रियाँ उद्यानमें आनन्दोत्सव मनाने जायेंगी। सब समुचित शृङ्गार किये जायेंगी। मेरे पास वस्त्रादि तो है, लेकिन फूलादि खरीदनेके लिए नगद रुपये नहीं हैं।" सुनन्दाने कहा। कपिल भौंह चढ़ाकर सोचने लगा। बोला :—

"प्रिये तुम्हारा कहना तो ठीक है लेकिन मेरे पास तो रुपया नहीं है।"

'यह तो मैं भी समझती थी।"

"तो फिर कुछ उपाय सुझाओ।"

"एक उपाय तो है लेकिन क्या आप वैसा करेंगे ?"

"हां, हां, क्यों नहीं? तुम्हारी खुशीके लिए मैं सब कुछ करूँगा, तुम कहो भी तो।"

"तो देखिए, इस नगरमें धन नामक सेठ रहता है। प्रातःकाल मंगल वचनों द्वारा जगानेवालेको वह दो सुवर्णमुद्राएँ प्रदान किया करता है। यदि आप प्रातःकाल शीघ्र उठकर ऐसा कर सकें तो मेरी मनोकामना पूरी हो सकती है।

कपिलको अपने प्रातःजागरणपर विश्वास नहीं था दासीको प्रसन्न करनेकी उत्कण्ठा इतनी तीव्र हो रही थी कि अर्धरात्रिमें ही घरसे निकल पड़ा।

घनघोर अन्धकारपूर्ण रात्रिमें नगरप्रहरियोंने कपिलको चोर समझकर पकड़ लिया, उसने बहुत कुछ कहा कि वह चोर नहीं है, बल्कि ब्राह्मण विद्यार्थी है। परन्तु प्रहरियोंने उसकी एक बात न मानी। वे उसे पकड़कर ले गए।

दूसरे दिन उसे राजाके सामने खड़ा किया गया। राजाने उसे अच्छी तरह देखकर सोचा कि प्रकृतिसे चोर या बदमाश तो यह नहीं जँचता, न ऐसी कोई आपत्तिजनक सामग्री ही इसके पास दिखाई देती है। अन्तमें राजाने उसे अपनी सफाई देनेके लिए कहा।

कपिल संकोचके मारे गड़ा जा रहा था उसे समझ ही नहीं पड़ रहा था कि वह पकड़ा क्यों गया है। उसने राजासे अपनी सत्य हकीकत कह सुनाई।

राजा इस सत्य कथनपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रकट रूपमें कहा—'द्विजवर, तुम्हारी सत्यनिष्ठासे मैं बहुत प्रसन्न हूं। मुझे खेद है कि प्रहरियोंने तुम जैसे निर्दोषको पकड़ लिया।

नहीं महाराज, इसमें प्रहरियोंका कोई दोष नहीं है। उन लोगोंने तो अपने कर्तव्यका पालन किया है। आपकी कृपाके लिए अनुगृहीत हूँ।

कपिलकी इस विनय-शीलतासे राजा गद्‌गद हो उठा। उन्होंने हृदयसे उमड़ती हुई ममताके स्वरमें कहा—

"द्विजवर, आपकी जो इच्छा हो मांग लीजिए। आपके लिए......।"

"राजन्......"कपिल दिङ्मूढ सा हो गया। राजाने बीचमें रोककर कहा—"नहीं द्विजवर, इसमें संकोचकी कोई बात नहीं है। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है?"

"राजन् इसका उत्तर" कपिलने जरा सोच और सँभलकर कहा, "मैं कल दे सकूंगा।"

इधर सुनन्दा चिन्तित होकर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी, और कपिलको पकड़ जाना, उत्सवको भूल चुकी थी।

कपिल घर लौटते हुए तरह तरहके विचार करने लगा। क्षणभर राजासे

माँगनेका विचार करता तो दूसरे क्षण दासीकी इच्छा उसके विचारको ठोकर मारने लगती। इस तरह दो विचार धाराओंके बीच अपनेको उलझाकर वह कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहा था कि वह क्या करे ? एक ओर राजा चाहे जो देनेको तैयार है लेकिन अभी तो दासीको देनेके लिए पासमें कौड़ी भी नहीं है। तृष्णाकी असीमता और अभावकी निस्सीमताका एक मानसिक द्वन्द्व बड़ा विलक्षण था। प्रसन्नता और खिन्नताका अजीब सम्मिश्रण उसके मुखपर दिखाई दे रहा था।

घर पहुंचनेपर उसकी खिन्नता जाती रही। सुनन्दाने स्थितिको और अटिल बनानेकी मूर्खता नहीं की। कपिलने सारी घटना सुनानेके बाद उससे कहा—

"राजा मेरी सत्यप्रियतासे गद्गद होकर इच्छानुसार मांगनेके लिए कह रहे हैं। कहो क्या मांगा जाय ?"

"तो फिर सौ मुद्राएँ मांग लीजिए।"

"बस, इससे क्या होनेवाला है। यह तो थोड़े ही दिनोंमें समाप्त हो जायेंगी, फिर क्या करेंगे ? इससे तो और ज्यादा दुख होगा।"

"तो, तो फिर हजार माँग लीजिए न। इतनेसे जिन्दगी तो सुखसे कट जायगी।"

"यह तो ठीक है, लेकिन इतनेसे ऐश्वर्य तो नहीं भोगा जा सकेगा। आगे सन्तान भी तो होनेवाली है। हजार मुद्राएँ तो बढ़ते हुए गृहस्थ जीवनके लिए बिलकुल अपूर्ण होंगी।"

"तो इससे तो यही अच्छा है कि एक लाख मुद्राएँ माँग ली जाएँ ताकि ऐश्वर्य भी भोग सकेंगे और सन्तान भी सुखी हो जायेगी।"

"लेकिन इससे क्या ! राजा बार-बार तो दान देनेवाला नहीं है। जबतक स्थायी आमदनी नहीं होती तबतक कैसे चल सकेगा। ऐश्वर्यका प्रवाह इन मुद्राओंको तो जल्दी ही बहा देगा। इसलिए मुझे तो लगता है कि आधा राज्य ही माँग लूँ।"

"हाँ हाँ, ठीक तो है पर क्या राजा आधा राज्य तुम्हें दे देगा ?"

"क्यों नहीं वह मुझपर प्रसन्न जो है। लेकिन नहीं, एक डर भी तो है।"

"सो क्या ?"

"अरे, कहीं राजाके लड़केने मुझसे यह आधा राज्य छीन लिया तो ?"

"तो फिर क्या करोगे ?"

"मुझे तो लगता है कि पूरा ही राज्य माँग लिया जाय।" क्यों ठीक रहेगा न ? सुनन्दा मनही मन मुसकाती रही।

× × ×

यह दूसरा प्रभात,

रात्रिके आवरणको चीरकर प्रकाशने ज्यारी अपने स्फूर्तिमय पंख जगत्के विस्तृत आँगनपर फैलाए, त्योंही कपिलके विचारोंने भी नये दृष्टिकोणमें प्रवेश किया। आज उसका हृदय अपूर्व प्रसन्नतासे आलोकित हो उठा। अपनी स्थिति और कलके निश्चयपर जब वह सोचने लगा तो उसे लगा कि वह क्यासे क्या बनने जा रहा था? और क्या बनने जा रहा है। उसने अपनी प्रेयसीको बुलाया और कहा :–

"देखो जी, आज मैं राजा बनने जा रहा हूँ, तुम घबराओगी तो नहीं?"

"तुम राजा बनोगे तो मैं रानी जो बनूँगी–घबराना कैसा?"

"अरे, तुम समझती तो नहीं। राजाकी जिम्मेदारी और संकट कम नहीं होते। उन्हें सहोगी न?"

"हाँ, हाँ, सहूँगी।"

उसे समझती न देख वह चुप रहा और समय होनेपर राज्य दरबारमें उपस्थित हो गया। राजाने देखते ही आदरके साथ कहा :–

"आओ द्विजवर, कहो क्या इच्छा है?"

"राजन्, आपके मंगल आशीर्वादके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

"हैं, यह क्या कर रहे हैं आप? आप संकोच क्यों करते हैं द्विजवर, जो भी इच्छा हो निःसंकोच होकर माँग लीजिए।"

'नहीं राजन्, मेरी कोई इच्छा नहीं है।'

"क्यों क्या बात है? आप तो रहस्यपूर्ण बातें कर रहे हैं।"

"सच है राजन्" कपिलने कहा। आदमीकी तृष्णाका कोई पार नहीं है। कल आपके यहांसे लौटने पर मांगनेकी तृष्णा बढ़ते बढ़ते इतनी बढ़ गई कि आपका पूरा राज्य ही मांग लिया जाय। लेकिन जब मैंने वस्तुस्थितिका विचार किया तो मेरा हृदय लज्जासे गल गया। मैं केवल दो मुद्राओंके लिये घरसे निकला था लेकिन बिना कारण अपने आपको भावी चिन्ताओंमें बद्ध करके राज्य तक फैल गया। यह बुरी बात है। तृष्णाकी व्यापकता आदमीको नीचेकी गहराई तक धंसा देती है।'

" तो फिर कैसे चलेगा?'

" चलना-हलना क्या है। मैं तो अब तृष्णाके क्षुद्रातिक्षुद्र या तुच्छाति-तुच्छ अंशको भी अपने हृदयसे दूर करके निस्पृह या त्यागी जीवन बिताना चाहता हूँ। सच्ची शांति उसीमें है।'

द्विजवरके इन निश्चयात्मक शब्दोंको सुनकर राजाका हृदय श्रद्धासे झुक गया। अब कपिल मुनि हो गए–

एकदम निर्वसन एकाकी और तपस्वी।

जैनधर्म और सामाजिक संघटनकी शिक्षा

प्रो० वेणीमाधव शर्मा, काशी

इस युगमें ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित जैन धर्मने सामाजिक संघटनका विशिष्ट रूप महावीरके समयमें ग्रहण किया। ऋषभदेव तत्त्वचिंतक और उन महात्माओंमें थे जो अपनी जीवनकी अनुभूतियों द्वारा प्राप्त ज्ञानकी शिक्षा देते हैं। उनकी शिक्षाओंने सिद्धान्तका रूप अवश्य ग्रहण कर लिया था परन्तु उनकी व्यावहारिकता मुख्य रूपसे धार्मिक क्षेत्रतक ही सीमित थी। प्रारम्भमें उनने ही समाजका, शिक्षाका और राजनीतिका संघटन किया था। यद्यपि अहिंसा, सत्य, अचौर कर्म, शील और अपरिग्रह इन सामाजिक नियमोंका सीमित क्षेत्रमें ही पालन होता था और जीवनके परम लक्ष्य या मोक्षकी प्राप्ति करनेका प्रयत्न करने वाले इन नियमोंका उस समय दृढ़तासे पालन करते रहे हों; परन्तु संसारके सांसारिक बंधनोंसे संघर्ष करनेवाले इनको आदर्श सिद्धान्त ही समझते रहे। मनुष्यकी प्रवृत्तिपर उसका प्रभाव महावीरके जीवन-कालमें विशेष रूपसे हुआ। महावीर धर्माचार्य अथवा तत्त्वचिंतक तो थे ही परन्तु हम उनके विचारोंपर सामाजिक दृष्टिकोणसे विचार करेंगे। उनकी क्रियाशीलताका परिशीलन करेंगे जिसके कारण भारतीय समाजका सुन्दर संघटन हुआ था।

लोकतंत्र व्यवस्था और जनताके हिताहितकी बात सोचते समय हमारे सम्मुख विदेशी सिद्धान्तोंकी शृंखला आ खड़ी होती है। हमने अपने जीवनको पाश्चात्य संस्कृतिके बाह्याडंबरोंसे इस प्रकार आवृत कर लिया है कि हम अपने दृष्टिकोणपर सोचते ही नहीं। हमारा हृदय, हमारी बुद्धि निष्क्रिय हो गयी है। जैन ग्रन्थों तथा हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंका यदि उसी उत्साहसे अध्ययन किया जाय तो शिक्षा तथा समाजका संघटन बड़े सुचारु रूपसे हो सकता है। आजका समाज और शिक्षाशास्त्री वंशगत परम्पराओं तथा वातावरणको अधिक महत्त्व देता है। आस पासकी वस्तुओंका प्रभाव भी मानव जीवन और मनुष्य स्वभावपर पड़ता है। ये सिद्धान्त आधुनिक कालके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी देन समझे जाते हैं। लेकिन वास्तवमें यह बात नहीं है। भारतीय तत्त्वचिंतकोंने अथवा समाजशास्त्रियोंने इनकी प्रधानता बहुत पहले ही स्वीकार की थी। जैन धर्माचार्यने व्यक्तिगत तथा सामाजिक शिक्षा दोनोंका ही समन्वय किया था। व्यवहार तथा आचारकी शुद्धताके लिये यदि सत्य और अहिंसाकी आवश्यकता एक व्यक्तिको पड़ती थी तो समाजमें उचित ढंगसे कार्य करनेके लिये उसे परिग्रह करना पड़ता था। दूसरोंकी वस्तुको काष्ठवत् समझना पड़ता

था। सामाजिक जीवनमें व्यवस्था बनाये रखनेके लिए परिग्रह ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो उसमें शान्ति उत्पन्न कर सकता है। परिग्रहका अर्थ ही है ऐसी दुष्प्रवृत्तियोंका दमन करना जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवनको कलुषित कर देती हैं।

आ... समाज पतनके कगारेपर इसलिए खड़ा है क्योंकि उसने अपनी प्रवृत्तियोंपर अंकुश रखना सीखा ही नहीं है। सदाचार तथा दूसरेको किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना सामाजिक जीवनकी आधार शिला है। बाह्याचार और आडम्बरोंकी बात हम नहीं कर रहे हैं। अधिकतर हम धर्म तथा सामाजिक जीवनकी आत्माको भूलकर उसके बाह्य स्वरूपपर ही अधिक ज़ोर देने लगते हैं। यही बाह्याचार रूढ़िके रूपमें हमारे समाज तथा जीवनसे सम्बद्ध हो जाते हैं। महावीरने भी इन बाह्याचारोंको अधिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने समाज-संघटनके तत्त्वोंपर विशेष ध्यान दिया। श्रावक तथा साधु दो श्रेणीमें उस समयका समाज विभक्त किया गया। श्रावक गृहस्थ था। उसे जीवनके संघर्ष-में हर प्रकारका कार्य करना पड़ता था। उसे जीविकोपार्जनके साथ ही समाजके लिए उपयोगी कार्य करने पड़ते थे अतः उनके लिए ऐसे सिद्धान्तोंका क्रिया-त्मक रूप ही पालन करना पड़ता था जो व्यवहार्य थे। सिद्धान्तकी वास्तविकता क्रियात्मक जीवनमें ही चरितार्थ होती है।

मानव स्वभावकी विशेषताएँ सनातन हैं। वह कभी लुप्त नहीं होतीं। उपयोगी कार्योंके लिए उनका दमन भले ही किया जाय किन्तु उनके बिना समाजका कार्य भी नहीं चल सकता। श्रावकको समाजमें, अहिंसाका यदि पालन करना पड़ता था तो इसका यह अर्थ नहीं है कि विध्वंसात्मक शक्तियोंके दमनके लिए भी वे निष्क्रिय रहते थे। वे भी क्रोध, घृणाका उपयोग करते थे। अधिकतर सत् आचरण द्वारा दूसरोंकी प्रवृत्तियों को परिवर्तित करनेका यत्न किया जाता था लेकिन दमनके लिए अन्य साधनोंका भी उपयोग किया जाता था। श्रावकके लिए कुछ सामाजिक नियम थे। ये नियम उसके स्वभावकी विशेषताओंका ध्यान रखकर निर्मित किये गये थे। उदाहरणार्थ एक श्रावकको निम्नलिखित सामाजिक नियमोंका पालन करना पड़ता था :-स्थूलमृषावाद विरमण, स्थूलअदत्तादान विरमण, स्थूल मैथुन विरमण, स्थूल प्राणातिपात विरमण, परिग्रह परिमाण, दिग्व्रत, भोगोपभोग परिमाण, अनर्थ दण्ड विरति, सामायिक, देशावकाशिक, पोषध और अतिथि संविभाग।

जर्मन समाज तथा शिक्षाशास्त्री कर्मन स्टेनरने एक स्थानपर इन नियमों-की आलोचना करते हुए लिखा है कि इन नियमोंने जैनकालीन समाज व्यवस्थाको लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रदान किया था। इन सिद्धान्तोंकी सहा-

प्रजासे समाजकी राजनीतिका सम्बन्ध, व्यक्तिगत जीवनके उत्थान तथा उसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे सम्बद्ध था। इन आचार्योंने सम्यक् रूपसे जीवनमें समरसता और संतुलन उत्पन्न किया था। श्रावक इन नियमोंका सहृदयतासे पालन करते थे और वे व्यक्तिगत हितके साथ ही समाजके हितका भी ध्यान रखते थे। उस समयका साधुवर्ग आकांक्षारहित रहा हो यह बात नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओंको अत्यधिक सीमित रखता था। साधुवर्ग जीवनसंघर्षसे निर्लिप्त इस अर्थमें रह सकता है कि वह सामाजिक रागद्वेष और लाभालाभकी भावनासे परे हो। लेकिन वह समाजका संरक्षक था। उसका यह कर्तव्य था कि वह समाजके व्यक्तियोंपर ध्यान रखे और इस बातका विचार करता रहे कि उनके क्रियात्मक जीवनमें इन नियमोंका कहाँ तक पालन होता है। वह समाजके सम्मुख व्यक्तिगत स्वार्थ-त्यागका उदाहरण रखता था और श्रावकोंको समाजके हितके लिए अपने छोटे-छोटे स्वार्थोंकी बलि देनेकी शिक्षा देता था।

इन सिद्धान्तोंके पालन होनेके कारण समाजका नैतिक स्तर ऊँचा था। सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती थी अतः अभावजन्य प्रवृत्तियोंका यदा-कदा ही आभास मिलता था। समाजकी शिक्षाका आधार वृत्ति-वर्ग-विभागके आधारपर था अतः समाजके शिशुओं और युवकोंके लिये भी उपयुक्त वातावरण प्राप्त हो जाता था। युवक अपने अभिभावक और वृत्तिशिक्षाके साथ व्याव-हारिक शिक्षा प्राप्त करता था और समय समय पर उसे धार्मिक सिद्धान्तोंकी भी शिक्षा मिलती रहती थी।

धर्माचार्य महावीरने समाजशास्त्रीके रूपमें इन सिद्धान्तोंको वास्तविक जीवनसे सम्बद्ध किया। यही कारण है कि जैन धर्मकी क्रियात्मकता उनके समयमें अत्यन्त व्यापक हुई। उन्होंने अपनी शिक्षाद्वारा नैतिक अहिंसाकी शिक्षा दी थी साथ ही उसे जीवनमें चरितार्थ किया था। इस कारण वे ही जैन धर्मके प्रवर्तकके रूपमें समाजमें प्रसिद्ध हैं। समाज तो उन व्यक्तियोंको ही प्रधानता देता है जो धार्मिक अथवा किसी प्रकारके सिद्धान्तोंको क्रियात्मक रूप प्रदान करते हैं। यही बात महावीरके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

समाज संघटनकी शिक्षाके मूलाधार हमें जैन-धर्मके अनेक सिद्धान्तोंसे प्राप्त हो सकते हैं। उन सिद्धान्तोंका क्रियात्मक रूपसे प्रयोग हुआ था अतः हमें उनके क्रियात्मक जीवनकी कमियोंका भी पता चल सकता है। उन दुर्बलताओंसे शिक्षा ग्रहण करते हुए हम नवीन समाजका संघटन कर सकते हैं। ऐसे सामाजिक संघटनोंमें भारतीयता है और साथ ही भारतीय संस्कृतिका गौरव भी।

हरिजन मन्दिर प्रवेशके सम्बन्धमें मेरा स्पष्टीकरण

पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

जबसे हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा चली, कुछ लोगोंने अपने स्वभाव या पक्ष-विशेषकी प्रेरणासे हरिजन मन्दिर प्रवेशके विधि-निषेधसाधक आन्दोलनोंको उचित अनुचित प्रोत्साहन दिया। कुछ लोगोंको जिन्हें आगमके अनुकूल किन्तु अपनी यशोलिप्साके प्रतिकूल विचार सुझाई दिये उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि—वर्णीजी हरिजन मन्दिर प्रवेशके पक्षपाती हैं। इतना ही नहीं दलविशेष और पक्षविशेषका आश्रय लेकर अपनी स्वार्थ साधनाके लिए जहाँ तहाँ आगम प्रमाण भी उपस्थित करते हुए मेरे प्रति भी जो कुछ मनमें आया ऊटपटांग कह डाला। इसमें मुझे ज़रा भी रोष नहीं परन्तु उन सम्भ्रान्त जनोंके निरा-करणके लिये स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि इसमें न तो पक्षपाती बननेकी इच्छा है न विरोधी बननेकी, परन्तु आत्माकी प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि जो मनमें हो सो वचनोंसे कहो, यदि नहीं कह सकते तब तुमने अबतक धर्मका मर्म ही नहीं समझा। माया, छल, कपट, वाक्‌प्रपंच आदि वञ्चकताके इन्हीं रूपान्तरोंके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है इस विषयमें कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार—

अनन्तानन्त आत्माएँ हैं परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं एक ही है। भगवान् उमास्वामीने जीवका लक्षण उपयोग कहा है, भेद अवस्थाप्रयुक्त हैं, अवस्थाएँ परिवर्तनशीला हैं। एक दिन जो बालक थे अवस्था परिवर्तन होते होते आज वृद्ध अवस्थाको प्राप्त हो गये। यह तो शारीरिक परिवर्तन हुआ। आत्मामें भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था जो दिनमें दस बार पानी और पाँच बार भोजन करते भी संतोष न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर संतोष करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलने पर पदार्थोंमें तदनुसार परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते हैं उनकी पूर्वावस्था (वर्णव्यवस्था प्रारम्भ होनेके समय) को सोचिये और आजकी अवस्थासे तुलना [illegible]

कीजिये। उस अवस्था से इस अवस्था तक पहुँचनेके कारणोंका यदि विश्लेषण किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि बहुसंख्यक वर्गकी तुलनामें उन्हें उनके उत्थ समाधक अनुकूल कारण नहीं मिले, प्रतिकूल परिस्थितियोंने उन्हें बाध्य किया। फलतः ६० प्रतिशत हिन्दू जनताके २०, २५ प्रतिशत इस जातिको विवश यह दुर्दिन देखनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उनकी सामाजिक राजनैतिक आर्थिक एवं धार्मिक सभी समस्याएँ जटिल होती गईं। उनकी दयनीय दशा पर कुछ सुधारकोंको तरस आया। गांधीजीने उनके उद्धारकी सफल योजना सक्रिय की, क्योंकि उनकी समझमें यह अच्छी तरह आ चुका था कि यदि उनको अनुकूल साधन मिलें, उत्तम समागम मिले तो वे सुधर सकते हैं। यदि उन्हें सहारा न दिया गया तो कितने ही सुधार हों कितने ही धर्म प्रचार हों, राष्ट्रीयताका यह काला कलंक धुल न सकेगा। वे सदाके लिये हरिजन (जिनके लिये केवल हरिका सहारा हो और सब सहारोंके लिये असहाय हों) ही रह जावेंगे। यही कारण था हरिजनोंके उद्धारके लिए गांधीजीने अपनी सत्साधुता का उपयोग किया। विश्वके साधु सन्तोंने जोरदार शब्दोंमें आग्रह किया कि धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं। यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने हरिजन उद्धारके लिये सब कुछ त्याग किया, सब कुछ कार्य किया, दूसरोंको भी ऐसा ही करनेका उपदेश दिया। हमारे आगममें गृद्धपक्षीको व्रती लिखा है उसका मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होना भी लिखा है। यह नहीं श्री रामचन्द्रजीका मृतभ्रातृस्नेह दूर करनेमें उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युगमें हरिजनोंका उद्धार एक स्थितिकरण कहा जा सकता है। धर्म तो हमारा पतितपावन है, यदि हरिजन पतित ही हैं तो हमारा विश्वास है कि जिस जैनधर्मके प्रबल प्रतापसे यमपाल चाण्डाल जैसे सद्‌गतिके पात्र हो गये उससे इन हरिजनोंका उद्धार हो जाना कठिन कार्य नहीं है।

वैश्य कौन, शूद्र कौन ?

'जैन दर्शन'के सम्पादकने मेरे लेखपर शूद्रोंके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। आगम प्रमाण भी दिये हैं। अस्तु आगमकी बातको तो मैं सादर स्वीकार करता हूँ परन्तु आगमका अर्थ जो आप लगावें वही ठीक है यह कैसे कहा जा सकता है ? श्री १०८ कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहां तक लिखा है—

'तं एयत्तविहत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥"

इस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज विभवसे दिखलाता हूं।

जो मैं दिखलाऊं तो उसे प्रमाण (स्वीकार) करना। और जो कहींपर चूकभूल जाऊं तो छल नहीं ग्रहण करना।

आगममें लिखा है जो अस्पर्श शूद्रसे स्पर्श हो जावे तब स्नान करना चाहिये। अस्पर्श क्या अस्पर्श जातिमें पैदा होनेसे ही हो जाता है तब तीन वर्णोंमें (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) पैदा होनेसे सभीको उत्तम हो जाना चाहिये? परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम जातिवाला निंद्य काम करता है तब वह चाण्डाल गिना जाता है। उससे लोग घृणा करते हैं। गांधी-जीके हत्यारे गोडसेका उदाहरण नया ही है। घृणाकी तो बात ठीक ही है लोग उसे पंक्तिभोजन आदि सामाजिक कार्योंमें सम्मिलित नहीं करते। जो मनुष्य नीच जातिमें उत्पन्न होता है परन्तु यदि वह धर्मको अङ्गीकार कर लेता है तो वह सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, उसे प्रमाणित व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहाँके मनुष्योंकी बात है, किन्तु जहाँ न तो कोई उपदेष्टा है और न मनुष्योंका सद्भाव है ऐसे स्वयम्भूरमण द्वीप और समुद्रमें असंख्यात तिर्यञ्च मछली मगर तथा अन्य स्थलचर जीव व्रती होकर स्वर्गको प्राप्त होते हैं, तब कर्मभूमिके मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पालें तब आप क्या रोक सकते हैं? आप हिन्दू बनिये यह कौन कहता है परन्तु हिन्दू जो उच्च कुलवाले हैं वे यदि मुनि बन जावें तब उन्हें क्या आपत्ति है? हिन्दू शब्दका अर्थ मेरी समझमें धर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता जैसे भारतका रहने वाला भारतीय कहलाता है इसी तरह देश विशेषकी अपेक्षा यह नाम पड़ा प्रतीत होता है। जन्मसे मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं किंतु जिनको जैसा सम्बन्ध मिला उसी तरह उनका परिणाम हो जाता है। भगवान् आदिनाथके समय तीन वर्ण थे, भरतने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की यह आदिपुराणसे विदित है। इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णोंमेंसे ही ब्राह्मण हुए। मूलमें तीन वर्ण कहाँसे आये? विशेष ऊहापोहसे न तो आप ही अपनेको वैश्य सिद्ध कर सकते हैं और शूद्र कौन थे यह निर्णय भी दे सकते हैं।

शूद्रोंके प्रति कृतज्ञ बनिये—

'जैनदर्शन'के सम्पादकने आगे लिखा कि "आचार्य महाराज दयालु हैं" तब क्या यह शूद्र उनका दयाके पात्र नहीं हैं? लोग अपनी त्रुटिको नहीं देखते। लोगोंका जो उपकार शूद्रोंसे होता है अन्यसे नहीं होता। यदि वे एक दिनको भी मार्ग, कूड़ाघर, शौचगृह आदि स्वच्छ करना बन्द कर दें तब पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि उसका वर्णन किया जाय तो प्रमाद पक पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप

पंक्तिभोजनमें सब अच्छा-अच्छा माल अपने उदरमें स्वाहा कर लेते हैं, और उच्छिष्ट पानीसे सिञ्चित पत्तलोंको उनके हवाले कर देते हैं। अच्छे अच्छे फल तो आप खा गये और सड़े गले या काने काने पकड़ा देते हैं उन बेचारोंको, इसपर भी कहते हो हम आर्ष पद्धतिकी रक्षा करते हैं। बलिहारी इस दयाकी, धर्मधुरन्धरताकी।

शूद्र भी धर्म धारण कर व्रती हो सकता है-

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं। चतुर्गतिके जीव सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते हैं। भव्यादि विशेषणोंसे सम्पन्न होना चाहिये। धर्म वस्तु स्वतःसिद्ध है और प्रत्येक जीवमें है। विरोधी कारणके पृथक् होने पर उसका स्वयं विकास होता है, उसका न कोई हर्ता है और न दाता ही है। इस पंचम कालमें उसका पूर्ण विकास नहीं होता। चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो। गृहस्थमें सभी मनुष्योंमे व्यवहार धर्मका उदय हो सकता है, यह नियम नहीं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही उसे धारण करे, शूद्र उससे वञ्चित रहे।

गिद्ध पक्षी मुनिके चरणोंमें लेट गया, उसके पूर्वभव मुनिने वर्णन किये। सीता रामचन्द्रजीको उसकी रक्षाका भार सुपुर्द किया। जहां गृद्ध पक्षी व्रती हो जावे वहां शूद्र शुद्ध नहीं हो सकते, यह बुद्धिमें नहीं आता। यदि शूद्र इन कार्यों को त्याग देवे और मद्यादि खाना छोड़ देवे तब वह व्रती हो सकता है। मन्दिर आनेकी स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छापर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लिये जैसे आप उनका बहिष्कार करते हैं वैसे ही कल्पना करो यदि वे कार्मिक कृत्यके लिये आपका बहिष्कार कर दें—असहयोग कर दें तब आप क्या करेंगे? सुनार गहना न बनावे, लुहार लोहेका काम न करे, बढ़ई हल न बनावे, लोधी कुरमी आदि खेती न करें, धोबी वस्त्र प्रक्षालन छोड़ दे, चर्मकार मृत पशु न हटावे, बसोरिन सौरीका काम न करे, भङ्गिन शौचगृह शुद्ध न करे तब संसारमें उस दिन हाहाकार मच जावेगा, हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जैसे भयङ्कर रोगोंका आक्रमण हो जावेगा। अतः बुद्धिसे काम लेना चाहिये उनके साथ मानवताका व्यवहार करना चाहिये जिससे वह भी सुमार्गपर आ जावें। उनके बालक भी यदि अध्ययन करें तब आपके बालकोंके सदृश वे भी बी. ए. एम.ए. बैरिष्टर हो सकते हैं, संस्कृत पढ़ें तब आचार्य हो सकते हैं। फिर जिस तरह आप पञ्च पाप त्यागकर व्रती बनते हैं यदि वे भी पञ्चपाप त्याग दें तब उन्हें व्रती होनेसे कौन रोक सकता है? सागरमें एक भङ्गी प्रतिदिन शास्त्र श्रवण करने आता था, संसारसे भयभीत भी होता था, मांसादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमें कभी चूक करना उसे सह्य न था।

धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं–

आप लोगोंने यह समझ रखा है कि जो हम व्यवस्था करें वही धर्म है! धर्मका सम्बन्ध आत्म द्रव्यसे है, न कि शरीरसे। हाँ, यह अवश्य है जबतक आत्मा असंज्ञी रहता है तब तक वह सम्यग्दर्शनका पात्र नहीं होता। संज्ञी होनेसे ही धर्मका पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारों गतिवाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव इस अनन्त संसारके नाशक सम्यग्दर्शनका पात्र हो सकता है। वहां पर यह नहीं लिखा कि अस्पर्श शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि देव या नरकके नारकी इसके पात्र नहीं होते। अबलाको भ्रममें डालकर हर एकको बावला और अपनेको बुद्धिमान् कह देना तो बुद्धिमत्ता नहीं। आप जानते हैं संसारमें जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुखका कारण धर्म है। उसका अन्तरङ्ग साधन तो निजमें है; फिर भी उसके विकासके लिये बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है। जैसे घटोत्पत्ति मृत्तिकासे ही होती है फिर भी कुम्भकारादि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता अपेक्षित है। एवं अन्तरङ्ग साधन तो आत्मामें ही है फिर भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देवगुरु शास्त्र है। आप लोगोंने यहां तक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं कि अस्पर्श शूद्रोंको मन्दिर आनेका भी अधिकार नहीं। उनके आनेसे मन्दिरमें अनेक प्रकारके विघ्न होनेकी सम्भावना है। यदि शान्त भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मन्दिर आनेसे किसी प्रकारकी हानि नहीं अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि यह पाप संसारमें होते हैं यदि वे अस्पर्श शूद्र जैनधर्मको अङ्गीकार करेंगे तब यह पाप अनायास ही कम हो जावेंगे। आपके वशमें ऐसा भले ही न हो परन्तु यदि दैवात्, हो जाय तब आप क्या करेंगे? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर दुलाते देखा गया, ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है क्या वह असत्य है? अथवा कथा छोड़ो, श्री समन्तभद्रस्वामीने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें लिखा है–

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥"

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है। जैसे आत्मा अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्व करनेमें समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमें भी समर्थ है। आप विद्वान् हैं, जो आपकी इच्छा हो सो लिखिए परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यदि कोई अन्य व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करे तो उसे रोकनेकी चेष्टा करें। आपकी दया तो प्रसिद्ध है, रहे, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप प्रमाण यह लिखिये कि अस्पर्श शूद्रोंको चरणानुयोग की आज्ञासे धर्म करनेका

कितना अधिकार है ? तब हम लोगोंका यह वाद जो आपको अरुचिकर है शान्त हो जावेगा। श्री आचार्य महाराज ही से इस व्यवस्थाको पूछकर लिख दीजिये जिसमें व्यर्थ विवाद न हो। केवल समालोचनासे काम न चलेगा। शूद्रोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा जावे सप्रमाण ही लिखा जावे। कोई शक्ति नहीं जो किसीके विचारोंका घात कर सके। निमित्त तो अपना काम करेगा, उपादान भी अपना ही कार्य करेगा।

बन्दरघुड़कीसे काम न चलेगा—

एक महाशयने जैनमित्रमें तो यहाँ तक लिखा है कि तुम्हारा क्षुल्लक पद छीन लिया जावेगा। मानो आपके ही हाथमें धर्मकी सत्ता ही आ गई है। यह संजद पद नहीं जो मनचाहा हटवा दिया, शास्त्रपरम्परा या आगमके विच्छेद करनेमें जरा भी भय नहीं किया! जैनदर्शनके सम्पादकने जो लिखा उसका प्रत्युत्तर देना मेरे ज्ञानका विषय नहीं किन्तु मैं तो आगमज्ञ न हूँ और न हो सकता हूं। परन्तु मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्यपर्यायवाला जो भी चाहे, चाहे वह किसी भी जातिका हो कल्याण मार्गका पथिक हो सकता है। शूद्र भी सदाचारका पात्र है। हां, यह अन्य बात है कि आप लोगों द्वारा जो मन्दिर निर्माण किये गये हैं उनमें मत आने दें, और शासक वर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बना दे परन्तु जो सिद्धक्षेत्र हैं, कोई अधिकार आपको नहीं जो उन्हें वहां आनेसे आप रोक सकें। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझकर उन्हे न पढ़ने दें परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयोंमें तो आप उन्हें शास्त्र, पुस्तक, समाचार पत्रादि पढ़नेसे मना नहीं कर सकते। यदि वह पञ्चपाप छोड़ देवें और रागादि रहित आत्माको पूज्य मानें, भगवान् अरहन्तका स्मरण करें, तब क्या आप उन्हें ऐसा करनेसे रोक सकते हैं ? जो इच्छा हो सो करो।

मुझे जो यह धमकी दी कि पीछी कमण्डलु छीन लेंगे। कौन डरता है। सर्वानुयायी मिलकर चर्या भी बन्द कर दो परन्तु जैन धर्ममें हमारी जो अटल श्रद्धा है उसे आप नहीं छीन सकते। मेरा हृदय आपकी इस बन्दरघुड़कीसे नहीं डरता। मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास है कि अस्पर्श शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोंका पात्र है। मन्दिर आने जानेकी बात आप जानो या जो आचार्य महाराज कहें उसे मानो। यदि अस्पर्शताका सम्बन्ध शरीरसे है तब रहे इसमें आत्माकी क्या हानि है ? और यदि अस्पर्शताका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पर्श कहाँ रहा ? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीसे जो मिथ्या गुण स्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तम वर्ण

का क्यों न हो यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्य-क्त्वी है तब उत्तम आत्मा है। यह नियम शूद्रादि चारों वर्णों पर लागू है। परन्तु व्यवहारमें मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोंसे है अतः जिनके आचरण शुभ हैं वही उत्तम कहलाते हैं, जिनके आचरण मलिन हैं वे जघन्य हैं। तब एक उत्तम कुल वाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागम-नादि पाप करता है तो उसे भी पापी जीव मानो और उसे मन्दिर मत आने दो क्योंकि शुभाचरणसे पतित अस्पर्श और असदाचारी है। यदि शूद्र सदा-चारी है तब वह आपके मतसे व आचार्य महाराजकी आज्ञासे भगवान्के दर्शनका अधिकारी भले ही न हो परन्तु पञ्चम गुणस्थानवाला अवश्य है। पापत्यागकी ही महिमा है। केवल उत्तम कुलमें जन्म लेनेसे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है कदाचारसे नहीं। नीच कुल भी मलिनाचारसे कलंकित है। उसमें मांस खाते हैं, मृत पशुओंको ले जाते हैं, आपके शौचगृह साफ करते हैं, इसीसे आप उन्हें अस्पर्श कहते हैं। सच पूछा जाय तो आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें अस्पर्श बनाने वाले आप ही है। इन कामोंसे यदि वे परे हो जावें तो क्या आप उन्हें तब भी अस्पर्श मानते जावेंगे? बुद्धिमें नहीं आता। आज एक भङ्गी यदि ईसाई हो जाता है और वह पढ़ लिख कर डाक्टर हो जाता है तब आप लोग उसकी दवा गट गट पीते हैं या नहीं? फिर क्यों उससे स्पर्श कराते हैं? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनतासे है। आज जो व्यक्ति पापकर्ममें रत है वे यदि किसी आचार्य महाराजके सान्निध्यको पाकर पापोंका त्याग कर देवें तब क्या वे धर्मात्मा नहीं हो सकते? द्रव्यानुयोगमें ऐसे बहुतसे दृष्टान्त हैं। व्याघ्रीने सुकोशल स्वामीके उदरको विदारण किया और वहीं श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधि मरण कर स्वर्गलक्ष्मीकी भोक्ता हुई। अतः किसीको धर्मसेवनसे वंचित रखनेके उपाय रचकर पापके भागी मत बनो।

हम तो सरल मनुष्य हैं, आपकी जो इच्छा हो सो कह लो। आप लोग ही धर्मके ज्ञाता और आचरण करने वाले रहो, परन्तु ऐसा अभिमान मत करो कि हमारे सिवाय दूसरे कुछ नहीं जानते। पीछी कमण्डलु छीन लेंगे इससे हमें भय ही क्या है? क्योंकि यह तो बाह्य चिह्न हैं इनके कार्य तो कोमल वस्त्र और अन्य पात्रसे भी हो सकते हैं। पुस्तक छीननेका आदेश नहीं है, इससे प्रतीत होता है कि पुस्तक ज्ञानका उपकरण है वह आत्मोन्नतिमें सहायक है, उसपर किसीका अधिकार नहीं। तथा आपने लिखा कि आचार्य महाराजसे प्रायश्चित्त लेकर पदकी रक्षा करो। यह समझमें नहीं आता जब हमें अपने आचरणमें

आत्मविश्वास है, चरित्रकी निर्दोषतामें श्रद्धा है तब प्रायश्चित्तकी बात सोचना भी अनावश्यक प्रतीत होता है। जैनदर्शनकी महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्माको कषाय भावोंसे रक्षित रखता है। यदि कषाय वृत्ति न गई तब बाहर मुनि आचार्य कुछ भी बनने का प्रयत्न करें सब एक नाटकीय स्वांग धारण करना ही है। वह दूसरोंका तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिये पत्थरकी नौका सदृश है।

क्षुब्ध

मृदु गान कहाँ से मैं गाऊँ

अन्तर ज्वाला, बाहर ज्वाला
जब हाथ लिया हँस विषप्याला
झंझा, चपला, घन गर्जन में
मुस्कान कहाँ से मैं लाऊँ

मृदु गान कहाँ से मैं गाऊँ

चीत्कार भरा अवनी अम्बर
हुँकार भरा मानस मन्दिर
रणघोष भरे संसृति में
मृदु गान कहाँ से मैं लाऊँ

मृ गान कहाँ से मैं गाऊँ

रक्त पिपासा की हलचल में
शोणितपेयी हिंसक दल में
अंकित अधरों पर वज्र रेख
कल गान कहाँ से मैं लाऊँ

मृदु गान कहाँ से मैं गाऊँ

मानव रत दानव क्रीडा मे;
नतमस्तक अन्तर व्रीड़ा मे—
म्रियमाण अतल में मानवता
नव प्राण कहाँ से मैं लाऊँ

मृदु गान कहाँ गाऊँ

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

साहित्य समीक्षा

तन्दुल वेयालिय पइण्णं

अनुवादक—पण्डित अम्बिकादत्त ओझा व्याकरणाचार्य
सम्पादक व संशोधक—पं० बेचरचन्द्र बांठिया 'वीरपुत्र'
प्रकाशक—श्वे० साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर। पत्राकार। मूल्य १॥)

इस प्रकीर्णकमें मनुष्यकी दस दशाओंका विचार किया गया है। गर्भसे लेकर मरण पर्यन्तकी शरीरकी दशाएँ दिखाकर उसकी निस्सारता दिखाई है। आगे हाय विषयदोष दिखाते समय स्त्रियोंको उन सभी नरकपद्धति, सर्पिणी, व्याघ्री, विषवल्ली आदि कुप्रसिद्ध विशेषणोंसे याद किया है। रागोत्पत्तिमें भीतरकी वासना मुख्य कारण होती है, बाह्यनिमित्तकी बजाय अन्तः रतिभावको ही अधिक दोष दिया जाता तो स्त्रियोंको यह आक्षेप करनेका अवसर न मिलता कि—लेखनी पुरुषोंके हाथमें है जो लिख लें। अन्तमें विजय-वैराग्यके द्वारा धर्मधारणकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि—"धर्म ही त्राण है, शरण है, गति है और प्रतिष्ठा है। धर्मका ही अच्छी तरह आचरण करनेसे अजर अमर स्थान प्राप्त होता है।"

गाथाओंका पदच्छेद ठीक नहीं हुआ। अनुवाद अच्छा है। ग्रन्थोंको अब तो पुस्तकाकार छपाना चाहिए जिसमें प्रचारमें सुविधा होगी।

भारत जैन महामंडल वर्धा के तीन प्रकाशन

१ महावीर वाणी

सपादक—पं० बेचरदास दोशी। पृ० २५०। मूल्य १॥)

महावीर वाणीके इस द्वितीय संस्करणको गाथाओंका मूल स्थल निर्देश करके तथा गाथानुक्रम जोड़कर परिपूर्ण बना दिया है। यह जैन गीता है। इसमें भगवान् महावीरके उपदेशोंका विषयवार संग्रह है। अनुवाद प्रावाहिक प्रसन्न और सरल है। अधिकाधिक प्रचार करने योग्य है।

२ मणिभद्र [उपन्यास]

मूल लेखक-श्री 'सुशील'। अनु० स्व० उदयलाल काशलीवाल।
पृ० १७५। मूल्य १।)

इस उपन्यासमें लेखकने महावीरकालीन सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरणका हृदयग्राही चित्रण किया है। इसके बीच महावीरकी सुमंहत अहिंसा महामानवताका आभास मिलता है। उनका हृदय जन-जनको स्पर्श करता था। कथानायक मणिभद्रका चरित्र अत्यन्त धीर और उदात्त चित्रित हुआ है। मणिभद्र और रत्नमालाके आत्मविवाहका आदर्श उन लोगोंके लिए एक चेतावनी भी है जो आज सपत्नीक रहकर भी साधुपदकी प्रतिष्ठा चाहते हैं तथा सन्ततिके भारसे बचनेके लिए कृत्रिम उपायोंसे साधु संस्थाको सन्ततिनिरोध की सलाह देने में भी नहीं चूकेंगे।

उपन्यास अपनेमें परिपूर्ण और युगनिर्देशक है।

३ प्यारे राजा बेटा (दूसरा भाग)

लेखक-श्री रिषभदास राका। सम्पादक-'श्री जमनालालजी जैन'
पृ० ११०। मूल्य दस आना।

प्रथम भागकी तरह यह भाग भी बहुत सुन्दर और सरल सरस बन पड़ा है। ऋषभदेव आदि सांस्कृतिक महापुरुषोंके जीवन बालकोंके चरित्रगठनमें सहायक है

आशा है इसके कई भाग प्रकाशित होकर बालसाहित्यकी श्रीसमृद्धि करेंगे।

निश्चयतः ऐसी पुस्तकोंको मिडिल स्कूलके पाठ्यक्रममें स्थान मिलना चाहिये।

जीवन साहित्य [विश्वशान्ति अंक

'सर्वोदय अंक' के बाद जीवन साहित्य का यह अंक अहिंसक विचारधाराकी प्राणप्रतिष्ठाके लिए दूसरा कदम है। सम्पादक इस विचारधाराके निष्ठावान् विद्वान् हैं उनने जो सामग्री प्रस्तुत की है उससे न केवल भारतवर्षमें ही किन्तु विश्वमें शान्ति स्थापनका मार्ग प्रशस्त होगा।

कल्याण [हिन्दू संस्कृति अंक]

गीताप्रेसका कल्याण अपने दलदार रंगबिरंगे बृहत् विशेषांकोंके लिए प्रसिद्ध है। हिन्दू संस्कृतिके विभिन्न अंगोंपर इसमें अधिकारी विद्वानोंके लेख हैं। पर, इतने बड़े विशेषांकसे हम यह समझनेमें असमर्थ ही रहे कि 'हिन्दूकी

परिभाषा क्या है ?' इसमें सन्त विनोबाभावे कृत दो श्लोक हिन्दूकी परिभाषा करनेवाले उद्धृत हैं। जिनमें 'वर्णाश्रमनिष्ठावान्' और 'श्रुतिमातृक' विशेषण दिया है। स्वामी करपात्री जी भी हिन्दूकी परिभाषामें 'वेदानुयायी' विशेषण रखना चाहते हैं। इसके बिना उन्हें हिन्दुओंकी श्रद्धाका कोई आधार नहीं दिखता। महन्त दिग्विजय सिंहजीने सावरकर कृत उस परिभाषा का समर्थन किया है जिसमें यह बताया है कि जिनकी पुण्यभू और पितृभू यह–सिन्धुसे इस ओरकी–भारतभूमि है वे हिन्दू हैं। इस परिभाषामें जैन, बौद्ध और सिखों-को भी हिन्दुओं में शामिल किया गया है। जब कि विनोबाजी और करपात्री जी कृत परिभाषामें ये हिन्दू शब्दकी सीमामें नहीं आते।

जैन बौद्ध आदि इसी भारतभूमिके आदिवासी हैं यहीं उनके तीर्थंकर आदि हुए, यहीं तीर्थ हैं, यहींकी रक्त परम्परासे वे अनुबद्ध हैं। आर्य सन्तान हैं। अतः ऐसी सर्वग्राहक परिभाषा हमें हिन्दू शब्दकी करनी ही होगी जिससे आर्यमात्रका संग्रह हो। अथवा इस विदेशियों द्वारा मुस्लिमेतर या पारसीतर के लिए प्रयुक्त 'हिन्दू' शब्द को छोड़कर प्राचीन 'आर्य' शब्दका ही प्रचलन करना होगा।

हमें सम्पादकजीका दृष्टिकोण इस सम्बन्धमें जाननेको नहीं मिला।

वैसे अंक संग्रहणीय और पठनीय है।

कल्पना–(द्वैमासिक)

सम्पादक–डा० आर्येन्द्र शर्मा आदि। प्रकाशक–एम. डी. चतुर्वेदी ८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद दक्षिण। मूल्य १२)

इस सांस्कृतिक द्वैमासिकके दो अंक हमारे सामने हैं। इसमें उदारदृष्टि और व्यापक अवलोकन पूर्वक लेख सामग्री संचित की गई है। सम्प्रदायवादकी परिधिसे परे विशुद्ध साहित्योपासनाकी दिशामें हुआ यह प्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है। हम सहयोगीकी संवृद्धिकामना करते हैं और प्रत्येक संस्कारी व्यक्तिसे इसके पढ़नेकी सिफारिश करते हैं। –म० कु०

सम्पादकीय

वर्ष समाप्ति—

इस अंकके साथ 'ज्ञानोदय' का प्रथम वर्ष पूर्ण हो जाता है। हमने प्रथम अंकमें जो अपनी नीति घोषित की थी उसका यथासंभव निरपेक्ष भावसे पालन किया।

'हरिजन मन्दिर प्रवेश' 'जैन हिन्दू हैं' 'षट्खंडागमसे संयद पदका उच्छेद' आदि जीवन्त प्रकरणों पर 'ज्ञानोदय' ने सांस्कृतिक दृष्टिसे विचार किया और अपनी दृष्टि निर्भयतासे स्पष्ट की है।

हमारे सामने व्यक्ति विशेषका प्रश्न नहीं है, हम तो अखंड जैन संस्कृति और समाजका उद्बोधन और मार्गदर्शन चाहते हैं। हमें अपने प्रयत्नोंमें न केवल जैन विचारकोंका ही समर्थन मिला है, किंतु देशके मनीषियों, जननेताओं और साहित्यकारोंका भी हार्दिक अनुमोदन मिला है। सबने 'ज्ञानोदय'की सम भूमिकाको पसन्द किया है।

सांस्कृतिक मतभेद दिखाने वाले कुछ लेखोंमें कहीं कुछ भाषाभेद होने पर भी उसका अभिप्राय किसी सम्प्रदायके ऊपर आक्षेप करनेका कदापि नहीं रहा है। हम तो भगवान् महावीरके अहिंसक मार्गका उसी पद्धतिसे निरूपण करना चाहते हैं।

हरिजन मन्दिर प्रवेश आदि प्रकरणोंमें हमने अपने सहयोगी पत्रोंसे जो निवेदन किये हमें प्रसन्नता है कि बहुतोंने उन पर यथोचित ध्यान दिया।

'जैन हिंदू' वाला प्रश्न हमारे अस्तित्वका प्रश्न है। हमारी जन्मभूमि, धर्मभूमि, संस्कृतिभूमि और आत्मभूमि यह 'हिन्द' या भारत है। हम इसे एक क्षणको भी नहीं भूल सकते। हमारे आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीके नामसे इस देशका नाम भारत पड़ा। इसकी चप्पे-चप्पे भूमिकी रक्षाके लिए हमारे पूर्वजोंने अपना सर्वस्व होमा है। हम उसी समुदाय या समाजके अङ्ग हैं जिसे पहिले आर्य कहते थे और जिसे विदेशियोंने 'हिन्दू' कहा। हम हरिजन मन्दिर प्रवेश जैसे हमारी सांस्कृतिक प्रश्नसे न तो बचना चाहते हैं और न इससे बचने वालोंके द्वारा निकाले गये 'जैन हिंदू नहीं हैं' इस आत्मघाती नारेका एक क्षणको भी समर्थन कर सकते हैं। यह वह नारा

है जो हमारी दशा उन यहूदियों जैसी बना देगा जिनकी विश्वमें अपनी कहनेकी कोई भूमि नहीं है, कोई देश नहीं है। जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है हम वैदिक नहीं यह सर्वस्वीकृत सत्य है और स्वयं सनातनी भी जानते और मानते हैं।

यदि 'हिन्दू' शब्द भ्रान्तिसे धर्मविशेषमें प्रचलित हो गया है तो हमें चाहिये कि हम उसकी देशपरक व्याख्यापर ज़ोर दें। हर्ष है कि देशके नेताओं और मनीषियोंका ध्यान इस ओर गया है और वे इसको खुले तौरसे कह रहे और लिख रहे हैं। मान लीजिये कि यदि कोई संघटन अपनेको 'मानवसंघ' कहता है और भ्रान्तिसे उसमें 'मानव' शब्द संकुचित रूपसे प्रचलित भी हो जाता है तो क्या इतरजन 'अमानव' हो जायेंगे। जैसे कि आर्य समाजने 'आर्य' शब्द अपने संघटनमें प्रचलित किया है तो हम अपनेको 'अनार्य' तो नहीं कहेंगे ? हमें इन शब्दोंकी व्याप्ति और व्याख्याएँ करके उनकी संकुचितता हटा देनी चाहिए। हमें सहस्रों वर्ष बाद जो अहिंसक मानवयुग मिला है और जिसकी जनतन्त्रप्रधान साधनाके लिए भारत सरकार कृतसंकल्प है, उसके हम पुनीत कार्यमें अपना सांस्कृतिक प्रश्न मानकर पूरा पूरा हाथ बटाना चाहिए और ऐसी समाज व्यवस्थाके निर्माणकी भूमिका तैयार करनी है जिसमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य मूलक जनतन्त्र पनपे। इसीकी पुनीत आध्यात्मिक धारामें व्यक्तिकी मुक्ति और विश्वकी शान्ति मुसकुरा रही है। 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' के मूल आधार अहिंसा और अपरिग्रह है। बिना इनके व्यक्तिस्वातन्त्र्य निष्प्राण होगा। श्रमण संस्कृतिने सदासे जन्मना वर्णव्यवस्था और तन्मूलक संरक्षणोंको हिंसा संघर्ष और युद्धकी जड़ बताया। उसने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें प्राणिमात्रके अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको स्वीकार किया है। सारी व्यावहारिक व्यवस्थाओंका निर्वाह अहिंसा सहयोग और समन्वयसे चलानेका पुण्यमय मार्ग बताया।

'सूत्रोच्छेद प्रकरण' से जैन समाजका आगमभक्त बच्चा-बच्चा दुःखी है। जो पत्र अभी तक चुप थे, उसने भी इसका विरोध किया है। हमने पहिलेसे कहा है कि हमारे सामने आगम संस्कृति और मूलपरम्परा मुख्य है, व्यक्ति विशेष नहीं। "वीरवाणीमें अनेक प्रतिष्ठित लोगोंके पत्र प्रकाशित हुए हैं जिनसे उन लोगोंका आगमरक्षाका हार्दिक भाव प्रकट होता है। वे आचार्य महाराजके दुराग्रहसे दुःखी हैं। विश्वस्तसूत्रसे ज्ञात हुआ है कि जिन पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यके नामका उपयोग संजदपद निष्कासन वाले वक्तव्यमें किया गया है उनने स्पष्ट शब्दोंमें आचार्य महाराजको लिख दिया है कि पर्याप्तजीका द्रव्यकी अर्थ भी हो, पर प्राचीन मूल प्रतिमें उपलब्ध 'संजद' पदके हटानेमें हमारी सम्मति नहीं है, उसके हटानेका किसीको अधिकार नहीं।

हर्ष है कि विद्वत्परिषद्‌ने अभी ही इटावामें 'संजद' पदकी आवश्यकता एवं आर्षाविरोधिताके अपने पुराने निर्णयको दृढ़ताके साथ दुहराया है और संजद पदके निष्कासनसे अपनी असहमति जाहिर की है।

ज्ञानोदयका यही सम्बल है, यही ज्योति है जिसे वह जगत्‌के अभयके लिए लेकर बढ़ रहा है। वह भय, आशा, स्नेह और लोभसे परे रहकर अपनी ज्योति जगाये जायगा। इसके पीछे जिन महानुभावोंकी संस्कृतिनिष्ठा उदारता और जनहित भावना है उनका नाम लेकर हम उनका विज्ञापन नहीं करना चाहते। और न उनके इस सांस्कृतिक अनुष्ठानमें दिखावा लाना चाहते हैं। उनकी इस सद्‌वृत्तिके बल पर ही 'ज्ञानोदय' ने इस वर्ष करीब पाँच हजार रुपयेका घाटा उठाकर भी मार्गदर्शनका लघु प्रयत्न किया है। उनकी सदा यही भावना रही कि ज्ञानोदय जन जन तक पहुँचे।

हम अपने लेखक बन्धुओंके सहयोगको नहीं भूल सकते। वे ही ज्ञानोदयकी आत्मा हैं।

अग्रिम वर्ष हम 'ज्ञानोदय'की सम्पादकीय टिप्पणियोंका क्षेत्र व्यापक कर रहे हैं उसमें देशकी सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार प्रकट किये जायेंगे। जैन समाजकी समस्याओंके लिए 'समाज चर्चा' स्तम्भ स्वतन्त्र रहेगा। आगे धर्म और संस्कृतिके प्रत्येक अंग पर अधिकारी विद्वानोंके लेख रहेंगे तथा जैन संस्कृतिके सम्बन्धमें जो भ्रांति और भूलें हैं उनका तटस्थ भावसे परिमार्जन करनेका प्रयत्न किया जायगा। आशा है हमें ज्ञानोदय के पाठकोंसे इस सांस्कृतिक अनुष्ठानमें पूरा-पूरा सहयोग मिलेगा। वे इसके प्रचारमें यथाशक्ति हाथ बटायेंगे। वे स्वयं पढ़ें, मित्रोंको पढ़ायें और पढ़कर वाचनालय, स्वाध्यायशाला आदिमें रख दें ताकि इसका अधिकाधिक क्षेत्र बढ़े। हमारा यह मोटा सिद्धान्त है—'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्' अर्थात् मिलजुल कर कार्य होता है अकेलेसे नहीं।

खेदजनक अवसान—

ता० ११ मईको बी. ए. फाइनल क्लासके छात्र श्री रामप्रसाद जैनका गंगामें अचानक डूबनेसे प्राणान्त हो गया। बहुत प्रयत्न करनेके बाद दूसरे दिन निर्जीव देह मिली। रामप्रसादजी होनहार, परोपकारी, स्वाभिमानी और सुधारक विचारके युवक थे। इनसे समाजको बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, पर कालकी गति विचित्र है। हम मृतात्माकी सद्गतिकी प्रार्थना करते हैं और उनके दुःखी माता पिता आदि कुटुम्बी जनोंसे समवेदना प्रकट करते हैं।

आजीवन समाजसेवी का अकाल निधन—

श्रद्धेय पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीसे समाजका बच्चा-बच्चा सुपरिचित है। वे न केवल सिद्धान्तशास्त्री व्याख्यानवाचस्पति गुरुकुलसंस्थापक सरपंच या उद्भट विद्वान् ही थे किन्तु भीतर बाहर मनुष्य थे और मानवताके उपासक थे। मानवता उनमें तदात्म हो रही थी। उच्च विचार, सादा रहन सहन, निश्छल व्यवहार, गुणानुराग परसमादर, युगदर्शन, परानुकम्पा आदि सद्गुण उनके जीवनसहचारी थे जो एक साथ अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनका सारा जीवन संघर्षोंमें बीता। त्याग और सेवा भावसे उनने ४० वर्ष तक अनवरत समाज सेवामें बिताया। पर, हायरी समाज, तेरे एक अनन्य सेवकको अभाव और अपमानका विषपान करते-करते अपनी इहलीला अकालमें समाप्त कर देनी पड़ी। परिग्रहके नीचे मनुष्यताका किस बुरी तरह निर्दलन होता है और परिग्रह ग्रहसे ग्रस्त व्यक्ति कैसे क्षणभरमें अपनी आँखें फेर लेता है इसके लिए पं० जी का अन्तिम जीवन दु:खद उदाहरण है। उनके ये अन्तिम शब्द-"अपमानका विष पी पीकर दिन काट रहा हूँ" युग युगतक परिग्रह ग्रहकी लीलाका स्मरण दिलाते रहेंगे।

पं०जीका प्रत्येक क्षण जैन समाजके लिए था। बुंदेलखण्डकी पचासों पचायतोंका उनकी अपनी सूझसे निबटारा हुआ।

उनने सुधारकोंकी ओर सदा आशाभरी स्नेहदृष्टिसे देखा। उनकी पैनीदृष्टि समयकी सूक्ष्म पर परिवर्तनशील गतिविधिको पहिचानती थी। 'सब सुधारोंकी जड़ शिक्षा है' इस मूल तत्त्वको समझकर उनने 'शिक्षा प्रसार' का सीधा कार्यक्रम पकड़ा था। दस्सापूजाधिकारके सम्बन्धमें कुरवाईकी परवार सभा का निर्णय उनके प्रभाव और समन्वय बुद्धिका अप्रतिम निदर्शन है। कविकी यह उक्ति उनपर शत प्रतिशत चरितार्थ है—

> वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
> करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

जिनका मुख प्रसन्नतासे खिला हुआ है, हृदयमें दयाका स्रोत है, बोलीमें अमृत घुला है और कर्तव्य परोपकार है वे सज्जन किसके वन्दनीय नहीं हैं?

ज्ञानोदय परिवार अत्यन्त दुःखी और क्षुब्ध हृदयसे उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और अब भी समाजका शेष कर्तव्यकी ओर ध्यान दिलाता हुआ भाई सुमति आदि परिवारके प्रति हार्दिक समवेदना सहानुभूति और सहकर्तव्यताका भाव प्रकट करता है।

FAMOUS JAIN LITERATURE

The Key of Knowledge	RS 10-0-0
Addenda and Corrigenda to Key of Knowledge	1-0-0
The Confluence of opposites (Ordinary Binding)	2-8-0
Supplement to Confluence of opposites	1-0-0
Addenda Et Corrigenda to Confluence of opposites	1-0-0
What is Jainism	2-0-0
Jaina Culture (Cloth Binding)	1-8-0
Jaina Culture (Ordinary Binding)	1-0-0
Scientific Interpretation of Christianity (Ordinary Binding)	3-0-0
Lifting of the Veil I (Cloth Binding)	3-6-0
Jainism and World Problems (Cloth Binding)	3-6-0
" " " " (Ordinary Binding)	2-6-0
Change of Heart (Cloth Binding)	3-8-0
" " (Ordinary Binding)	2-8-0
Gems of Islam	2-0-0
The Mystery of Revelation	0-12-0
Jaina Logic	0-4-0
Jaina Penance	2-0-0
Jainism, Christianity and Science	3-6-0
Jain Puja	0-8-0
Jainism not Atheism	3-0-0
Atma Dharma	0-8-0
House Holder's Dharma	0-12-0
Practical Dharma	1-8-0
Sannyas Dharma	1-8-0
Introduction to true Religion	0-4-0
Omniscience	0-8-0
Where the shoe pinches	0-4-0
Christianity from the Hindu eye	0-8-0
Rishabha Deo-The Founder of Jainism (Cloth Binding)	4-8-0
Rishabh Deo The Founder of Jainism (Ordinary Binding)	3-6-0
Faith, Knowledge and Conduct	1-8-0
The Origin of the Swetamber Sect	0-4-0
Appreciation and Reviews	1-0-0
Gommatsar (Jiva Kand)	5-8-0
Gommatsar (Karma Kand I)	4-8-0
Gommatsar (Karma Kand II)	5-8-0
Some Historical Jain King & Heroes	1-0-0
Eight Present Asta Pahuda	1-0-0
Jain Gemlogy	4-8-0

Raghubeer Singh, Secretary
Parishad Publishing House,
Dariba, Delhi,

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।